संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव

(Influence of Indian Philosophy on Sanskrit Poetics)

लेखिका
डॉ० अमरजीत कौर

आमुख :
डॉ० रसिक विहारी जोशी
संस्कृत विभागाध्यक्ष
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी
(भारत)

प्रकाशक :

१. **भारतीय विद्या प्रकाशन**
१ यू० बी० बैंग्लो रोड,
जवाहरनगर, दिल्ली-११०००७

२. पो० बा० १०८, कचौड़ी गली
वाराणसी-२२१००१

मार्च, १९७

मूल्य : ४०-००

मुद्रक : रघु कंपोजिंग ऐजेंसी द्वारा प्रगति प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

समर्पण

परम सम्माननीय माता जी
श्रीमती बलवंत कौर सोबती
को
सादर सविनय समर्पित

आमुख

दर्शन और धर्म दोनों ही भारतीय जीवन तथा विचार के दो मूल बिन्दु कहे जा सकते हैं। इन्हीं दोनों बिन्दुओं पर भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति और भारतीय शास्त्रचिन्तन का चक्र घूमता रहा है। भारतीय दर्शन ही चिन्तन की पराकाष्ठा का केन्द्र है। यही कारण है कि मीमांसकों की यज्ञविद्या से वेदान्तियों की ब्रह्मविद्या का, वैशेषिकों के पदार्थविज्ञान से नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा का और सांख्य के सत्कार्यवाद तथा गुणसिद्धान्त का प्रभाव भारतीय जीवन, विचार, विद्या, कला तथा शास्त्रों पर देखा जा सकता है। भारतीय अलंकार शास्त्र भी भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों से प्रभावित रहा है। इसलिए भारतीय अलंकारशास्त्र को भली-भाँति हृदयङ्गम करने के लिए भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अलंकार शास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि के तन्तु संस्कृत के मूल ग्रन्थों तथा टीका-टिप्पणियों में बिखरे पड़े हैं। संस्कृत टीका-टिप्पणियों में बिखरी हुई इस सूत्र-सामग्री का आधार तत्तद्दर्शन शास्त्र के मूल ग्रन्थों से ढूँढकर आधुनिक पाठक के सामने रखना स्वयं अपने में एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। उदाहरण के लिए शब्द की वृत्तियों को समझने के लिए वाक्य-वादी मीमांसकों के वाक्य तथा तात्पर्य के सिद्धान्त का ज्ञान, अनुमान में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले नैयायिकप्रवर आचार्य महिमभट्ट आदि आलंकारिकों के हृदय को समझने के लिए नैयायिकों की अनुमानप्रक्रिया तथा न्यायशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का सम्यक् बोध, संकेतग्रह के प्रसंग में पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के सिद्धान्त का, जातिविशिष्टव्यक्तिवादी नैयायिकों की धारणा का, जातिवादी मीमांसक के सिद्धान्त का तथा बौद्धों के अपोहवाद का परिचय अपेक्षित है। रससिद्धान्त की व्याख्या के लिए सांख्यशास्त्र के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त, शैवदर्शन तथा वेदान्तदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अपेक्षित है। व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र आदि के ज्ञान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि कोई पाठक अभिनवगुप्त की प्रतिभा का साक्षात्कार करना चाहे और यदि वह शिवाद्वैत दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र से अच्छी तरह परिचित नहीं है, तो उसका प्रयास उस बालक के समान कहा जाएगा जो चन्द्रबिम्ब को अपने नन्हे हाथों से पकड़ना चाहता है। अलंकारशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं की पृष्ठभूमि की एकत्र अध्ययनसामग्री का अभाव बहुत समय से अलंकारशास्त्र के प्रेमी पाठकों को खल रहा था। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि

प्रिय डॉ० श्रीमती अमरजीत कौर का यह प्रस्तुत दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध इस अभाव की पूर्ति करने में अच्छी तरह सफल हुआ है। मैं इस विद्वतापूर्ण तथा प्रामाणिक पुस्तक का स्वागत करता हूँ।

श्रीमती अमरजीत कौर ने रससिद्धान्त के दार्शनिक आधार के प्रसंग में भट्ट लोल्लट की मीमांसादर्शनविषयिणी पृष्ठभूमि को, शंकुक की न्यायपरम्परा को, भट्टनायक की दृष्टि पर सांख्य तथा वेदान्त के प्रभाव को और अभिनवगुप्त के शैवदर्शन के आधार को बहुत सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। संवित्, प्रकटता, अनुमिति तथा भुक्ति आदि पारिभाषिक शब्दों का तत्तद्दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में प्रामाणिक स्पष्टीकरण हुआ है। काव्य की आत्मा के विवेचन के सम्बन्ध में वेदान्त तथा शैव दर्शन के आधार द्वारा काव्य की जीवात्मा रस और रसात्मा औचित्य को विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अंशाशिभाव-सम्बन्ध द्वारा और अलंकारनिरूपण के सन्दर्भ में सांख्य के आश्रयाश्रयिभावसम्बन्ध तथा न्याय के साध्यसाधनभावसम्बन्ध द्वारा अर्थान्तरन्यास तथा अनुमान आदि अलंकारों को स्पष्ट किया गया है। वेदान्त की पृष्ठभूमि में असंगति और मीमांसा की पृष्ठभूमि में अर्थापत्ति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। परिशिष्ट में अलंकारशास्त्र में प्रयुक्त कतिपय दार्शनिक शब्दों की व्याख्या दी गई है। यदि यह शब्दावली कुछ अधिक विस्तृत होती और तत्तच्छास्त्र के उद्धरणों के साथ कुछ अधिक स्पष्ट की जाती तो जिज्ञासु पाठकों को अधिक लाभ होता। तथापि अलंकारशास्त्र के विद्वान् पाठकों के लिए इस पुस्तक की उपादेयता में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं प्रिय डॉ० श्रीमती अमरजीत कौर को इस उत्तम शोधप्रबन्ध के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ।

रसिक विहारी जोशी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

१६ मार्च, १९७९

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति की, किसी समयविशेष की परिकल्पना मात्र नहीं है; अपितु नाना शास्त्रों से तथ्यों को ग्रहण कर ही साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का समारम्भ हुआ है। फलस्वरूप राजशेखर ने साहित्य को 'सकलविद्यास्थानैकायतनः' तथा 'चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः' कहा है। जिसका अभिप्राय यह है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति नामक चार विद्याओं का अस्तित्व साहित्य के पूर्व था। फलतः साहित्य की शास्त्रीय विवेचना पर पूर्वविद्यमान विद्याओं का प्रभाव होना अत्यन्त स्वाभाविक है, और ऐसा हुआ भी है।

यद्यपि साहित्यशास्त्र को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने में लगभग सभी शास्त्रों का न्यूनाधिक रूप में योग रहा है तथापि व्याकरण एवं दर्शनशास्त्र ने ही साहित्यशास्त्र को सर्वाधिक प्रभावित किया है। व्याकरण ने साहित्य को शब्दार्थात्मक शरीर रूप किया है तो दर्शन उसकी आत्मा के विश्लेषण में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है। अतः साहित्यशास्त्रियों ने बिना किसी ननु नच के साहित्य के शास्त्रीय विश्लेषण में दार्शनिक पद्धति को ग्रहण किया।

साहित्यशास्त्र के सम्यक् अध्ययन के लिए दर्शनशास्त्र का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि दोनों की चिन्तन-प्रक्रिया, विवेच्य विषयों एवं सिद्धान्तों में अनेकत्र पर्याप्त साम्य है। काव्यशास्त्र स्वयं में पूर्ण शास्त्र नहीं है। दर्शनशास्त्र एवं व्याकरणशास्त्र के सहयोग से ही इसमें पूर्णता आई है। साहित्यशास्त्र दर्शन के प्रभाव के कारण ही 'शास्त्र' के गौरवपूर्ण पद का अधिकारी बना है। यदि दार्शनिक चिन्तन को काव्यशास्त्र से पृथक् कर दिया जाए तो काव्यशास्त्र निष्प्राण शरीर के समान हो जाएगा, साथ ही इसके सिद्धान्तादि सम्भवतः अत्यधिक सन्देहास्पद बन जाएँगे। दर्शन के ज्ञानाभाव में काव्यशास्त्र अपूर्ण ही नहीं, भ्रान्तिपूर्ण भी हो जाएगा। अतः काव्यशास्त्र पर दर्शन के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए ही प्रस्तुत शोध विषय का चयन किया गया।

प्रस्तुत विषय को चयन करने का कारण इस ओर अपेक्षित अनुसन्धान का अभाव भी है। यद्यपि रसनिष्पत्ति, लक्षणाशक्ति इत्यादि काव्यशास्त्र के कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों पर काव्यशास्त्र के मूर्धन्य विद्वानों ने वैदुष्यपूर्ण एवं गम्भीर ग्रन्थ एवं लेख लिखे हैं तथापि काव्यशास्त्र के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषय जैसे अलंकार, काव्यात्मनिर्धारण, पारिभाषिक शब्दावली इत्यादि दार्शनिक प्रभाव की दृष्टि से लगभग अनुन्मीलित ही हैं। साथ ही उपलब्ध तथ्यों के पुनरनुशीलन की सम्भावना तो शोध में

होती ही है जो अनुसन्धान का एक अत्यावश्यक अंग है। अतः कुछ अनुद्घाटित तथ्यों को प्रकाश में लाने का विनम्र प्रयास प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में किया गया है।

पाँच अध्यायों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि दर्शन की लगभग सभी आस्तिक एवं नास्तिक विधाओं ने काव्यशास्त्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। काव्यशास्त्र के रससिद्धान्त को दर्शनशास्त्र ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। रसविवेचन पर दर्शन का प्रभाव काफी सीमा तक साक्षात् एवं अक्षुण्ण है। इसका कारण दर्शन की भाँति साहित्य में भी अनुभूति की प्रधानता होना है। दर्शन पराकोटिक अनुभूति को लक्ष्य के रूप में निरूपित करता है तथा इसे परमपुरुषार्थ की संज्ञा देता है। साहित्य में यही प्रवृति रसानुभूति के रूप में विद्यमान है जिसे 'सकलप्रयोजन-मौलिभूत' कहा गया है। काव्यशास्त्रियों ने रससम्बन्धी समस्त समस्याओं का समाधान दार्शनिक पृष्ठभूमि पर किया है।

संस्कृत साहित्यशास्त्रियों ने काव्य को भी प्रतीकात्मक रूप से व्यक्ति के रूप में पुरुष कहा है। जिस प्रकार व्यक्ति के विभिन्न अंग-प्रत्यंग होते हैं, उसी प्रकार काव्य के अंग-प्रत्यंग होने का भी विधान उपलब्ध होता है। व्यक्ति की आत्मा होने की भाँति काव्य की आत्मा होने की समस्या का ऊहापोह भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में सुतरां उपलब्ध होता है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन की सभी विधाओं ने अपने मूल सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए विविध तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूप से 'आत्मा' की संज्ञा दी है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र में भी साहित्य के तत् तत् आचार्यों ने साहित्य के गुणालंकार रसादि तत्त्वों में से किसी एक के काव्यात्मा होने का विधान किया है। दार्शनिक आलंकारिकों ने काव्य के सारतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व के अन्वेषण में दर्शन की भाँति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की पद्धति को अपनाया। दर्शन जगत् जिस प्रकार वेदान्त पर, उसी प्रकार काव्य जगत् भी रस एवं ध्वनि पर पहुँचकर विश्रान्त हुआ।

शब्दशक्तिविवेचन पूर्वमीमांसा के शाबरभाष्य एवं कुमारिल के तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। कालान्तर में न्यायशास्त्र तथा व्याकरण में इसके सम्बन्ध में विशेष ऊहापोह हुआ है। साहित्यशास्त्र का शब्दशक्तिविवेचन प्रायः इन्हीं तीन स्रोतों से अपनी सामग्री ग्रहण करता है। शब्दशक्तियों में अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य पर दर्शन का साक्षात् प्रभाव लक्षित होता है। मीमांसक और नैयायिक शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्तियों को मुख्य रूप से स्वीकार करते हैं। भाट्ट मीमांसकों ने ही मुख्यतः तात्पर्य शक्ति पर विचार प्रकट किए हैं। शब्द की व्यंजना शक्ति का प्रायः सभी दार्शनिकों ने खण्डन किया है। काव्यशास्त्र में व्यंजनाके अतिरिक्त शेष सभी शब्दशक्तियों का दार्शनिक आधार पर विस्तृत ऊहापोह उपलब्ध होता है।

काव्य का सौन्दर्यवर्धक तत्त्व 'अलंकार' भी दर्शन के प्रभाव से शून्य न रह सका। अलंकार वर्गीकरण के आधार ही दर्शन के 'अन्वयव्यतिरेकभाव' एवं 'आश्रयाश्रयिभाव' हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव तथा ऐतिह्य को साहित्य-शास्त्र में अलंकार माना गया है। दर्शन में इनकी गणना 'प्रमाण' में हुई हैं। काव्यशास्त्र में वर्णित काव्यलिंग, जाति, दृष्टान्त, उदाहरण आदि अलंकारों का आधार न्यायदर्शन

तथा स्वभावोक्ति, विभावना आदि अलंकारों का आधार बौद्धदर्शन प्रतीत होता है। विशेषोक्ति तथा सूक्ष्म अलंकार वैशेषिक दर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। पूर्वमीमांसा के सुप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'परिसंख्या' को भी काव्यशास्त्रियों ने अलंकार माना है। अलंकारों पर दर्शन का शाब्दिक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार से प्रभाव पड़ा है।

दर्शन ने न केवल साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को ही प्रभावित किया अपितु दर्शन से इसे बहुत से पारिभाषिक शब्द भी उपलब्ध हुए हैं। साहित्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इसमें प्रयुक्त सभी प्रमुख पारिभाषिक पदों—रस, गुण, शक्ति, अनुमान आदि का प्रयोग दर्शनशास्त्र से हुआ है। साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का दर्शन से कहीं तो केवल शाब्दिक साम्य है कहीं शाब्दिक और आर्थिक दोनों प्रकार का। पारिभाषिक पदावली के अतिरिक्त वहाँ अनेकत्र भावादि की पुष्टि के लिए दर्शनविशेष की शब्दावली को ठीक उसी रूप में उद्धृत कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की कृतियों में दर्शन से प्रभावित अभिव्यक्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

इन सबके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त, भोज, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति ऐसे ग्रन्थकार हुए हैं जो मूलतः दार्शनिक थे और जिन्होंने दर्शन की किसी न किसी विधा को लेकर ग्रन्थ भी रचे थे। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिनकी दार्शनिक क्षेत्र में अपनी एक मान्यता है, जिसका आधार लेकर उन्होंने आलंकारिक सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, महिमभट्ट आदि का नाम लिया जा सकता है।

भारतीय व्याकरणदर्शन का भी अलंकारशास्त्र के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग है। साहित्यशास्त्र को 'व्याकरणस्य पुच्छम्' कहा जाना भी इस बात का सूचक है कि साहित्यशास्त्रियों ने ध्वनि, संकेतग्रह इत्यादि अनेक विवादास्पद एवं महत्त्वपूर्ण विषयों में व्याकरणदर्शन की पर्याप्त सहायता ली है। साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणादि शास्त्रों का साहित्य में उपयोग इसलिए भी किया क्योंकि व्याकरण, न्याय और मीमांसा तीनों शास्त्र साहित्य के लिए परम उपादेय हैं। उसी को सफल कवि और समीक्षक कहा गया है जो इन तीनों शास्त्रों का काव्य में उपयोग करना जानता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ध्वनि सिद्धान्त का आधार भारतीय व्याकरणदर्शन का स्फोट सिद्धान्त है। व्यंजना नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए काव्यशास्त्रियों ने अथक परिश्रम किया उस व्यापार की उद्भावना वैयाकरणों ने पहले से ही कर ली थी। काव्यशास्त्र के अत्यधिक विवादास्पद विषय संकेतग्रह निर्धारण में नव्य आलंकारिकों को वैयाकरणों की उपाधि में संकेतग्रह मानने वाला मत ही अभिप्रेत है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्यशास्त्र दार्शनिक सिद्धान्तों, विषयों एवं तत्त्वों से ओतप्रोत है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दार्शनिक तत्त्व एवं प्रक्रिया दोनों ही साहित्यशास्त्र में एकदम उसी रूप में स्वीकृत नहीं हुए अपितु यहाँ उसे साहित्य की परम्परा के अनुकूल ही एक नवीन रूप प्राप्त हुआ है। साहित्यशास्त्रियों ने अपनी

आवश्यकतानुरूप दर्शन के सिद्धान्तों, तत्त्वों आदि का साहित्य में परिवर्तन, परिवर्धन एवं परिमार्जन तो किया ही साथ ही अनेकत्र अनपेक्षित का तिरस्कार एवं खण्डन भी किया है।

इस ग्रन्थ को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने में श्रद्धेय डॉ० रसिक विहारी जोशी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन अवर्णनीय है। उनके शुभाशीर्वादों एवं विद्वत्तापूर्ण परामर्शों से ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत रूप को प्राप्त हुआ है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर एवं भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की मैं अत्यधिक आभारी हूँ जिनसे विषय सामग्री के आकलन से लेकर अन्तिम स्थापन तक अनेक उपयोगी सुझावों से बराबर सहायता मिलती रही।

अपनी निर्देशिका डॉ० (श्रीमती) भक्ति श्रीवास्तव एवं सहनिर्देशक माननीय डॉ० रविशंकर नागर की कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मार्ग निर्देशन तो किया ही साथ ही शोध कार्य करने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया।

माननीय डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी, रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की मैं सर्वाधिक आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा, सुनिर्देशन, शुभकामनाओं एवं समय-समय पर बहुमूल्य सुझावों के फलस्वरूप ही प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्ण हो सका है।

विभिन्न पुस्तकालयों से विशेषकर दिल्ली विश्वविद्यालय स्थित पुस्तकालय से विभिन्न पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की सहायता प्राप्त हुई है इसके लिए उनके अध्यक्षों विशेषकर उप-पुस्तकालयाध्यक्ष श्री शेरसिंह एवं सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री जंगबहादुर खन्ना के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। मैं उन विद्वानों की भी अत्यधिक आभारी हूँ जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों एवं लेखों से मुझे प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है।

मैं डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयपुर की विशेष आभारी हूँ जिनके विद्वत्तापूर्ण परामर्श अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

अपने परिवार के सदस्यों, विशेषकर अपने पति श्री वीरेन्द्र सिंह की अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने हर सम्भव सहायता प्रदान कर कार्य करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया।

भारतीय विद्या प्रकाशन के व्यवस्थापक श्री के० सी० जैन के प्रति अपना आभार प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ जिनके अथक प्रयत्न एवं प्रकाशन योग्य अमूल्य सुझावों के बिना यह ग्रन्थ प्रस्तुत रूप को प्राप्त न हो सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुद्रण यथासंभव शुद्ध बन पड़ा है। इसके लिए मुद्रणकर्ता धन्यवादार्ह हैं।

बी, ६/७४८, लोधी कालोनी, नई दिल्ली-११०००३

—अमरजीत कौर

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

द्वितीय अध्याय

रस-विवेचन का दार्शनिक आधार

तृतीय अध्याय

काव्यात्ममीमांसा का दार्शनिक आधार

चतुर्थ अध्याय

शब्दशक्तिमीमांसा का दार्शनिक आधार

प्रथम अध्याय

साहित्यशास्त्र एवं दर्शन

१. साहित्य, जीवन एवं दर्शन

(क) साहित्य एवं जीवन

साहित्य एवं जीवन दोनों ही संस्कृत वाङ्मय रूपी वृक्ष के दो फल हैं। दोनों का सम्बन्ध साक्षात् या परोक्ष रूप से जीवन से है। सत्य का ज्ञाता, सौन्दर्य का स्रष्टा एवं रहस्य का वक्ता होने से कवि अपनी सूक्ष्म मानसिक अनुभूति द्वारा किसी भी शब्द को नवीन अर्थ प्रदान कर उसे अपने प्रयोग द्वारा नवीन भाव का प्रतीक बना सकता है। वह जीवन का एक आदर्श प्रस्तुत कर जीवन की कला को अपनी कृतियों द्वारा विकसित करता है। काव्य मानव-जीवन की सर्वोपरि आनन्दमय एवं सर्वसुलभ वस्तु है। इसलिए काव्य को संसार विष वृक्ष का मधुर फल कहा गया है।

साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है। मानव की वह मानसिक प्रतिक्रिया साहित्य है जिसका आधार बुद्धि न होकर हृदय होता है। यही मानसिक चिन्तन मानव को भावनामयी साहित्यिक भाषा में बोलने की प्रेरणा देता है। संक्षेप में, साहित्य का विषय और वस्तु ही जीवन है जिसमें मनुष्य बुद्धि की अपेक्षा हृदय को प्रधानता देता है।

(ख) दर्शन एवं जीवन

भारतीय इतिहास में संसार के मूल तत्त्व अथवा परमतत्त्व का साक्षात्कार कराने वाले विषय को दर्शनशास्त्र कहा गया है। किन्तु इस मूल तत्त्व की व्याख्या एवं प्रतिष्ठा विविध दार्शनिकों ने अपनी रीति से की है। दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना है। वह केवल ऐन्द्रिय अनुभव से सन्तुष्ट न हो गम्भीर बौद्धिक प्रक्रिया एवं तात्त्विक-विश्लेषण द्वारा जीवन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराता है। मानव का बौद्धिक-चिन्तन उसे दर्शनशास्त्र की तर्कमयी भाषा में बोलने की शक्ति प्रदान करता है।

यथार्थता का परिचय दर्शन की प्रमुख देन है। वह हमें वास्तविकता का ज्ञान कराता है। जगत् क्या है? ब्रह्म के इस जगत् में हमारे स्थान आदि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन दर्शन ही कराता है। जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश दे वह हमें प्रेरित करता है कि हमें निर्लोभ, सन्तुष्ट, शान्त, अहिंसक तथा विचारशील होना चाहिए। दर्शन ही हमारी दैनिक

वृत्तियों में परिवर्तन कर हमें मोक्षप्राप्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचने का संकेत देता है। दर्शन हमारी चित्तवृत्तियों को संयत करता है। जीवन के लिए वह एक विशाल क्षेत्र प्रस्तुत करता है—जिससे हमारी एषणाएँ अलौकिक बनती हैं। दर्शन जीवन को इस दृश्यलोक की सीमा से ऊपर उठा उसे व्यर्थ भटकने से बचाता है। यहाँ आकर उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ एवं शक्तियाँ विकसित हो उठती हैं। वृत्तियों की इस विशालता में उसके सुख-दुःख विलीन हो जाते हैं।

दर्शन और जीवन के सम्बन्ध के विषय में डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है, "दर्शन-शास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित और कर्म के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। इसका स्थान सबसे आगे है जहाँ से यह इस जगत् के परिवर्तनों तथा आकस्मिक घटनाओं के अन्दर से हमें उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शन-पद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अन्तर नहीं रहता। विचारकों के विचार उनके जीवन-काल की प्रक्रिया में विकास को प्राप्त होते हैं। हमें केवलमात्र उनके प्रति आदर भाव रखना ही न सीखना चाहिए अपितु उनके भाव को भी ग्रहण करना चाहिए। वसिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतंजलि, बादरायण और जैमिनि, शंकर और रामानुज, ये नाम केवल इतिहासकारों के विषय में न होकर ऐसे व्यक्तियों के नाम हैं जिनका व्यक्तित्व आदर्शरूप था। उनके लिए दर्शनशास्त्र संसार सम्बन्धी ऐसा विचार है जो चिन्तन और अनुभव के ऊपर आधारित है। विचार के अपने विषय में जब पूरा अन्त तक विचार किया जाता है तब वह ऐसे धर्म का रूप धारण कर लेता है जिसे जीवन में धारण किया जाता है तथा जीवन की सबसे श्रेष्ठ कसौटी पर कस लिया जाता है। दार्शनिक अनुशासन एक प्रकार से धार्मिक व्यवसाय की पूर्ति भी है।"[1] संक्षेप में, दर्शन का कार्य जीवन से सम्बन्धित सभी आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों का तात्त्विक विश्लेषण करना है।

(ग) साहित्य का दर्शन—साहित्यशास्त्र

साहित्य और दर्शन दोनों का ही जीवन से सम्बन्ध होने से साहित्य का भी दर्शन से निकट का सम्बन्ध होने लगता है। जीवन की भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही काव्यशास्त्र का विवेच्य है। सम्पूर्ण वाङ्मय में काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र का कार्य काव्य सम्बन्धित विषयों का विस्तृत एवं आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। साधारण शब्दों में काव्य के अंगों-उपांगों अथवा स्वरूप और समस्याओं का विवेचन करने वाले शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' कहा जा सकता है। किन्तु शास्त्र होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि भावात्मक न हो तार्किक होती है। तर्क के आधार पर ही वह साहित्य के विविध पक्षों का विवेचन एवं प्रकाशन कर नियम निर्धारित करता है। काव्यशास्त्र जीवन से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है जबकि इसका विवेच्य साहित्य, जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है। अतएव दर्शन के

---

१. डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग २, पृ० ७७०-७१

माध्यम से काव्यशास्त्र भी जीवन से सम्बद्ध हो जाता है।

दर्शन की प्रक्रिया स्पष्ट, व्यवस्थित एवं निर्दोष है। काव्यशास्त्र को भी अपने सभी विषयों की सफलता एवं निर्दोषता के लिए दर्शन की प्रक्रिया अपनानी पड़ी। इसलिए काव्यशास्त्र को भी दार्शनिक आधार की अपेक्षा होने से अनेकत्र काव्यशास्त्रियों ने दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों की प्रविधि एवं शैली को ग्रहण किया है।

किसी कृति का सम्यक् अनुशीलन, अध्ययन, लेखक के वर्ण्य-विषय से परिचय, उसकी मूल भावनाओं का अनुसंधान करना, रसास्वाद करके तदनन्तर उसके प्रभाव का उल्लेख करना उस कृति का सम्यक् दर्शन कहलाता है। किसी साहित्यिक रचना के सब अंगों पर दृष्टि डालना, उसके गुण-दोषों का भली-भाँति विश्लेषण करना, स्वयं उसका आनन्द लेकर दूसरों को भी उसकी व्याख्या द्वारा आनन्दमग्न कर देना, दोषों का विवेचन कर भावी रचनाओं में उन दोषों की सम्भावना को दूर करना—ये सब कार्य रचना के सम्यक् दर्शन के अन्तर्गत ही आते हैं। साहित्यशास्त्र में दर्शन की बुद्धिवृत्ति की प्रधानता लक्षित होने पर भी इसे अपने विवेच्य विषय साहित्य की हृदयवृत्ति अर्थात् भाव की भी अपेक्षा है। दोनों के समुचित सहयोग से ही काव्यशास्त्र अपने कार्य में प्रवृत्त हो सफलता प्राप्त करता है।

दर्शनशास्त्र की भाँति काव्यशास्त्र भी एक शास्त्र है। 'शासनात् शास्त्रं' कहलाता है किन्तु काव्य के 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' होने के कारण 'शास्त्र' की यह व्युत्पत्ति उचित नहीं प्रतीत होती। वेदान्त में 'शंसनात् शास्त्रं' कहा गया है। अतः शासनात्मक अर्थात् विधिप्रतिषेध रहित होने पर भी किसी गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ 'शास्त्र' नाम से कहे जाते हैं। इस व्युत्पत्ति को लेकर 'अलंकार शास्त्र', 'काव्यशास्त्र' आदि नामों में 'शास्त्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। काव्यशास्त्र में दर्शन के प्रवेश से ही शास्त्रत्व, चिन्तन तथा शास्त्रीयता आई है। दर्शन के प्रभाव से पूर्व काव्य के लक्षण-ग्रन्थों को शास्त्र के रूप में अंगीकार नहीं किया जाता था और उनके अध्ययन का भी विशेष महत्त्व नहीं था परन्तु जिस समय से दार्शनिक विचारधारा ने काव्य के परीक्षक गन्थों में प्रवेश किया उसी समय से काव्य के लक्षण ग्रन्थ 'शास्त्र' के रूप में स्वीकार किए जाने लगे तथा न्याय, वेदान्तादि के समान काव्य को भी 'शास्त्र' का रूप प्राप्त हुआ। अभिनवगुप्त, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति दार्शनिक थे, इसलिए अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि को लेकर काव्य की परीक्षा के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और उन्होंने वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर दी।

२. साहित्यशास्त्र को दर्शन की अपेक्षा

काव्यशास्त्र के एक स्वतन्त्रशास्त्र के रूप में विकसित होने से बहुत पूर्व भारतीय दर्शन अपनी सभी प्रमुख विधाओं सहित विकसित एवं फलीभूत हो चुका था। इस गहन एवं विस्तृत शास्त्र में सौन्दर्यशास्त्र आदि विषयों का भी परिपूर्ण शिक्षण-परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के विस्तृत एवं आलोचनात्मक विवेचन को देखते हुए इसे रसशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है।

(क) उभयगत हेतु साम्य

कवि और उसकी कृति-काव्य के सम्बन्ध में बड़ी उच्च धारणाएँ उपलब्ध होती हैं। मुण्डकोपनिषद्[१] में कवि तत्त्वद्रष्टा ऋषि के पर्याय रूप में आया है।

ऋषियों की कवि प्रतिभा का उल्लेख 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इस युक्ति से भी स्पष्ट है। अतः कवि ऋषियों के समान तत्त्व और रहस्य को प्रत्यक्ष या अनुभव करने वाला होता है। कवि प्रतिभा के द्वारा काव्य का अजस्र स्रोत बहता है। उसी दुर्लभ शक्ति की प्रशंसा अग्नि-पुराण में की गई है।[२]

आचार्य भामह,[३] राजशेखर[४] तथा हेमचन्द्र[५] प्रतिभा को ही काव्य का मूल कारण मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्योत्पत्ति के अन्य दो प्रमुख कारणों व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के ही संस्कारक कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं।[६] किन्तु प्रतिभा के भी वे पुनः दो कारण मानते हैं—एक तो किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भाग्य विशेष और दूसरा विलक्षण व्युत्पत्ति और पुनः-पुनः काव्य-निर्माण का अभ्यास।[७]

मम्मट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को ही काव्य का कारण मानते हैं।[८] आचार्य दण्डी[९] भी इसी मत के समर्थक हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है कि

---

१. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।
—मु० उप० १।२।१

२. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥ —अ० पु० ३३६।३

३. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। —का० अ० १।५

४. सा केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः। —का० मी०, चतुर्थ अ०, पृ० २३

५. प्रतिभास्य हेतुः।
प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा। अस्य काव्यस्य इदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति वक्ष्यते। —का० अनु०, पृ० ५-६

६. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरुपं वा खण्डम्। —र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्रथम आनन, पृ० २५

७. तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्।
क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ।
—वही, पृ० २६

८. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। —का० प्र० १।३

९. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः। —का० आ० १।१०३

व्युत्पत्ति के लिए लोक, शास्त्र तथा काव्यों में निपुणता प्राप्त करनी चाहिए।[१] इसी प्रसंग में आचार्य भरत ने[२] भी कहा है ऐसा कोई ज्ञान उपादेय आत्मज्ञान नहीं है, न कोई शिल्प है, न कोई विद्या ही है, न यह कला है, न कोई योग है और न कोई व्यापार ही है जो नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता। आचार्य भामह का भी काव्य-वस्तु के विषय में ऐसा ही सिद्धान्त है।[३] कवि का उत्तरदायित्व सचमुच महान् है। अतः यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इस हेतु त्रय से प्रज्ञावान् ऋषिकल्प कवि के द्वारा जायमान लोकोत्तर वर्णन रूप कविकर्म काव्य में अपूर्व चमत्कार अथवा परमाह्लाद को प्रदान करता है।

जगत् के स्रष्टा प्रजापति की भाँति कवि भी अपने काव्य-संसार का प्रजापति है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है[४] कि अपार काव्य-संसार का निर्माता कवि है। उस कवि प्रजापति की इच्छा और रुचि के अनुसार ही इस काव्य संसार की रचना होती है। किन्तु आचार्य मम्मट उससे भी एक पग आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से भी उत्कृष्ट माना है[५] और इस प्रकार कवि के सामर्थ्य को ब्रह्मा के सामर्थ्य से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृतनियमसहिता है और कवि की नियतिकृतनियमरहिता है।

कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता 'ह्लादैकमयत्व' है। ब्रह्मा की सृष्टि में सुख-दुःख दोनों का अस्तित्व है। कोई भी प्राणी संसार में रहकर दुःख से नहीं बच सकता। परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्व नहीं है। यहाँ तो रुदन एवं क्रन्दन से भरा हुआ करुण रस भी आनन्दानुभूति स्वरूप है।[६]

कवि की सृष्टि की अन्य विशेषता 'अनन्य परतन्त्राम्' है। ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति

---

१. लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः। —का० अनु० पृ० ७
लोके स्थावरजङ्गमात्मके लोकवृत्ते च, शास्त्रेषु शब्दछन्दोनुशासनाभिधानकोषश्रुति-स्मृतिपुराणेतिहासागमतर्कनाट्यार्थकामयोगादिग्रन्थेषु, काव्येषु महाकविप्रणितेषु निपुणत्वं तत्त्ववेदित्वं व्युत्पत्तिः लोकादिनिपुणता। —वही, पृ० ७-१३

२. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ —ना० शा० १।११६

३. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥ का० अ० ५।४

४. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
—ध्व० लो० पृ० ३१२, अ० पु० ३३८।१०

५. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रताम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधाती भारती कवेर्जयति॥ —का० प्र० १।१

६. करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ —सा० द० ३।४

अथवा समवायि-असमवायि-निमित्तकारण आदि के बिना सम्भव न होने के कारण इनके अधीन है परन्तु कवि की सृष्टि के लिए कवि की अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती है।

कवि सृष्टि की अन्तिम विशेषता यह है कि यहाँ नव रस हैं जबकि ब्रह्मा की सृष्टि में केवल छह ही रस हैं। कवि प्रजापति कहलाने का अधिकारी क्यों है? इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त[1] ने तथा आचार्य कुन्तक[2] ने भी अपने ग्रन्थों में प्रकाश डाला है। काव्य में उपलब्ध अपूर्वता तथा सरसता कवि सहृदयाख्य सरस्वती तत्त्व रूप 'काव्य' में एकान्ततः प्राप्त होती है जबकि दृश्यमान जगत् में इन्हें एकान्ततः प्राप्त करना कदाचित् किसी के लिए भी सम्भव नहीं।

(ख) उभयगत प्रयोजन साम्य

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। काव्य-कला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। वह अत्यन्त आनन्द का स्रोत है। कवि इसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा कर दर्शक तथा पाठक को एवं स्वयं को आनन्दमय बनाने का प्रयत्न करता है। यही अभिव्यंजना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है।

दर्शन के तत्त्ववेत्ताओं की प्रत्यक्ष दृष्टि बताती है कि आनन्द के अनुभव के लिए ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। ब्रह्मा की भाँति उसकी सृष्टि भी एक अखण्ड रस की धारा से आप्लावित है। रस प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिए प्राणी व्यग्र हो इधर-उधर भटकता है। जब इसे आनन्द का कुछ अनुभव होता है तो वह अपनी उपलब्ध तृप्ति को बाहर प्रकट करता है। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को साहित्य की भाषा में साधारणीकरण की संज्ञा दी गई है।

उपनिषदों में बताया गया है कि धर्म, अर्थ और काम ही इस जगत् में समग्र मानव प्रवृत्तियों के निदान माने गए हैं। इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त मोक्ष नामक सर्वोपरि पुरुषार्थ भी है जिसकी प्राप्ति आत्म-ज्ञान के द्वारा होती है। इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल है। 'आत्मानं विजानीहि' आत्मा की यही साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत

---

१. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥ —लोचन, ध्व० लो० १।१

२. तदेवं सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः शोभातिशयविधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते येन नूतनच्छायामनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधान-प्रवणेन निजावभासोद्भासिततत्स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरि-स्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवयः।
—व० जी० ३।२ की वृत्ति, पृ० ३०६

है। काव्य की प्रेरणा का यही मूल आधार भी है।

आचार्य भामह[1] तथा आचार्य कुन्तक[2] ने चतुवर्गफल प्राप्ति को काव्यशास्त्र का प्रयोजन बताते हुए इसे आनन्द को उत्पन्न करने वाला बताया है। यद्यपि दर्शन का सर्वप्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही है किन्तु मोक्ष प्राप्ति का दार्शनिक मार्ग अति दुष्कर है जबकि काव्य धर्मार्थ काम तथा मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग है।[3] रस के आस्वादन से समुत्पन्न और अन्य सब परिज्ञान से शून्य परमानन्द की अनुभूति काव्याध्ययन तथा श्रवण के साथ ही हो जाती है। यह दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है। अन्तर यह है कि जहाँ काव्य क्षणिक सुख को प्रदान करता है वहाँ दर्शन चिरकालीन मोक्ष प्राप्ति को।

काव्य से उद्भूत आनन्द ब्रह्मास्वाद सदृश है और यही आनन्द काव्य का सर्वोपरि आनन्द है। इसका आनन्द कवि एवं सहृदय दोनों ही ले सकते हैं।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'विवेक' में इस बात को स्पष्ट कहा है कि यश और व्युत्पत्ति (ज्ञान) काव्यशास्त्र के उद्देश्य होने पर भी आनन्द ही साध्य एवं मुख्य फल है।[5]

धनंजय के मत में न तो धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ, न कलाओं में वैलक्षण्य, न ही कीर्ति काव्य का मुख्य फल है। उनके मत में तो स्वयंवेद्य परमानन्द रूप रसास्वाद ही काव्य का प्रधान फल है, व्युत्पत्ति तो आनुषंगिकी है।[6]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि कवि मिथ्या आनन्द का सृजन करता है

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥ —का० अ० १.२

२. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ —व० जी० १.५

३. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ —व० जी० १.३

४. सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः।
इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनम्।
—काव्यानुशासन, पृ० ३

५. यशोव्युत्पत्तिफलत्वेऽपि पर्यन्ते सर्वत्रानन्दस्यैव साध्यत्वात्। तथाहि। कवेस्तावतकीर्त्यापि प्रीतिरेव संपाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतृणां व्युत्पत्तिर्यद्यप्यस्ति, तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यस्ति (न्ति) कं मुख्यफलमिति। —वही, विवेक

६. आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु
व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधु—
स्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥ —द० रू० १.६

अथवा सत्य आनन्द का। दार्शनिक आदि तो प्रत्यक्ष, अनुमानादि रूप प्रमाण मात्र का सहारा लेकर तत्त्व निर्णय के लिए प्रवृत्त होते हैं। अनका सुख यद्यपि अनुभव सिद्ध होता है किन्तु रस की अपेक्षा से सुतरां विजातीय होता है किन्तु कवि को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती, उसका तत्त्व-दर्शन तो प्रतिभा जन्य ही होता है। अपरोक्ष अनुभूति से वह जो देखता है उसी को प्रकट करता है। वह तत्त्वदर्शी महान् ऋषि है किन्तु उसके तत्त्व-दर्शन तथा तत्त्व-प्रकाश का मार्ग स्वतन्त्र होता है। यही बात आचार्य भट्टतोत ने कही है।[1]

आचार्य रुद्रट ने बताया है कि पुरुषार्थ की पूर्ण एवं विशद सिद्धि चाहने वाले तथा निपुण एवं सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता कवियों को ही निर्दोष काव्य की रचना में प्रवृत्त होना चाहिए।[2] क्योंकि ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान का यही फल है कि विस्तृत व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि ग्रन्थों के द्वारा वाणी का संस्कार हो और उस वाणी का फल है सुन्दरकाव्य।[3]

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र जैसे आत्मचिन्तन में लगा हुआ है और आत्मा के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा परम पुरुषार्थ मोक्ष रूप परमानन्द की प्राप्ति को अपना चरम लक्ष्य मानता है। उसी प्रकार काव्य-शास्त्र भी आनन्दप्राप्ति को अपना साध्य मानता है। जैसे एक परमतत्त्व के अन्वेषण में लगे रहने पर भी दर्शनशास्त्र के विभिन्न प्रस्थान और सम्प्रदाय हो गए, वैसे ही एक परम-तत्त्व के अनुसंधान में लगे साहित्यशास्त्र में भी विभिन्न प्रस्थान और सम्प्रदाय प्रचलित हुए।

(ग) उभयगत विवेच्य विषय एवं तत्त्व साम्य

व्याकरण के पश्चात् काव्यशास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियों अभिधा, लक्षणा, व्यंजना का संकेत न्यायशास्त्र के शब्द विवेचन में उपलब्ध होता है। सबसे अधिक स्पष्ट है वेदान्तियों का मोक्ष सिद्धान्त का प्रभाव। इनके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध बुद्ध

---

१. नानृषिः कविरित्युक्तमृषि किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनिः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥ —काव्यानुशासन, पृ० ३७९

२. तदिति पुरुषार्थसिद्धि साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्त्तव्यं काव्यममलमलम्॥ —का० अलं० १।१२

३. फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः।
यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः॥ —वही, १।१३

रूप है जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु यह वास्तव में संकेतमात्र है। काव्यशास्त्र पर दर्शन की लगभग सभी विधाओं का प्रभाव पड़ा है जिनका दिङ्‌मात्र निदर्शन यहाँ दिया जाता है।

३. काव्यशास्त्र एवं भारतीय दर्शन की कतिपय विधायें

(क) काव्यशास्त्र एवं तर्कशास्त्र

तर्कशास्त्र प्रमाणशास्त्र है। इसमें शब्द की अमिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इन वृत्तियों का काव्यशास्त्र विस्तृत विवेचन करता है। अमिधा-वृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचार, त्रिवेणिका तथा वृत्तिवार्तिक आदि में तो इन पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। ध्वनि के प्रसंग में तर्कशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। व्यक्ति-विवेककार प्रभृति आचार्यों ने ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार शब्दालंकार और अर्थालंकार विभाजन में तर्कशास्त्र प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लिया गया है। उदाहरण, काव्यलिंग, दृष्टान्त आदि अलंकारों के ज्ञान के लिए भी तर्कशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है।

(ख) काव्यशास्त्र एवं पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा शब्द, वाक्य आदि का विवेचन करने वाला शास्त्र है। मम्मट का 'संकेतितः········जातिरेव वा' तथा 'तात्पर्यार्थोपि केषुचित्' एवं साहित्यदर्पण का 'तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वियबोधने' मीमांसकों के अभिहितान्वयबोध से उद्‌धृत हैं और न्यायरत्नमाला में कुमारिल तथा पार्थसारथिमिश्र ने इसका समर्थन किया है। प्रसंगवशात् मीमांसा के कतिपय न्याय 'यत् परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादि बलीयस्त्वबोधक नियम तथा 'अर्थापत्ति' का उल्लेख भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है। काव्यप्रकाश में उद्‌धृत 'फलं संवित्ति प्रकटता वा' भी प्रभाकर तथा कुमारिल के सिद्धान्तों का स्मरण दिलाते हैं। आलंकारिकों का 'परिसंख्या' अलंकार भी पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द हैं।

(ग) काव्यशास्त्र एवं अन्य दर्शन

संकेतग्रह के अवसर पर बौद्धों के अपोहवाद का, रस पर सांख्य के सत्कार्यवाद का, ध्वनि तथा रस-सिद्धान्त पर शैव तथा वेदान्तदर्शन का भी स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। काव्यलक्षण का भी शैव दृष्टि से निरुपण उपलब्ध होता है।[1] इनके अतिरिक्त काव्य में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दावली तथा दर्शन से साम्य रखने वाले विचार भी काव्यशास्त्र में बहुलता से देखने को मिलते हैं।

---

१. देखिए, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार-मीमांसा, पृ० ९०-९४

(घ) काव्यशास्त्र एवं अन्य शास्त्र

संस्कृत काव्यशास्त्र पर इसके पूर्ववर्ती जिन शास्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है उनमें व्याकरण और दर्शन ही प्रमुख हैं; किन्तु, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र एवं आयुर्वेद विषयक कृतियों में विवेचित सामग्री का भी यत्र-तत्र उपयोग काव्यशास्त्र में हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय न होने से इन शास्त्रों से प्रभावित काव्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का दिङ्मात्र निदर्शन ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्यशास्त्र एवं धर्मशास्त्र—काव्यशास्त्र पर धर्मशास्त्र के प्रभाव का अंकन ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपित यज्ञ, यागादि के विधानों में किया जा सकता है। साहित्यशास्त्र में रसों और भावों को जो अपना विशेष स्थान प्राप्त हुआ है उनमें यज्ञानुष्ठानों के क्रिया-कलापों का योग देखा जा सकता है। धर्मशास्त्र की कृतियों में जय, पराजय, उत्साह, हर्ष, भय, जुगुप्सा आदि भावों का विवरण पर्याप्त विस्तार से उपलब्ध होता है। निश्चित रूप से साहित्यशास्त्र के तत्-तत् भावों के लाक्षणिक स्वरूप का विकास इन विवेचनों के माध्यम से हुआ प्रतीत होता है।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में सभी रसों के विशिष्ट देवता होने का विवरण उपलब्ध होता है। भरत आदि काव्यशास्त्रियों ने भी रसों को तत्-तत् देवताओं की संज्ञा दी है।

भरत नाट्यशास्त्र के प्रेक्षागृह एवं रंगपूजा आदि अध्यायों पर धर्मशास्त्रीय कर्मकाण्ड पूर्णरूप से हावी हैं। इनके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में नायक-नायिकाओं के लक्षण-निरूपण के समय उनमें दया, दाक्षिण्य, मृदुता आदि अनेक आत्मीय गुणों का प्रदर्शन किया गया है जिनका विवरण स्मृतियों, पुराणों एवं धर्मसूत्रों द्वारा विहित संस्कारों के उल्लेख में उपलब्ध होता है। यही नहीं, रस-निष्पत्ति का आधार औचित्य है। उस औचित्य का मानदण्ड धर्मशास्त्रीय विधान ही होता है।

काव्य में निरूपित घटनाओं एवं नायक-नायिकाओं के क्रिया-कलापों के आदर्श के दृष्टान्त भी धर्मशास्त्र की कृतियों में उपलब्ध होते हैं। निश्चितरूप से साहित्यशास्त्रियों ने इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी आवश्यकतानुसार इन्हें विकसित कर लिया है।

धर्मशास्त्रीय विधान एक सुखमय आदर्श जीवन का निरूपण करता है। वही उद्देश्य साहित्य का भी है। साहित्यशास्त्री जब साहित्यिक कृतियों के जीवन-मूल्य का निर्धारण करने चलता है तो उसके समक्ष कसौटी के रूप में धर्मशास्त्रीय विधान ही होते हैं।

मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में पुण्य और पाप की व्यापक रूप से परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। साहित्यशास्त्रीय विवेचन भी उनसे अछूता नहीं है।

अतः इस संकेतमात्र निदर्शन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र धर्मशास्त्र से भी अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है।

काव्यशास्त्र एवं कामशास्त्र—काव्यशास्त्र के अनेक प्रचलित नामों अलंकार-शास्त्र, रसशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र आदि में 'क्रियाकल्प' भी एक नाम है। डॉ० राघवन ने काव्यशास्त्र के प्रचलित 'क्रियाकल्प' नाम को दण्डी और भामह से पूर्व प्रचलित बताते

हुए इसका आधार कामसूत्र में उल्लिखित ६४ कलाओं की सूची तथा रामायण उत्तर-काण्ड के शब्दों को माना है।[1] कामसूत्र १।३।१५ में ६४ कलाओं की गणना की गई है जिनका अभ्यास कन्यायों को गुप्त रूप से करना पड़ता था।[2] यही कलाएँ वेश्यायों को भी सीखनी पड़ती थीं।[3] ६४ कलाओं की सूची में आए अनेक नाम संपाठ्यम्, मानसी, काव्यक्रिया, अभिधान कोषः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम् इत्यादि का निरूपण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यद्यपि पी० वी० काणे प्रभृति विद्वानों ने काव्यशास्त्र के 'क्रियाकल्प' नाम के आधार कामसूत्र की ६४ कलाओं का प्रबल खण्डन किया है[4] तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि काव्यशास्त्र पर इन कलाओं के प्रभाव के कारण ही विद्वानों की चिन्तनप्रक्रिया इस विषय में जागरूक हुई।

काव्यशास्त्र पर कामसूत्र का सर्वाधिक प्रभाव इसमें सविस्तरेण वर्णित नायक एवं नायिका के लक्षण, इनके भेद-प्रभेद एवं इनके सहायकों के प्रसंग में उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कामशास्त्र के ही पदार्थ को चरितार्थ करके दिखाते हैं। कतिपय उद्दरणों द्वारा यह बात अतिस्पष्ट हो जाएगी—

पीठमर्द—कामसूत्र में 'नागरकवृत्तप्रकरण' के अन्तर्गत उपनागर का लक्षण करते हुए सर्वप्रथम पीठमर्द का लक्षण और चरित्र बताया गया है।[5] काव्यशास्त्र में नायक के सहायक के रूप में पीठमर्द का निरूपण हुआ है।[6]

दोनों शास्त्रों की परिभाषाओं को देखने से ज्ञात होता है कि कामसूत्र का पीठमर्द काव्यशास्त्र से भिन्न है। यह एक कलाकोविद वेश्या तथा कामीजनों को कलाएँ सिखाकर जीविका करने वाला एक अतृप्त व्यक्ति है।

विट—कामशास्त्र की भाँति काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शृङ्गार रस के सहायकों में विट, चेट और विदूषक आदि गिनाये गए हैं।[7] कामशास्त्र[8] एवं साहित्यशास्त्र[9] के विट

---

१. देखिए, पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४-४२६

२. अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान् योगान् कन्या रहस्येकाकिन्यभ्यसेत्।
—का० सू० १।३।१३

३. आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥ —वही, १।३।१७

४. देखिए, पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२५-२६

५. अभिभवस्तु शरीरमात्रो मल्लिकाफेनककषायमात्रपरिच्छदः पूज्याद्देशादागतः कलासु विचक्षणस्तदुपदेशेन गोष्ठ्यां वेशोचिते च वृत्ते साधयेदात्मानमिति पीठमर्दः।
—का० सू० १।४।३१

६. दूरानुवर्तिनि स्यात् तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु। —सा० द० ३।३६

७. शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः।
भक्ताः कर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥ —सा० द० ३।४०

८. भुक्तविभवस्तु गुणवान् सकलत्रो वेशे।
गोष्ठ्यां च बहुमतस्तदुपजीवी च विटः ॥ —का० सू० १।४।३२

९. संभोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥ —सा० द० ३।४१

के लक्षण में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है।

विदूषक—कामसूत्र में उपलब्ध विदूषक की परिभाषा[1] में कहा गया है कि जो सब कलाओं के कुछ-कुछ भाग को जानने वाला एवं नायक का खिलौना और विश्वास-पात्र हो। इसी का दूसरा नाम 'वैहासिक' भी दिया गया है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी विदूषक की परिभाषा उपलब्ध होती है[2] किन्तु विदूषक की विशेषताओं के विषय में कामसूत्र ने साहित्यशास्त्र से अधिक विस्तृत प्रकाश डाला है।

नायिका—कामसूत्र के 'नायकसहायकदूतकर्म्मविमर्श' प्रकरण के अन्तर्गत नायिका के तीन भेद बताये गए हैं।[3] श्री विश्वनाथ कविराज ने भी अपने परमप्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में नायिकाओं के तीन भेदों का निरूपण किया है।[4] विश्वनाथ ने कारिका में साधारणी (साधारण स्त्री) लिखा है लेकिन आगे चलकर वेश्या को ही साधारण स्त्री बताया है।[5] कामशास्त्र ने वेश्या को गणिका से किंचित् ऊँचा माना है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक वेश्या और गणिका को पर्यायवाची शब्द मानकर व्यवहार करते हैं।

कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के पाँचवे अध्याय के पाँचवे सूत्र से लेकर इक्कीसवें सूत्र तक परस्त्रीगमन के कारण बताये गए हैं तथा परस्त्री को भी कार्यवशात् नायिका के समकक्ष ही माना है किन्तु साहित्यिकों ने इन कारणों पर विचार नहीं किया है। विश्वनाथ कविराज ने केवल एक स्थल पर पराई स्त्री का परपति से अनुराग दिखाया है।[6]

दूती निरूपण—कामसूत्र में दूतियों की लीला सूत्र रूप में दिखाई गई है किन्तु साहित्य में इसे पल्लवित करके दिखाया गया है। यदि भोज नरेन्द्र के सरस्वतीकण्ठाभरण के पाँचवे परिच्छेद पर दृष्टि डालें तो ज्ञात हो जाएगा कि साहित्य में किस प्रकार काम-शास्त्र का पदार्थ कूट-कूट कर भरा हुआ है। साहित्यदर्पणकार ने इस विषय में लिखा है[7] कि प्रेम-पत्रों का भेजना, प्रेमपूर्वक देखना, मधुरभाषण करना, इन भावों से स्त्री के भावों का ज्ञान होता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो दूतीकल्प का सार तो इसी में आ जाता है।

काव्यशास्त्र एवं आयुर्वेद—काव्यशास्त्र का आयुर्वेद के साथ भी निकटवर्ती

---

१. एकदेशविद्यस्तु क्रीडनको विश्वास्यश्च विदूषकः वैहासिको वा।
—का० सू० १।४।३३

२. कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्म्मवपुर्वेशिभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥ —सा० द० ३।४२

३. तत्र नायिकास्तिस्रः कन्या पुनर्भूर्वेश्या च। इति॥ —का० सू० १।५।३

४. अथ नायिका त्रिभेदा—स्वान्य साधारणी स्त्रीति। —सा० द० २।५६

५. धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका। —सा० द० ३।६७

६. यात्रादिनिरतान्योढा कुलटागलितत्रपा। —सा० द० ३।६६

७. लेखाप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः। —वही, ३।१२७

सम्बन्ध प्रतीत होता है। भरत आदि काव्यशास्त्रियों के ग्रन्थों में निरूपित कतिपय प्रमुख काव्यतत्त्वों का आयुर्वेद के दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह बात सुतरां परिलक्षित हो जाएगी कि इन तत्त्वों का निरूपण आयुर्वेदशास्त्र की आधारशिला पर ही हुआ है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में जर्जरपूजा और इन्द्रध्वज का निरूपण किया है। इसी प्रसंग में वहाँ बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्य में स्त्रीभूमिकाओं के लिए सुन्दर अप्सराओं की रचना की।[1]

भरत द्वारा वर्णित जर्जरपूजा का आयुर्वेद के वाजीकरण सिद्धान्त से साक्षात् सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह समस्त विवरण चरक के 'चिकित्सास्थान' में वर्णित वाजीकरण की गूँज ही प्रतीत होता है।[2]

वाजीकरण आयुर्वेद की आठ शाखाओं में से एक है। ये हैं—(१) शल्य तन्त्र, (२) साकल्य तन्त्र, (३) वाजीकरण तन्त्र, (४) रसायन तन्त्र, (५) अगद तन्त्र, (६) भूतविद्या तन्त्र, (७) कायचिकित्सा, (८) कौमारभृत्य। नाट्यशास्त्र का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्टतः परिलक्षित होने लगती है कि आचार्य भरत आयुर्वेद की इन समस्त शाखाओं से भली-भाँति परिचित थे। इन शाखाओं में से भरत ने अपने ग्रन्थ में वाजीकरण तन्त्र, रसायन तन्त्र, अगद तन्त्र तथा भूतविद्या तन्त्र का विशेष रूप से विस्तृत विश्लेषण किया है।

डॉ० रा० के० सेन ने अपने शोधग्रन्थ 'एसथैटिक एनजायमैण्ट' में नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में आयुर्वेद के इन सभी तत्त्वों का विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण प्रस्तुत किया है।[3] उन्हीं बातों का पुनः कथन यहाँ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। अतः यहाँ केवल कतिपय व्यभिचारिभावों पर आयुर्वेद के प्रभाव का दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाएगा कि काव्यशास्त्र आयुर्वेदशास्त्र से भी अत्यधिक प्रभावित है।

भरत द्वारा निरूपित व्यभिचारिभाव एवं आयुर्वेद—आचार्य भरत का व्यभिचारिभावों का निरूपण आयुर्वेद पर आधारित प्रतीत होता है। आयुर्वेद में वातज,

---

१. अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाऽप्सरो विभुः॥
एवं नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान्मह्यं प्रयोगतः।
मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम्॥
सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम्।
... ...
स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा॥ —ना० शा० १।४६-५०

२. This Seems to be a distinct echo of Caraka's analysis of Vajee-Karana in Cikitsā-Sthānam. II 2-5 Caraka speaks of the great importance of the wife in restoring the vitality of the male.
—R. K. Sen, Aesthetic Enjoyment, p. 237

३. देखिए, एस्थैटिक एनजायमैण्ट, पृ० २३९ से २४२ तक

पित्तज एवं श्लेष्मज इन तीन विकारों का निरूपण हुआ है।[१] इन सभी प्रकार के विकारों के अन्तर्गत आयुर्वेद के लगभग १५ व्यभिचारिभावों का वर्णन उपलब्ध होता है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि ग्लानि, शङ्का, दैन्य, विषाद, निद्रा, उन्माद, त्रास, चपलता आदि सभी व्यभिचारिभाव वातज विकार के ही परिणाम हैं।[३] इन सब व्यभिचारिभावों में कतिपय व्यभिचारिभावों के किंचित् विस्तृत विश्लेषण द्वारा यह ज्ञात हो जाएगा कि भरत आयुर्वेदशास्त्र के भी अत्यधिक ऋणी हैं।

ग्लानि—भरत ने 'ग्लानि' नामक भाव की परिभाषा देते हुए बताया है कि ग्लानि नामक भाव वमन, विरेचन, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मानसिक ताप, अतिशय रति का सेवन, अतिशय मदिरा का पान, अतिव्यायाम, भूख, प्यास एवं निद्रा न आने आदि भावों से उत्पन्न होता है।[४] ये सभी कारण वात रोग को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

चिकित्सास्थान २८।६ में चरक वात-व्याधि के निदानों का विश्लेषण करते हैं।[५] भरत द्वारा प्रस्तुत वातविकार को उत्पन्न करने वाले सभी कारण चरक द्वारा कथित[६] एवं निरूपित कारणों से साम्य रखते हैं। भरत का ग्लानि के प्रसंग में वैवर्ण्य का कथन भी स्पष्टतः यह बताता है कि वे चरक एवं सुश्रुत से प्रभावित थे। चरकसंहिता में स्पष्ट

---

१. सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिता शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि। —चरक संहिता, २०।९

२. There are roughly fifteen Vyabhichāribhāvas under the subdivison to be Classified under Vātaja, Pittaja and Sleśmaja Vikāras.
—Aesthetic Enjoyment, p. 309

३. वही, पृ० वही

४. ग्लानिर्नाम—वान्तविरिक्तव्याधितपोनियमोपवासमनस्तापातिशयमदनमद्यसेवनातिव्यायामाध्वगमनश्रुतित्पपासानिद्राच्छेदाभिर्विभावैः समुत्पद्यते।
—ना० शा० (बनारस संस्करण), पृ० ८५

५. रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः।
... ...
लंघनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्ठितैः॥
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात्।
वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात्।
मर्म्मविधाद्गजोष्ट्राश्वशोघ्रयानावतंसनात्।
देहे स्त्रोंसि रिक्तानि पूरयित्वानिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वांगैकांग संश्रयान्॥
—चरक संहिता, चिकित्सास्थान २८।६

६. तस्याः क्षामवाक्यनयनकपोलोदरमंदपदोत्क्षेपणवेपनानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिर्विभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। —ना० शा० (बनारस), पृ० ८५

रूप से बताया गया है कि वैवर्ण्य वातविकार का ही परिणाम है।[१]

उन्माद—भरत उन्माद को वात, पित्त एवं श्लेष्म का विकार बताते हैं। भरत द्वारा उन्माद का वर्णन वस्तुतः चिकित्साशास्त्र का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उन्मादों का सारांश मात्र ही है। उन्माद इष्ट जन के वियोग, विभवनाश, चोट लगने, वात, पित्त एवं श्लेष्मा के प्रकोप आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

चरक द्वारा प्रस्तुत निदान स्थान १।१९ में[२] वात-व्याधि के निदान के विश्लेषण से भरत का निरूपण साम्य रखता है।

भरत के उन्माद के अनुभावों[३] पर चरक के वातज उन्माद का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[४]

भरत के इस समस्त निरूपण में चरक द्वारा वर्णित विभिन्न प्रकार के उन्मादों[५] का सारांश प्रस्तुत किया गया है। भरत के 'नृतगीतपठित' में चरक के 'यक्षग्रहोन्माद' का[६] 'भस्मपांस्ववधूलन' में पिशाचग्रहोन्माद' का[७] निर्माल्य में पुनः यक्षग्रह उन्माद एवं चीरघटशराव में पिशाचग्रहोन्माद का परिचय उपलब्ध होता है।

भरत ने आयुर्वेद के विस्तृत विवरण को अति संक्षिप्त में प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें आयुर्वेद के तत्त्वों का विस्तृत एवं गहन ज्ञान था।

चपलता—आचार्य भरत चपलता को राग, द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या एवं प्रतिकूल विभागों से समुत्पन्न बताते हैं।[८] इसके अनुभाव हैं—वाणी की कठोरता, डाँट-

---

१. देखिए, चरक संहिता, २८।६

२. रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसंधारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते। —चरकसंहिता, निदानस्थान, १।१९

३. तमनिमित्तहसितरुदितोत्कुष्टासम्बद्धप्रलापशयितोपविष्टोत्थितप्रधावितनृत्तगीतपठितभस्मपांस्ववधूलनतृणत्रोटननिर्माल्यकुचेलचीरघटकपालशरावाभारणधारणोपभोगैरनेकैरचानवस्थितैश्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत्। —ना० शा० ७।८४ की वृत्ति

४. अस्थाहासस्मितनृत्यगीतवागंगविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णेवलंचानिलजस्य रूपम्॥
—चरकसंहिता, चिकित्सास्थान ६।७

५. देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितृणामभिधर्षणानि।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म्न च पूर्वदेहे। —वही, ६।११

६. वही, ६।१५

७. वही, पृ० वही

८. रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। —ना० शा० ७।६१

डपट, वध, बन्ध, सम्प्रहार एवं ताडन।[1] चरक ने इन सबका निरूपण किया है।[2] इन सबका सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि भरत आचार्य चरक के कुपित एवं अकुपित वायु के क्रिया-कलापों से अत्यधिक प्रभावित थे।

इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में वर्णित शंङ्का, दैन्य, विषाद, निद्रा, त्रास आदि अन्य व्यभिचारिभावों एवं कतिपय सात्त्विकभावों पर भी आयुर्वेद का अत्यधिक प्रभाव लक्षित होता है। उन सबका विस्तृत विवरण विद्वानों द्वारा किया जा चुका है।[3] साथ ही शोध का विषय न होने से प्रस्तुत विवरण के माध्यम से केवल इतना ही दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अन्य शास्त्रों की भांति आयुर्वेद के साथ भी काव्यशास्त्र का निकटवर्ती सम्बन्ध है।

(च) दार्शनिक काव्यशास्त्री

संस्कृत अलंकारशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों एवं सिद्धान्तों पर दर्शनशास्त्र के प्रभाव का अनुसंधान करते समय एक बात और सुकरान्त परिलक्षित होती है कि अलंकारशास्त्र के इतिहास में ऐसे अनेक ग्रन्थकार हुए हैं जो मूलतः दार्शनिक थे अथवा दर्शन की किसी न किसी विधा को लेकर उन्होंने ग्रन्थ भी रचे थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिनकी दार्शनिक क्षेत्र में अपनी एक मान्यता है, जिसका आधार लेकर ही उन्होंने आलंकारिक सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। आलंकारिक के साथ-साथ दार्शनिक भी होना कोई प्रतिषिद्ध बात नहीं है, बल्कि, अलंकारशास्त्र और दर्शन के विषयगत सामीप्य को देखते हुए आलंकारिक आचार्य का दार्शनिक होना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु यह बात शत-प्रतिशत लागू नहीं होती। भरत, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ कविराज प्रभृति अनेक आचार्य ऐसे भी हैं जिनके विवेचनों में दार्शनिकता का पुट नहीं के बराबर है अथवा थोड़ा यदि है भी तो साक्षात् नहीं। यहाँ हम ऐसे कुछ आचार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं जो आलंकारिक होने के साथ-साथ दर्शनशास्त्र के भी आचार्य हैं अथवा जिनके काव्यसिद्धान्तों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दार्शनिक विधाओं एवं तत्त्वों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

धर्मकीर्ति—संस्कृत साहित्य के इतिहास में धर्मकीर्ति अलंकारशास्त्र के कर्त्ता के रूप में उतने विख्यात नहीं हैं जितने कि दार्शनिक के रूप में। आफ्रेड के मतानुसार धर्मकीर्ति प्राचीनतम आलंकारिकों में अन्यतम थे।[4] आचार्य कृष्णामचारी का भी यही

---

१. तस्याश्च वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सनवधबन्धसम्प्रहारताडनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। —ना० शा० ७।६१

२. वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च, विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यं च पारुष्यं च···। —चरकसंहिता २०।११

३. एसथैटिक एनजायमैण्ट, अध्याय ५ एवं ६

४. Journal of Bombay Branch, Royal Asiatic Society, No. XLIII. Vol. 16.

अभिमत है।[१] आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा लिखित अलंकार ग्रन्थ का नाम 'बौद्ध संगति' है इसका उल्लेख सुबन्धु कृत वासवदत्ता में उपलब्ध होता है। ए० पी० भट्टाचार्य[२] तथा पीटरसन[3] प्रभृति विद्वान् आफ्रेड के मत का ही समर्थन करते हैं।

धर्मकीर्ति का एक पद्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में उपलब्ध होता है।[४] आनन्दवर्धन ने इसे धर्मकीर्ति का पद्य स्वीकार किया है।[५] इसी कारिका के आधार पर पी० वी० काणे ने उनके विषय में कहा है कि बौद्ध तार्किक एवं दार्शनिक धर्मकीर्ति कवि हो सकते हैं, किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जो उन्हें आलंकारिक सिद्ध कर सके।[६]

धर्मकीर्ति संस्कृत साहित्य के इतिहास में मुख्यतः दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी मुख्य कृतियाँ हैं : प्रमाण वार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, नामप्रकरण, बुद्धस्य निर्वाण स्तोत्र, वादन्याय, समानान्तर सिद्धि आदि।[७] आचार्य धर्मकीर्ति अत्यधिक प्रतिभाशाली बौद्धाचार्य स्वीकार किए जाते हैं। ऐतिहासिकों के द्वारा यह माना जाता है कि ये भी शान्तरक्षित, कर्मशीलादि आचार्यों की भाँति दिङ्नाग परम्परा के आचार्य थे।[८]

भामह (४००-६०० ई०)—काव्यशास्त्र के ख्यात आचार्यों में भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्राचीनतम आचार्य माना जाता है। काव्यालंकार के अन्तिम श्लोक[९] से यह विदित होता है कि इनका नाम भामह था और यह रक्रिलगोमिन के पुत्र थे। इसी नाम को लेकर भामह के बौद्धत्व-अबौद्धत्व के विषय में एक विवाद चल पड़ा जो काफी सीमा तक आज भी है।

---

१. Krishnamachari, History of Skt. Literature, p. 733

२. Journal of Bombay Royal Asiatic Society, Vol. 18, p. 148

३. किसी दिन हो सकता है कि धर्मकीर्ति को आलंकारिक मान लिया जाए।
Journal of Royal Asiatic Society, Part 22, 1956, p. 61

४. लावण्य द्रविणव्ययो न गणितः क्लेशोमहान्स्वीकृतः,
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहतस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।
—ध्व० लो०, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला, पृ० ३०४

५. अयं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः।
—ध्व० लो०, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला, पृ० ३७६

६. पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८१

७. एफ० डब्ल्यू थामस द्वारा सम्पादित, कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, पृ० ४८-४९ (भूमिका)

८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० ४४२

९. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिल गोमिसूनुनेदम्।
—का० अ० ६।६४

भामह को बौद्ध मानने वाले विद्वानों में प्रिंसिपल ध्रुव[1], श्री एम० कृष्णामचारी[2], प्रो० एस० एन० दास गुप्ता[3], एम० टी० नरसिंह अय्यर[4], प्रो० के० पी० पाठक[5] प्रभृति आचार्यों के नाम लिए जा सकते हैं।

संक्षेप में, भामह को बौद्ध मानने के कारण निम्नलिखित हैं—

(क) मंगलाचरण[6] में भामह ने बुद्ध को नमस्कार किया है क्योंकि सर्वज्ञ नाम बुद्ध का है।

(ख) भामह के पिता का नाम रक्रिल गोमिन् था।[7] रक्रिल शब्द राहुल, पोत्तल सोमिल और दूसरे इसी प्रकार के बौद्ध नामों से मिलता-जुलता है। यह विचार इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि गोमिन् बुद्ध के एक शिष्य का नाम था।[8]

भामह को बौद्ध मानने वाले विद्वानों की युक्तियों का निराकरण भी कतिपय उच्चकोटि के विद्वानों ने किया है। आचार्य पी० वी० काणे का कथन है, "काव्यालंकार में कोई भी ऐसी बात नहीं जिसे पूर्णतया बौद्ध कहा जा सके।···भामह ने बौद्धों के अपोहवाद का निषेध किया है।···भामह ने जिन तीन श्लोकों में अपोहवाद का खण्डन

---

१. भामह द्वारा अपोहवाद के निषेध तथा किसी ऐसी बात का, जिसे स्पष्ट रूप से बौद्ध कहा जा सके, उल्लेख न होने पर भी दिवंगत प्रिंसिपल ध्रुव ने भामह को बौद्ध माना है। उनका मुख्य आधार हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन है···भामह ने स्वयं बौद्ध होने पर भी ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण किया होगा।

—पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १०५-६

२. Bhāmha......it has been said he was a Buddhist.

— M. Krishamchari, History of Classical Sanskrit Lit. p. 724

३. The up shot of the discussion...that he was in all probability a Buddhist.

— S. N. Das Gupta, History of Skt. Lit., p. 532-33

४. Bhāmha was a Bodh as Rakril his father's name resembles some distinctly Buddhistic names such as Rahul... .

—JRAS, 1905, p. 535-45, by Narsimheger.

५. Prof. Pathak says, "Rakril Gomin was recrend Rakril, a Buddhist and his son Bhāmha was also a Buddhist." —वही

६. प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥ —का० अ० १।१

७. का० अ०, ६।६४

८. JRAS, 1905.

किया है[1] शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में उन्हें भामह के नाम से उद्धृत किया है[2]···शान्तरक्षित ने अपोहवाद का खण्डन करने वाले भामह तथा कुमारिल को कुदृष्ट्या तथा दुरात्मनः शब्दों से लांछित किया है।[3] अतः प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित के मतानुसार भामह बौद्ध नहीं थे।"[4]

आचार्य बलदेव उपाध्याय भी भामह को बौद्ध मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि कुमारिल ने तो श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ शब्द का पूर्ण विवेचन किया है। इसमें उन्होंने इसका अर्थ बुद्ध नहीं सर्वज्ञ ईश्वर लिया है। यह देखने योग्य बात है कि अमरसिंह ने जो स्वयं बौद्ध थे किसी भी स्थान पर अमरकोश में 'सार्व' शब्द बुद्ध के लिए नहीं रखा।[5] वे इन्हें बौद्ध की अपेक्षा ब्राह्मण अधिक मानते हैं।[6]

भामह के काव्यालंकार में निबद्ध छटा परिच्छेद उनके बौद्धत्व प्रतिपादन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत करता है। वहाँ एकत्र प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों को निर्दिष्ट किया गया है।[7] दार्शनिक परम्परा में बौद्ध तथा वैशेषिक प्रमाण द्वय की ओर अंगीकार करते हैं।[8] इसी प्रसंग में शब्द का कूटस्थत्व (नित्यता) भी प्रतिपादित किया गया है। न्याय-वैशेषिक में शब्द की अनित्यता को बताया गया है। अतः भामह के बौद्धत्व की सिद्धि हो जाती है।

भामह का प्रत्यक्ष लक्षण[9] प्रमाण समुच्चय में उपलब्ध प्रत्यक्ष लक्षण से समानता

---

१. यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥१७॥
अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवादविधिज्ञाने फले चैकस्य वः कथम् ॥१८॥
पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत्।
येनाऽगोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥१९॥ —का० अ० ६।१७-१९

२. तत्त्वसंग्रह, पृ० ३५९-६०, श्लोक ११-१३

३. अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः।
स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ॥ —वही, श्लोक १००२

४. पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १०५

५. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १८६

६. वही, पृ० १८९

७. तस्मात्कूटस्थ इत्येषा शाब्दी वः कल्पना वृथा।
प्रत्यक्षमनुमानं वा यत्र तत्परमार्थतः ॥ —का० अ० ६।११

८. प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम् ॥
—आचार्य विश्वेश्वर, तर्कभाषा, पृ० ११४ से उद्धृत

९. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं सतोऽर्थादिति केचन।
कल्पनां नामजात्यादियोजनां प्रतिजानते ॥ —का० अ०, ५।६

रखता है। भामह का अनुमान लक्षण[1] 'न्यायबिन्दु' नामक ग्रन्थ से साम्य रखता है।[2] धर्मकीर्ति तथा वसुबन्धु दोनों ही प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक थे। इनका अनुवर्ती होने के कारण भामह को भी बौद्ध मानने में कोई अत्युक्ति नहीं होनी चाहिए।

भामह ने पंचम अध्याय में छह प्रतिज्ञा दोषों का वर्णन किया है।[3] प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने न्यायप्रवेश नामक ग्रन्थ में भी पक्षाभास प्रकरण में अन्य दोषों के सहित 'स्ववचन विरुद्ध', 'प्रत्यक्ष विरुद्ध', अनुमानादि विरुद्ध (हेतु विरुद्ध), लोक विरुद्ध (प्रसिद्ध धर्म विरुद्ध), आगम (सर्वागम) विरुद्ध इन पाँच दोषों का वर्णन किया है। इन पाँच दोषों में दो शब्दशः भामह ने काव्यालंकार में गृहीत किये हैं ('अनुमानविरुद्ध', 'लोक विरुद्ध' और 'आगम विरुद्ध' क्रमशः 'हेतु विरुद्ध', 'प्रसिद्ध धर्म विरुद्ध', 'सर्वागम विरुद्ध' से अभिन्न ही हैं।)

भामह द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त प्रतिज्ञा दोषविभाजन दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनों से प्रभावित प्रतीत होता है। अतः भामह को भी दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध दार्शनिकों की परम्परा में होना चाहिए।

भामह दृष्टान्त-दोष-लक्षण प्रस्तुत करते हैं।[4] यह लक्षण न्यायवार्तिक के दृष्टान्त लक्षण के समान है।[5] भामह का दूसरा दृष्टान्त लक्षण[6] दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में दिये गए दृष्टान्त के लक्षण का अनुहरण है।[7] अतः बौद्ध शास्त्रकारों के लक्षण के समुद्धरण के कारण भामह का बौद्धत्व सुस्पष्ट है।

पी० वी० काणे, बलदेव उपाध्याय प्रभृति जिन आचार्यों ने अपोहवाद के खण्डन को देखकर भामह के बौद्धत्व का निराकरण किया है, समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि दार्शनिक चिन्तनपरम्परा में पूर्वस्वीकृत सिद्धान्तों का आलोचन-पर्यालोचन देखा गया है। स्वयं बौद्ध-दर्शन सम्प्रदाय की अनेक मान्यताएँ हैं जो सौत्रान्तिक तथा योगाचार-

---

१. त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानञ्च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चाऽपरं विदुः॥ —का० अ०, ५।११

२. त्रिरूपलिङ्गात् यदनुमेयज्ञानं तदनुमानम्।
—धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, परिच्छेद २

३. तदर्थहेतुसिद्धान्तसर्वागमविरोधिनी।
विरुद्धधर्मा प्रत्यक्षबाधिनी चेति दुष्यति॥ —का० अ० ५।१३

४. साध्यसाधनधर्माभ्यां सिद्धो दृष्टान्त उच्यते।
तद्विपर्ययो वापि तदाभस्तदवृत्तितः॥ —का० अ० ५।२६

५. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावित्वेनार्थ्यते तथा साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावित्वेनार्थ्यते यः सोऽर्थस्तस्मिन्, तथा च नातिव्याप्तिः।
—न्यायवार्तिक, तात्पर्य टीका, पृ० २६१

६. साध्येन लिङ्गानुगतिस्तदभावे च नास्तिता।
ख्याप्यते येन दृष्टान्तः स किलान्यैर्द्विधोच्यते॥ —का० अ० ५।२७

७. प्रमाणसमुच्चय, परिच्छेद २

वादियों द्वारा स्वीकार नहीं की गईं और उन सौत्रान्तिकवादियों की मान्यता को माध्यमिकों के द्वारा निराकृत किया गया है। लेकिन इस कारण से उनके बौद्धत्व का खण्डन करना युक्तियुक्त नहीं है। मीमांसकों में भी शब्दशक्ति आदि विविध प्रसंगों में कुमारिल तथा प्रभाकर में मौलिक विरोध दिखाई देते हैं। नैयायिकों ने भी विविध स्थलों में प्राचीनों के मत की चर्चा कर अपने मत की स्थापना की है। अतः अपोहवाद के खण्डन-मात्र से भामह के बौद्धत्व का खण्डन करना सुकर नहीं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध परम्परानुयायी होने के कारण भामह बौद्ध ही हैं।

आचार्य दण्डी (६६०-६८० ई०)—काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित में उपलब्ध मंगलाचरण में ब्रह्मा, सरस्वती और विष्णु की वन्दना को देखकर यद्यपि यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि दण्डी ब्राह्मणधर्मानुयायी थे किन्तु यह अनुमान भी असंगत नहीं कि उनके हृदय में भगवान बुद्ध के तथा उनके प्रवर्तित धर्म के प्रति महान् आदरभाव था। कारणरूप में उनका विरोधाभासालंकार का उदाहरण देखा जा सकता है।[1] यहाँ सुगत से अभिप्राय भगवान् बुद्ध से है जिनके मत में संस्कार अविनश्वर होते हैं। एक अन्य पद्य[2] में दण्डी ने कामिनियों की संगति विद्युत लेखा की भाँति क्षणस्थायी बताई है। उससे कवि की वैराग्यभावना के प्रति आस्था सूचित की गई है जो केवल बौद्ध भिक्षुओं के बौद्ध ग्रन्थों में ही वहुलतया उपलब्ध होती है। इस प्रकार के कतिपय प्रसंगों को देखकर यह अनुमान करना असम्भव नहीं कि ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होने पर भी दण्डी का बौद्धधर्म के प्रति महान् आदर था।

दण्डी में विद्यमान बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति समादर भावना के प्रभाव से बौद्ध विद्वानों में दण्डी का महान् आदर था। दण्डी का काव्यादर्श बौद्धों के द्वारा आदरपूर्वक और रुचिपूर्वक परम्परा से पढ़ा गया। इसके प्रभाव से ही न केवल दक्षिण भारत में अथवा सिंहल देश में अपितु तिब्बत देश में यथासमय इसका अनुवाद किया गया है।[3] बौद्ध विद्वत्परम्परा में काव्यादर्श के अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति इसका सबल प्रमाण है कि इस ग्रन्थ पर बौद्ध आचार्यों ने अनेक टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाओं में सिंहल देश निवासी रत्न श्री ज्ञानभिक्षु द्वारा रत्नवती नामक काव्यादर्श की टीका सुप्रसिद्ध है।

अतः इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह सुस्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मणधर्मानुयायी दण्डी बुद्ध तथा उनसे उपदिष्ट धर्म के प्रति आस्थावान थे तथा बौद्ध आचार्यों में उनका बहुत आदर भी था। अतः इन्हें हम बौद्ध काव्यशास्त्रियों की परम्परा में परिगणित कर सकते हैं।

---

१. सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान्।
तथाहि सा चकोराक्षी स्थितैवाद्यापि मे हृदि॥ —काव्यादर्श ३।१७४

२. सङ्गतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम्॥ —वही, २।३३२

३. दण्डिन एवं संस्कृत काव्यादर्श का इतिहास दर्शन, जयशंकर त्रिपाठी, पृ० ३७

मुकुलभट्ट (९००-९२५ ई०)—काव्यशास्त्र के दार्शनिक आचार्यों में आचार्य मुकुलभट्ट मूलतः मीमांसक ही थे इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दु राज इनके शिष्य थे।[1] उन्होंने इनका जो परिचय दिया है उसके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसाशास्त्र के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। उसके साथ ही व्याकरण, तर्क और साहित्यशास्त्र पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इनका एकमात्र ग्रन्थ है 'अभिधावृत्ति-मातृका'। यह १५ कारिकाओं का बहुत छोटा-सा ग्रन्थ है जिसकी वृत्ति भी स्वयं मुकुलभट्ट ने लिखी है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से ध्वनिसिद्धान्त तथा व्यंजनावृत्ति का विरोधी है। व्यंजनावादी आचार्य अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना, तीन प्रकार की वृत्तियाँ मानते हैं। मीमांसक व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते। इसलिए मुकुलभट्ट ने इस ग्रन्थ में व्यंजना तो दूर रही, लक्षणा को भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधा का ही एक भेद माना है और 'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्'[2] लिख अभिधा के दश प्रकार के व्यापार के अन्तर्गत ही लक्षणा का भी समावेश कर दिया है। आचार्य मम्मट ने वृत्तियों का निरूपण इसी आधार पर किया है। साथ ही, इसी आधार पर 'शब्दव्यापारविचार' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ भी लिखा है। अतः शब्दशक्तिविवेचन के प्रसंग में मुकुलभट्ट के ग्रन्थ का परिशीलन उपयोगी तथा आवश्यक है।

आचार्य अभिनवगुप्त (९८०-१०२० ई०)—संस्कृत काव्यशास्त्र के दार्शनिक आचार्यों में आचार्य अभिनवगुप्त का स्थान सर्वोच्च है। इनका शैव होना निर्विवाद सत्य है। काव्यशास्त्रीय अभिनवगुप्त के अतिरिक्त मध्वाचार्य के 'शङ्करदिग्विजय' में शाक्तभाष्यकार के रूप में अभिनवगुप्त नामक किसी और व्यक्ति का भी उल्लेख हुआ है[3] किन्तु लोचनकार अथवा अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त उनसे भिन्न व्यक्ति

---

१. मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोषात् ।
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृङ्गात् ।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात्कीर्तिवल्लयालवालात् ।
काव्यालङ्कारसारे लघुविवृतिमधात्कोङ्कणः श्रीन्दुराजः ॥

—का० अ० सा० सं०, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, भूमिका, पृ० १४, टिप्पणी २ से उद्धृत

२. अभि० वृ० भा०, पृ० २१

३. He belongs to Kārmarupa (Assam). He was a śākta and wrote a Śāktabhāsya, probably a commentary on the Vedānta Sutra of Bādarāyaṇa from the Śakta point of view. He was a great opponent of monistic theory of śaṅkara. He engaged śaṅkara in a controversial discussion (śāstrārtha) when the latter reached Āssām in the course of his Digvijaya. In that he was defeated and so, according to then prevalent practice, became a disciple of the Victor. Like our Kashmirian Abhinavagupta, his Śākta namesake is referred to as an ācārya. —K. C. Pandey, Abhinavagupta, p. 2

हैं (जिनका शास्त्रार्थ शंकराचार्य से हुआ था और वह पराजित भी हुए थे)।

अभिनवगुप्त ने विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान विभिन्न गुरुओं से प्राप्त किया। इसका स्मरण उन्होंने अतिशय श्रद्धापूर्वक अपने ग्रन्थों में करते हुए बताया है कि वामनाथ उनके तन्त्र के गुरु थे[1], भूतिराजतनय द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरु थे[2], भूतिराज ब्रह्मविद्या के[3], लक्ष्मणगुप्त प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शन के गुरु थे[4], इन्दुराज[5] तथा भट्टतौत[6] ध्वनि-सिद्धान्त तथा नाट्यशास्त्र के गुरु थे। अभिनवगुप्त ने स्वयं कहा है कि उन्होंने ज्ञान की खोज में तर्क पद्धतियों (न्याय, वैशेषिक आदि) का तथा बौद्ध, अर्हत् तथा वैष्णव[7] सिद्धांतों के पण्डितों का आश्रय लिया है।

आचार्य अभिनवगुप्त में काव्य और दर्शन की प्रतिभाओं का दुर्लभ मिश्रण है। शास्त्रों के अध्ययन और व्याख्यान के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं था। वे दर्शनशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और काव्यशास्त्र के विशेषज्ञ थे और इन शास्त्रविषयक सभी ज्ञानों को उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। इस विपुल ज्ञानराशि को आत्मसात् करने के कारण ही वे रससिद्धान्त की समस्याओं के समाधान के लिए नये दृष्टिकोण तथा नई साधनविधिओं को अधिक स्पष्ट रूप से समझने एवं अपने सिद्धान्त की रचना में उनका उपयोग करने में पूर्णरूप से सक्षम थे। रस के इतिहास में अभिनव का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अद्वैत शैव-दर्शन की छाया में काव्य रस की व्याख्या करके उन्होंने इसे चरम सीमा प्रदान कर दी। उन्होंने एक ऐसे रस सिद्धान्त की स्थापना की है जिसमें आज भी कोई मूल संशोधन करना अत्यन्त कठिन है। उनके रस सिद्धान्त को भली-भाँति समझने के लिए उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान अत्यावश्यक है। उनके मतों को लगभग सभी परवर्ती शास्त्रकारों ने मान्य ठहराया है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति कुछ ही ऐसे परवर्ती लेखक थे जिन्होंने इनके मत को यत्र-तत्र खण्डित करने की चेष्टा की है।

---

१. आमर्दसन्ततिमहार्णवकर्णधारः सद्देशिकैरकवरात्मजवामनाथः।
—के० सी० पाण्डेय, अभिनवगुप्त, पृ० १०

२. श्रीनाथसन्ततिमहाम्बरधर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः। —वही

३. अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी।
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्॥ —वही, पृ० ११

४. देवीं त्रिशतिकेपि अस्य श्रीसोमनन्दपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेवगुरवः।
—वही

त्रैयम्बकप्रसरसागरवीचिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः। —वही

५. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदामिधोऽहम्। —वही

६. सद्भिप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः। —वही

७. अहमप्यत एवाद्यः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात्। तार्किकश्रौतबौद्धार्हद्वैष्णवादीन्नसेविषि।
—त० लो० १३ आह्निक श्लोक ३४५-४६, भा० ८ पृ० २०६, काश्मीर एस० एस०

अभिनवगुप्त आलंकारिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः उन्होंने अलंकार-शास्त्र में 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' नामक दो टीका ग्रन्थों की रचना कर साहित्य क्षेत्र को दर्शन क्षेत्र में पहुँचा दिया। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी', 'तन्त्रसार', 'मालिनीविजयवार्तिक', 'परमार्थसार' तथा 'परात्रिंशिका विवरण' त्रिक् दर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। उनकी रचनाओं का सबसे बड़ा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है।

शैवमतानुयायी अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी उनके शैव प्रभाव से ओतप्रोत हैं। अभिनवभारती के शिवस्तुति परक मंगलाचरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[1]

अभिनवगुप्त यौगिक अभ्यास में कुशल थे। उनका विचार था कि उन्होंने शिव तथा परम सत्य को उपलब्ध कर लिया है। उनका यह भी विश्वास था कि शिव की प्रेरणा से वह आध्यात्मिक ज्ञान तथा शान्ति की खोज में निकले हुए साधारण लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखा सकते हैं। स्वयं सिद्धि प्राप्त करने पर भी उन्होंने दूसरों के उपकारार्थ ग्रन्थों की रचना की।[2] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी[3] के अन्त में अभिनवगुप्त ने कहा कि 'शिवदृष्टि' में गुरुओं द्वारा निरूपित मार्ग को उन्होंने सरल तथा सर्वग्राह्य बनाया है। जो भी व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण करता है, वह पूर्ण बन जाता है और शिव में मिल जाता है।

आचार्य महिमभट्ट (११३५-११४५ ई०)—भामह, दण्डी एवं आनन्दवर्धन प्रभृति आलंकारिकों द्वारा अपनाई गई परम्परा के विपरीत महिमभट्ट ने अपना परिचय स्वयं दिया है। अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' के अन्तिम विमर्श में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए महिमभट्ट ने अपने परिवार का परिचय दिया है। उनकी राजानक' उपाधि से ज्ञात होता है कि वे एक कश्मीरी ब्राह्मण थे। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के तीनों विमर्शों की पुष्पिकाओं में इसका निर्देश है।

---

१. यस्तन्मयान्हृदयसंवदनक्रमेण,
द्राक्चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी।
हर्षोल्लसत्परविकारजुषः करोति।
वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम्॥ —अभि० भा० १।१
षड्विंशकात्मकजगद्भगनावभास —
संविन्मरीचिचयचुम्बित बिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्।
वन्दे शिवं श्रुतितदर्थविवेकिधाम॥ —वही १।२

२. शिवस्मृतिकृतार्थोऽपि परार्थं दुःखलात्मजः (चुखलात्मजः ?)।
—अभि० भा०, भा० २, पृ० ११७

३. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यतेस्म शिवदृष्टि शास्त्रे यथा। तस्य निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मानो विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिध्यति। —ई० प्र० वि०, भा० २

प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् मुकुलभट्ट की मान्यता है कि व्याकरण, न्याय और मीमांसा तीनों शास्त्र साहित्य के लिए परम उपादेय हैं, अतः वही सफल कवि और समीक्षक हो सकता है जो इन तीनों शास्त्रों का साहित्य में उपयोग करना जानता हो।[1] महिमभट्ट को इसी कोटि का आचार्य कहा जा सकता है। इन्हें व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा के साथ ही शैव-दर्शन तथा अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों पर भी असाधारण अधिकार प्राप्त है। न्याय एवं मीमांसा के सिद्धान्तों का जितना अधिक तथा अच्छा प्रयोग साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ में हो सकता था, महिमभट्ट ने किया है। लक्षणा एवं व्यंजना के अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का निरूपण जहाँ न्याय[2] पर आधारित है वहाँ शब्दार्थ एवं वाक्यार्थ के स्वरूप का निर्वचन मीमांसा[3] की पद्धति से हुआ है।

साहित्यशास्त्र के उद्भट आचार्य होने के साथ महिमभट्ट पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ एक ऐसे विद्वान थे जिन्हें वाङ्मय की सभी विधाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त था जो किसी समीक्षक के लिए अत्यन्त अपेक्षित एवं परम उपादेय होता है।

महिमभट्ट नैयायिक मीमांसक वैयाकरण अथवा शैव—एक स्वतन्त्र शास्त्र होने पर भी साहित्यशास्त्र अन्य शास्त्रों से सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। शब्द, अर्थ, इनका सम्बन्ध तथा शब्दशक्ति आदि अनेक विषय ऐसे हैं जिनका विवेचन प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अतः एक काव्यशास्त्री के लिए यह सम्भव है कि वह न्यायादि शास्त्रों में से किसी एक से सर्वाधिक प्रभावित हो या फिर इन सबमें से किसी एक शास्त्र में मूलतः पारंगत होने के कारण अन्य शास्त्रों का समीक्षक भी हो।

आचार्य महिमभट्ट के विषय में सर्वसाधारण धारणा है कि वे दुर्भट नैयायिक थे। उनको नैयायिक मानने की धारणा का मूलाधार व्यंजना की अपेक्षा अनुमान को अधिक मान्यता देना है। यद्यपि चार्वाक को छोड़ अन्य सभी दर्शन विधाएँ अनुमान की प्रामाणिकता में विश्वास करती हैं तथापि हेतु, साध्य, पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, व्याप्ति एवं परामर्श एवं हेत्वाभासों आदि के साथ अनुमान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन केवल न्याय में ही

---

१. पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति। —अभि० वृ० मा० का० १३

२. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ……तुषारस्पर्शस्य।
तथा —व्य० वि० पृ० ४००-४०२

शब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः प्रधानार्थव्यपेक्षया।
तदन्यापक्षया त्वर्थादिनं विपरिणामयेत् ॥१॥
विपरीतमतो यत् स्यादपशब्दः स मां प्रति।
हेतुध्वर्नेश्चायमेव प्रयोगपरिणामयोः ॥२॥
परिणामो बहुविधो वाचोलिङ्गादिभेदतः।
स च प्रसिद्ध एवेति नास्माभिरिह दर्शितः ॥३॥ इति
—संग्रहश्लोकाः, व्य० वि०, ३।१, २, ३

३. वाक्यार्थ……बौद्धव्यः। —वही, पृ० ४०

उपलब्ध होता है। अतः न्याय की अनुमान प्रक्रिया का आश्रयण कर ध्वनि का खण्डन करने के कारण उनको नैयायिक मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

वस्तुस्थिति को गहराई से देखने से यह ज्ञात होता है कि वे न्याय-दर्शन से प्रभावित अवश्य थे किन्तु अपने व्यक्तिविवेक में सर्वत्र न्याय सिद्धांतों का अनुमोदन उन्होंने नहीं किया। महिमभट्ट के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच साध्यसाधनभाव रूप सम्बन्ध कार्य करता है। इसी कारण शब्द से अर्थ की अनुमिति होती है। कोई भी व्यक्ति शब्दार्थ के बीच की युक्ति अर्थात् साध्यसाधनभाव का रहस्य समझे बिना केवल आप्त वचन के सहारे शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकता[1] अन्यथा शब्दार्थ के परस्पर के हेतुसाध्यभाव के बिना समझे, आप्तवचन से ही यदि अर्थ की प्रतीति होने लगे तो वह आपामरतिर्यक् सभी को होना चाहिए, किन्तु वह होता नहीं है।[2] महिमभट्ट का यह कथन गौतम के सूत्र 'आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः'[3] जिसका अर्थ है शब्द से अर्थ का बोध आप्तोदेश के सामर्थ्य से होता है, के विरुद्ध प्रतीत होता है।

महिमभट्ट के अनैयायिक होने में एक और प्रबल प्रमाण नैयायिकों के संकेत ग्रह विषयक मत का खण्डन करना एवं वैयाकरणों की जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य नामक व्यक्ति की चार उपाधियों को शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कहना है।[4] इनके अतिरिक्त भ्रान्ति ज्ञान के भी हेतु साध्य भाव होने पर प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के रूप में ग्रहण[5] करना है। उनका कहना है कि व्याप्ति ज्ञान तो न्याय-शास्त्र के साधारण विद्यार्थी के लिए अपेक्षित होता है, विद्वानों के लिए नहीं।[6] अतः इन सब तथा इसी के समान उपलभ्यमान अन्य तथ्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महिमभट्ट नैयायिक नहीं थे।[7]

व्यंजना की सर्वथा अस्वीकृति तथा एकमात्र अभिधा को शब्द का व्यापार मानने के कारण उन्हें मीमांसक भी कहा जा सकता है क्योंकि मीमांसकों ने इषुवत् दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार का ही समर्थन किया प्रतीत होता है।[8] इसके अतिरिक्त व्यक्ति-विवेक में विवेचित शब्दार्थ सम्बन्ध एवं शब्दशक्ति के स्थलों का अध्ययन करने से यह

---

१. नहि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद्विपश्चिद् वचनमात्रात् सम्प्रत्ययभावभवति। —व्यक्तिविवेक, पृ० २१

२. डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, महिमभट्ट, पृ० २३

३. न्यायसूत्र २।१।५२

४. जातिगुणक्रियाद्रव्याणां तत्प्रवृतिनिमित्तानां बहुत्वात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० २२

५. 'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा।' इति —वही, पृ० ७४

६. तद्भावहेतुभावौ दृष्टान्ते तदवेदिनः।
व्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः। —वही, पृ० ६५

७. डॉ० बी० एम० चतुर्वेदी, महिमभट्ट, पृ० २५

८. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः······। —वही, १।२६

प्रतीत होता है मानों वे मूलतः मीमांसक हों। लेकिन यह भी एक भ्रम ही है। महिमभट्ट ने केवलमात्र अभिधा को ही स्वीकार अवश्य किया है किन्तु इसके साथ ही उन्होंने अभिधा के इषुवत् दीर्घ-दीर्घतर व्यापार एवं तात्पर्यशक्ति के आधार पर 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर इसका विधिवत् खण्डन भी किया है।[1] इस प्रकार इन्होंने प्रभाकर के अन्विताभिधान तथा कुमारिल के अभिहितान्वय दोनों पक्षों का खण्डन किया है।

महिमभट्ट के मीमांसक न होने में दूसरा प्रबलतम प्रमाण इनके द्वारा मीमांसकों की प्राणभूत लक्षणा की अस्वीकृति है क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना उनका जाति में संकेतग्रह का सिद्धान्त ही नहीं बन सकेगा। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मीमांसा सिद्धान्तों का अनुमोदन न करने के कारण वे मीमांसक नहीं हैं।

महिमभट्ट के विषय में तीसरा प्रबल मत उनको वैयाकरण मानने का है। डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपने शोध-ग्रन्थ 'महिमभट्ट' में इन्हें वैयाकरण सिद्ध करते हुए[2] पुष्टि रूप में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं :—

१. शब्द, अर्थ, वाक्य एवं शब्दार्थ सम्बन्ध तथा शब्दशक्ति के विवेचनों में अपनी उक्ति के समर्थन में महिमभट्ट ने 'वाक्यपदीय' की कारिकायें बिना नामोल्लेख के उद्धृत की हैं। इनमें से अधिकाँश 'वाक्यपदीय' के द्वितीय काण्ड की है जो सम्प्रति उपलभ्य नहीं।
२. महिमभट्ट के अर्थ के वाच्य एवं अनुमेय नामक दो भेद मानने[3] का आधार भी वाक्यपदीय की कारिका[4] है।
३. इनके वैयाकरण होने का पोषक एवं प्रबलतम प्रणाम 'व्यक्तिविवेक' का मंगलश्लोक है जिसमें आचार्य ने परावाक् को प्रणाम किया है।
४. व्यक्तिविवेक में व्याकरण सम्बन्धी विषयों का विशद एवं गहन विवेचन उपलब्ध होता है। साथ ही व्याकरण को सभी विधाओं का मूल माना गया है।[5]

डॉ० चतुर्वेदी ने जो महिमभट्ट का 'परावाक्' को प्रणाम करने का आधार व्याकरण को माना है उसमें शैवों की पराशक्ति का उल्लेख भी तो माना जा सकता है और डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोध-ग्रन्थ स्वतन्त्रकलाशास्त्र में महिमभट्ट को शैव सिद्ध करते हुए कहा भी है, "व्यक्तिविवेक के आरम्भ में महिमभट्ट ने परावाक् की

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० १२२-२३
२. महिमभट्ट, पृ० २५ से २८ तक
३. व्यक्तिविवेक, पृ० ३९
४. श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥
—वाक्यपदीय २।२८०, व्यक्तिविवेक, पृ० ३९
५. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
—ध्व० लो० का० १।१३ पर वृत्ति

वन्दना की है। भर्तृहरि ने वाक् के केवल तीन रूपों को ही स्वीकार किया है एवं 'पश्यन्ती' को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित किया है और सोमानन्द वे व्यक्ति थे जिन्होंने 'परावाक्' को 'पश्यन्ती' से भिन्न रूप एवं उससे परे प्रतिपादित किया था तथा नागेशभट्ट आदि परवर्ती वैयाकरणों ने शैवमत सम्बन्धी ग्रन्थों से इसको ग्रहण किया था। अतएव महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थारम्भ में जो परा शब्द का उल्लेख किया है उससे यह दृढ़ रूप से सिद्ध हो जाता है कि वे कश्मीर शैवमत के अनुयायी थे।"[१]

महिमभट्ट की अर्थबोध की प्रक्रिया का आधार जैसाकि डॉ० चतुर्वेदी ने कहा है भर्तृहरि रचित 'वाक्यपदीयम्' ही है। तथापि भर्तृहरि ने स्वयं कहा है कि उनके प्रतिपाद्य विषय का आधार तद्विषयक प्राचीनकाल से परम्परागत ज्ञान है।[२] कश्मीर के शास्त्रकार व्याकरण दर्शन से भलीभाँति परिचित थे। इसी कारण मुख्यतया अर्थबोध के सिद्धान्त को विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोण से वे ही विकसित कर सके।[3]

भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरणों के विचार यत्र-तत्र 'व्यक्ति-विवेक' में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो ही जाते हैं। जिसका मूल कारण महिमभट्ट का व्याकरण विषयक विस्तृत ज्ञान है। किन्तु इतना होते हुए भी महिमभट्ट ने सर्वथा वैयाकरणों के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का अनुमोदन नहीं किया। भर्तृहरि व्यंग्य अर्थ को कोई भिन्नवर्गीय अर्थ नहीं मानते हैं जबकि महिमभट्ट ने केवल ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त को अस्वीकार ही नहीं किया है वरन् अपने ग्रन्थ के एक-तिहाई भाग में आनन्दवर्धनाचार्य से प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन विशद रूप से किया है।[४]

शब्दों के वर्गीकरण के विषय में भी महिमभट्ट ने वैयाकरणों के मत को नहीं अपनाया। पाणिनि ने इसका वर्गीकरण दो कोटियों में किया है। यास्क तथा पतंजलि पदों को चार वर्गों में विभाजित करते हैं जबकि महिमभट्ट पदों का विभाजन पाँच वर्गों में करते हैं। ये हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रवचनीय।[५] वैयाकरणों से महिमभट्ट का यह भी मतभेद है कि वैयाकरण दण्डिन् को 'गुण' शब्द मानते हैं परन्तु महिमभट्ट उसको 'द्रव्य' शब्द[६] मानते हैं। अतः इन सब तथ्यों एवं इसी के अनुरूप अन्य बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महिमभट्ट वैयाकरण नहीं प्रतीत होते। महिमभट्ट वस्तुतः शैव ही थे, इसकी पुष्टि में अन्य प्रमाण भी दिए जा सकते हैं—[७]

१. शब्दविभाजन के प्रसंग में आभासवाद के सिद्धान्त का उल्लेख।
२. महिमभट्ट का प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द रूप तीन ही प्रमाणों को स्वीकार करना

---

१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ३४१
२. वही, पृ० ३५६
३. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ३५७
४. वही,
५. वही, पृ० ३५८-५९
६. दण्डी विषाणीति द्रव्यशब्दः। —व्यक्ति विवेक, पृ० २२
७. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ३४२ से ३५१ तक

कश्मीर के उस विशिष्ट शैवमत के अनुकूल है जिसका प्रतिपादन उत्पलाचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में प्रमाणों की मीमांसा के प्रसंग में किया है।

३. महिमभट्ट द्वारा शब्दों की 'द्योतकत्व शक्ति' को खण्डित करने के प्रयास में कश्मीर शैवमत के कारणतावाद के सिद्धान्त का उल्लेख भी उनके शैव होने में प्रमाण है।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि शास्त्रों के सम्यक् ज्ञाता होने पर भी महिमभट्ट मूलतः शैव ही थे।

भोज (११००-१५०० ई०)—धारानरेश राजा भोज भारतीय इतिहास में विद्वानों के आश्रयदाता एवं उदार दानशील राजा के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये केवल विद्वानों का आदर करने वाले ही नहीं थे अपितु स्वयं भी एक महान् विद्वान् और अच्छे साहित्यिक थे अलंकारशास्त्र के विषय में इनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं—(१) सरस्वतीकण्ठाभरण और (२) श्रृंगारप्रकाश। श्रृंगारप्रकाश में श्रृंगार रस को ही प्रधान रस अथवा एकमात्र रस माना गया है। किन्तु भोजराज का यह श्रृंगार सामान्य श्रृंगार नहीं है, उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का समावेश हो जाता है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' में भी[1] इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

भोज ने वृत्ति प्रकार का योगसूत्रों पर एक भाष्य लिखा है जिसे राजमार्तण्ड कहा जाता है। योग पर लिखा गया यह भाष्य लेखक के नाम पर ही भोजवृत्ति नाम से अभिहित किया जाता है। वे शिव के परम् भक्त थे। अपने मंगल श्लोक में उन्होंने शिव को ही प्रणाम किया है[2], किन्तु भोजवृत्ति के कुछ संस्करणों में वे दो श्लोक उपलब्ध नहीं होते जिनमें उन्होंने शिव को नमस्कार किया है।

राजा भोज ने अलंकार, आयुर्विद्या, ज्योतिष, दर्शन, व्याकरण, धर्म आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की एक लम्बी सूची देख विद्वानों में मतभेद होने लगा कि इन्हें इतने ग्रन्थ लिखने का समय कैसे मिलता था। त्रिपाठी महोदय के अनुसार यह सारे ग्रन्थ भोज ने स्वयं नहीं लिखे।[3] डॉ० राघवन का भी यही

---

१. अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। 'रसो वै सः' इति श्रुत्या रसः एकः प्रकीर्तितः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न। धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन सः चतुर्विधः।
—मन्दारमरन्दचम्पू, बिन्दु ७, पृ० १०७, का० प्र० (आचार्य विश्वेश्वर) भूमिका, पृ० ९३ मे उद्धृत

२. (क) देहार्धयोगः शिवयोः सः। —भोजवृत्ति मंगलाचरण १।१
(ख) स जगन्नाथस्त्र्यक्षोऽस्तु प्रार्थिताप्तये। —वही, २।१
(ग) भूतनाथः स भूतये —वही, ३।१

३. Thus, the possibility cannot be ruled out that some of them, although ascribed to him, were in reality productions of the literary proteges, flourishing at his Court.
—Tripathi (R. S,), History of Ancient India, p. 383.

मत है।[1] भोज ने व्याकरण, अलंकारशास्त्र, आयुर्वेद तथा पातंजलवृत्ति लिखी इसका संकेत भोजवृत्ति के प्रारम्भिक श्लोकों से भी उपलब्ध होता है।[2] पातंजलवृत्ति भोजवृत्ति ही है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा भोज एक सफल आलंकारिक होने के साथ-साथ सुप्रसिद्ध दार्शनिक भी थे।

आचार्य हेमचन्द्र (११४० ई०)—जैन लेखकों में हेमचन्द्र का उच्च स्थान है। ये वृहद् ग्रन्थकार थे और इन्होंने ज्ञान की अनेक शाखाओं पर ग्रन्थ रचे थे। काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आचार्य हेमचन्द्र के जीवन, समय इत्यादि के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। इन्होंने संस्कृत वाङ्मय की विविध विधाओं पर ग्रन्थ रचना की है। इन्होंने अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' की रचना अपने महान् व्याकरणिक ग्रन्थ (शब्दानुशासन) सिद्ध हेमचन्द्र की रचना के बाद की। इनकी अन्य रचनाएँ छन्दोनुशासन, द्रव्याश्रयकाव्य, अभिधानचिन्तामणि, देशीनाममाला, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, योगशास्त्र आदि हैं।

जैन धर्म के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा का परिचय 'काव्यानुशासन' के मंगलश्लोक से हो जाता है[3] जिसमें इन्होंने जैनी वाक् को प्रणाम किया है। महावीर जैन ने अपने उपदेश इसी जैनी वाक् अथवा अर्धमागधी भाषा में दिए थे। एक प्रसिद्ध जैन उपदेशक आचार्य हेमचद्र के लिए यह उचित भी है कि धार्मिक ग्रन्थों की भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करें।

आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन मौलिक न होकर एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है। काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और लोचन से इसमें मुख्य आधार ग्रहण किया गया है।

आचार्य शौद्धोदनि (१६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)—संस्कृत साहित्यशास्त्रीय बौद्ध आचार्यों में शौद्धोदनि अन्यतम हैं। इन्होंने 'अलंकारकारिका' की रचना की है। यद्यपि कारिकाओं में कहीं भी शौद्धोदनि का नामतः निर्देश उपलब्ध नहीं होता तथापि

---

१. When modern Scholars see a 'formidable' list of works attached to the name of an author, they are usually Sceptical about one single writer's authorship of all these works. And when the writer happens to be a King, they generally put down those works as the productions of tne Court poets who suppressed their own names and allowed their royal patrons to become famous instead.
—Dr. V. Raghvan, Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa, p. 5

२. शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता।
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। —भोजवृत्ति, मंगलाचरण १।५

३. अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे॥ —काव्यानुशासन, १।१

उनके व्याख्यान के आदि तथा अन्त में केशवमिश्र के द्वारा शौद्धोदनि का नाम निर्देश[1] शौद्धोदनि को कारिकाओं का कर्ता सिद्ध करता है।

इनके द्वारा लिखित कतिपय कारिकाओं के विषय में पी० वी० काणे यह मानते हैं कि ये कारिकाएँ शौद्धोदनि नामक किसी विद्वान् ने लिखी हैं अथवा किसी बौद्ध विद्वान् ने इनकी रचना करके भगवान बुद्ध को समर्पित कर दी हैं जो शौद्धोदनि नाम से अभिहित किए जाते हैं।[2] इसीलिए इन कारिकाओं का प्रणेता शौद्धोदनि नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—
सुबोधालंकार, वुत्तोदयः, सम्बन्धचिन्ता, सुसद्दसिद्धिः, योगविजिष्यः, खुद्दसिक्खाटीका।

इनमें प्रथम ग्रन्थ में अलंकार शास्त्र पर, द्वितीय में छन्दशास्त्र पर तथा तृतीय में शब्दशक्ति पर विचार है। सुसद्दसिद्धि में संक्षिप्त पालि व्याकरण उपनिबद्ध किया गया है। अन्तिम दो ग्रन्थ बौद्ध विषयक आचार को प्रतिपादित करते हैं।

अप्पयदीक्षित (१५५४—१६२६ ई०)—दार्शनिक आलंकारिकों में अप्पयदीक्षित अन्यतम हैं। कुवलयानन्द के हिन्दी व्याख्याकार भोलाशंकर व्यास के मतानुसार अप्पय-दीक्षित मूलतः मीमांसक एवं वेदान्ती हैं।[3] इसकी पुष्टिस्वरूप उन्होंने कुवलयानन्द का एक पद्य[4] प्रस्तुत कर वृत्ति में की गई उसकी व्याख्या को अप्पयदीक्षित के तद्विषयक पाण्डित्य का संकेत माना है। डॉ० पी० वी० काणे महोदय के अनुसार अप्पयदीक्षित भारद्वाज गोत्र के तमिल शैव ब्राह्मण थे। 'शिवादित्य-मणिदीपिका' के आरम्भ में आए श्लोक से उनकी अद्वैत शिवभक्ति का परिचय मिलता है।[5] वाचस्पति गैरोला ने अपने

---

१. (क) अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवाञ्शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूमाह। —केशवमिश्र, अलंकारशेखर, पृ० २

(ख) श्रुतमेवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।
काव्यालंकारविद्यायां शौद्धोदनिरसूत्रयत ॥ —वही, पृ० ८३

२. Whether Śodhodini is the name of an author or whether the Kārikās were composed by some Buddhist Writer and were subsequently ascribed to Śodhodini (a name of Bhagawān Budha).
—History of Skt. Poetics, P. V. Kane, p. 316

३. भोलाशंकर व्यास, कुवलयानन्द, भूमिका, पृ० ३

४. आश्रित्य नूनमतद्युतयः पदं ते,
देहक्षयोपनतदिव्यपदाभिमुख्याः।
लावण्यपुण्यनिचयं सहृदित्वदास्ये,
विन्यस्य यांति मिहिरं प्रतिभासभिन्नाः। —वही

५. यद्यप्यद्वैत एव श्रुति शिखरगिरा भागमानां च निष्टा।
······प्रत्नैराचार्यरत्नैरपिपरिजगृहे शंकराद्यस्तदेव ॥
तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दु शिखरामणेः।
अद्वैतवासनापुंसाभाविर्भवति नान्यथा ॥
—पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३९३

ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में अप्पयदीक्षित की गणना अद्वैत वेदान्त के सर्वोच्च विद्वानों मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, श्री हर्ष और मधुसूदन सरस्वती की कोटि में की है।[1] वेदान्त का अध्ययन उन्होंने अपने पिता रंगराजाध्वरी से ही किया था।[2]

कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा एवं वृत्तिवार्तिक इनकी साहित्यशास्त्रीय मौलिक कृतियाँ हैं जिनमें कुवलयानन्द अत्यधिक लोकप्रिय हैं। इनके नाम से उपलब्ध दर्शन विषयक कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है। दर्शन के क्षेत्र में इनके ग्रन्थ मीमांसा, वेदान्त, मध्वमत, रामानुजमत और शैव दर्शन आदि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध हैं। दर्शन के क्षेत्र में इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) **अद्वैतवेदान्तविषयक ६ ग्रन्थ**—श्री परिमल, सिद्धान्तलेशसंग्रह, वेदान्तलक्षणवादावली, मध्वतन्त्रमुखमर्दनम्, मध्वमतविध्वंसनम्, न्यायरक्षामणि।

(२) **भक्तिविषयक २६ रचनाएँ**—शिखरणीमाला, शिवतत्त्वविवेक, ब्रह्मतर्कस्तव (लघु विवरण), आदित्यस्तवरत्नम् तथा इसकी व्याख्या, शिवाद्वैतनिर्णय, शिवध्यान पद्धति, पंचरत्न तथा इसकी व्याख्या, आत्मार्पणम्, मानसोल्लास, आनन्दलहरी, चन्द्रिका, शिवमहिमकालिकास्तुति, रत्नत्रयपरीक्षा तथा इसकी व्याख्या, अरुणाचलेश्वरस्तुति, अपीतकुचाम्बास्तव, चन्द्राकलास्तव, शिवाकर्मणिदीपिका, शिवपूजाविधि, नयमणिमाला तथा इसकी व्याख्या।

(३) **माध्वसिद्धान्तानुयायी २ ग्रन्थ**—न्यायरत्नमाला तथा इसकी व्याख्या।

(४) **पूर्वमीमांसाशास्त्र पर २ ग्रन्थ**—नक्षत्रवादावली तथा विधिरसायनम्।

इनकी दर्शनविषयक कृतियों की बहुत संख्या देखते हुए डॉ० राघवन इन्हें एक ही व्यक्ति की कृति नहीं मानते। उनके अनुसार इसी कुल में कम से कम तीन अप्पयदीक्षित हुए हैं।[3] किन्तु 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामक वेदान्तशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के कर्त्ता यही अप्पयदीक्षित हैं, इस विषय में कोई भी विवाद नहीं है।

अप्पयदीक्षित के मीमांसा तथा शैव विषयक अनेक रचनाओं को देखते हुए इन्हें मीमांसक अथवा शैव भी कहा जाता है किन्तु उनका वेदान्ती होना ही विद्वद्वर्ग को अधिक मान्य है। पण्डितराज जगन्नाथ से इनकी दार्शनिक स्पर्धा थी। फलतः पण्डितराज ने इनकी साहित्यिक मान्यताओं का पदे-पदे खण्डन किया है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि एक उच्चकोटि एवं महत्वपूर्ण काव्यशास्त्री होने के साथ-साथ अप्पयदीक्षित एक सफल दार्शनिक भी थे।

पण्डितराज जगन्नाथ (१६६२ ई०)—पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक काव्यशास्त्री हैं। काव्य के उत्कट विद्वान् होने के साथ-साथ ये दर्शनशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। काव्यशास्त्र के इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—रस-

---

१. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृ० ३९७

२. वही,

३. Dr. V. Raghvan, Appayya Dīksitas II and III
—Tenth Oriental Conference, Tirupati, March 1940

गंगाधर एव चित्रमीमांसाखण्डन। इनमें मात्र रसगंगाधर ही इनकी दार्शनिकता पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। पण्डितराज ने यद्यपि स्थान-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण मंगल रूप में किया है, तथापि वे प्रधानतया वैष्णव धर्मानुयायी ही प्रतीत होते हैं।[1]

पण्डितराज दर्शन की विविध विधाओं के ज्ञाता थे। इसका संकेत उन्होंने स्वयं रसगंगाधर में करते हुए[2] कहा है कि उन्होंने ज्ञानेन्द्र भिक्षु नामक किसी सन्यासी से वेदान्तशास्त्र का, महेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक का, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था।

दर्शन-विधाओं के उद्धरण तथा सिद्धान्तादि के अवसरानुकूल उचित प्रयोग रसगंगाधर में पदे-पदे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका रसगंगाधर नव्यन्याय की शैली में लिखा हुआ है। न्याय-दर्शन की भाषा शैली ही नहीं, विषय-निरूपण पद्धति भी अपनाई गई है। काव्य लक्षण में सामान्य, परिष्कृत एवं फलित लक्षण उसी पद्धति पर दिए गये हैं। प्रतिपक्षी को निरुत्तर करने की इनकी प्रक्रिया भी नैयायिक है।

शैली एवं निरूपण प्रणाली के अतिरिक्त नैयायिक दृष्टिकोणों का भी तथा उनके सिद्धान्त-पक्ष का भी इन्होंने प्रयोग किया है। शब्दशक्तियों में लक्षणा तो उन्हीं से ली गई है। प्रतिभा के स्वरूप, काव्य के स्वरूप आदि विषयों में नैयायिक सिद्धान्त बहुलतया बिखरे मिलते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन की न्याय शाखा ने रसगंगाधर को अत्यधिक प्रभावित एवं आच्छादित किया है।

पण्डितराज मीमांसादर्शन के भी प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं। मीमांसा के तत्त्वों का भी यत्र-तत्र प्रयोग उनके रसगंगाधर में दृष्टिगोचर होता है किन्तु बहुत सीमित मात्रा में। सम्भवतः इसलिए कि वे मूलतः एक वेदान्ती थे। इसीलिए मीमांसा तत्त्वों का वहीं तक प्रयोग उन्होंने किया जहाँ तक एक वेदान्ती की दृष्टि उसे अनुमति प्रदान कर सकी। मीमांसक तत्त्वों का किंचित् प्रयोग शब्दशक्तियों के प्रसंग में उपलब्ध होता है किन्तु वहाँ भी व्याकरण पक्ष ही मुख्य है।

उनके दार्शनिक चिन्तन की मूल आत्मा है वेदान्त। इनकी वेदान्ती चेतना अतीव जागरूक एवं सुव्यवस्थित है। काव्यशास्त्र की समस्याओं का जहाँ कहीं भी गम्भीर

---

१. स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ति नृणा—
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुर द्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी॥
—रस० ग० ध० (चन्द्रिका) १।१

२. श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः॥ —वही, १।२

विवेचन करने का अवसर इन्हें उपलब्ध हुआ वहीं ये वेदान्ती हो गए। रस के स्वरूप विवेचेन में तो सर्वाधिक वेदान्त का प्रयोग हुआ है। गुणों के प्रति भी भिन्न दृष्टिकोण का ग्रहण वेदान्त सिद्धान्त के अनुरूप ही है। वेदान्त की मूल व्यवस्थित दृष्टि के कारण ही वे काव्यशास्त्र को वस्तुतः दर्शन का रूप दे सके। वेदान्त-दर्शन से अत्यधिक अनुराग होने के कारण ही इन्होंने अभिनवगुप्त के निर्विवाद 'अभिव्यक्तिवाद' नामक शैव सिद्धान्त का भी वेदान्ती-करण कर दिखाया है।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों की छाया से अनुप्राणित रसगंगाधर अपनी महिमा में काव्यशास्त्र के अन्य सभी ग्रन्थों से पृथक् है। केवलमात्र पण्डितराज ही ऐसे काव्यशास्त्री हुए हैं जिन्होंने समूचे काव्यशास्त्र की आधारभूमि को दर्शन की छाया से अनुप्राणित कर काव्यशास्त्र को ही दर्शन की श्रेणी में पहुँचा दिया।

द्वितीय अध्याय

रस विवेचन का दार्शनिक आधार

१. रस संज्ञा की औपनिषद पृष्ठभूमि

काव्यजन्य अनुभूति के एक विशेष प्रकार के लिए 'रस' संज्ञा का प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ यह बताना सरल नहीं है। जहाँ तक रस शब्द का सम्बन्ध है इसका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितने वेद। वैदिक संहिताओं में 'रस' शब्द का प्रयोग सुरा[1], षड्स[2] तथा आनन्द[3] के लिए हुआ है।

दर्शन-ग्रन्थों में यदि उपनिषदों को ही सर्वप्रथम लें तो यहाँ भी रस के विविध अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में तो जगत् के मूलभूत तत्त्व को भी रस पद से ही अभिहित किया गया है तथा उसे ही आनन्द की अनुभूति का एकमात्र स्रोत बताया गया है।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण को अंगों का रस अर्थात् सारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[5] तन्मात्रा विशेष के लिए भी रस शब्द के प्रयोग उपनिषदों में ही उपलब्ध होते हैं।[6] रसनेन्द्रिय से ग्राह्य मधुरादि रसों के अतिरिक्त आस्वाद्य अर्थ में रस का प्रयोग बृहदारण्यकोपनिषद्[7], सुबालोपनिषद्[8],

---

१. मध्वो रसो सुगमस्तिः। —ऋ० वे० ५।४३।४

२. रसा रजांस्यनुविष्टिताः। —वही, १।१८७।४

३. यो वः शिवतमो रसः। —वही, १०।९।२

४. रसो वै सः ।। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।।
—तै० उप०, ब्रह्मानन्द वल्ली, सप्तम अनुवाक्।

५. प्राणो वा अङ्गानां रसः। —बृ० आ० उप० १।३।१९

६. (क) येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वैतत् ।। —क० उप० ४।३
(ख) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।। —वही, ३।१५

७. यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते, नहि रसयितु रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न; तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्। —बृ० आ० उप० ४।३।२५

८. जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति···विज्ञानमेवाप्येति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच। —सु० उप० ९।५

गोपालोपनिषद्[1] तथा प्रश्नोपनिषद्[2] में हुआ है।

उपनिषदों के साथ ही रस संज्ञा का प्रवेश दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत हुआ है। न्याय[3] तथा वैशेषिक[4] दर्शन-विधाओं ने रस को गुण मान इसका निरुपण किया है। भारतीय दर्शन-विधाओं में सांख्य ने इसको अपनी विचारप्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। सांख्यशास्त्र की विषय पद्धति में पंचमहाभूतों की प्रकृति पर विचार करते हुए ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तुमात्र के लिए 'रस' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इसी बात को डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट करते हुए कहा है, "अतः सांख्य-दर्शन में रस का जो अर्थ निर्दिष्ट है, वही मूल अर्थ है। सांख्य में रस का तात्पर्य है ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तुमात्र। इसमें किंचित् भी शंका नहीं है। विज्ञानवाद और वेदान्त का अपने दर्शन-क्षेत्र में प्रवेश होने से पूर्व यहाँ के शास्त्रों का अधिष्ठान सामान्यतः भौतिक था और आयुर्वेद तथा नाट्यशास्त्र तो निश्चित ही मौलिक थे। इन दोनों शास्त्रों ने तो आरम्भ में सांख्य का तत्त्वज्ञान ही ग्रहण किया था।···नाट्यशास्त्र में रस का तात्पर्य है नाट्य में उपलब्ध वस्तुमात्र। अतः रस का तात्पर्य हुआ आस्वाद्य अर्थात् आस्वाद जिसका भाव या गुण है ऐसी वस्तु, अथवा आस्वाद का अधिष्ठान्।"[5]

अब यदि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'रस' पद के प्रयोग पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि उपनिषदों में उपलब्ध 'रस' के विविध प्रयोग काव्यशास्त्र में भी ग्रहण किये गए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित रस की भाँति काव्य के रस का सम्बन्ध भी आनन्द से है। साहित्यिक क्षेत्र में रसगंगाधर जैसे साहित्यिकों द्वारा समादृत रस के स्वरूप का आधार तैत्तिरीय उपनिषद् ही है। तैत्तिरीय का रस रूप आनन्द ही वास्तविक आनन्द है, क्योंकि अनादिकाल से जन्म-मृत्यु रूप घोर दुःख का अनुभव करने वाला यह जीवात्मा इस रसमय ब्रह्म को पाकर ही आनन्दित होता है।

उपनिषदों की भाँति काव्य में भी रस को सारभूत तत्त्व के रूप में माना गया है।[6] जिस प्रकार दर्शन में रसप्राप्ति अथवा ब्रह्मप्राप्ति को दृष्टि में रखकर दर्शन के सभी प्रमुख तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है उसी प्रकार काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी यह कहा गया है कि नाटक के सभी तत्त्वों का निरूपण काव्यरस की प्राप्ति के हेतु हुआ है। दर्शन के आस्वाद्य अर्थ में रस के प्रयोग भी काव्यशास्त्र में उपलब्ध होते हैं।[7]

---

१. रसवत्य आपो रसाभ्यो भिन्नास्तास्वप्सु तिष्ठति। —गोपालोत्तरतापिनी
आपो न विदुस्तं हि स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि। उपनिषद् १।३

२. रसश्च रसयितव्यं —प्र० उप० ४।८

३. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। —न्या० सू० १।१।१४

४. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। —वै० सू० १।१।६

५. सौन्दर्य तत्त्व और काव्यसिद्धान्त, पृ० ६०

६. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। —ना० शा०, भा० १, पृ० २७२

७. रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। —वही, पृ० २८८

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'रस' शब्द का उपनिषदों में प्रयोग ब्रह्म या आत्मतत्त्व के लिए किया गया है। किन्तु इन स्थलों की व्याख्या करने से हम इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं कि ब्रह्म या आत्मा के लिए 'रस' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन इन तत्त्वों की अनुभूयमानता ही है। ब्रह्मत्व या आत्मत्व का आनन्द के रूप में आस्वाद होता है जो 'रस आस्वादने' धातु के अर्थ के अति सन्निकट है। यही स्थिति काव्य में भी है। काव्य के मुख्य तत्त्वों रस, वस्तु, अलंकार एवं ध्वनि में से मात्र रस ही ऐसा है जो आस्वाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृत स्थल में रससंज्ञा उस तत्त्व की है जो आस्वाद्य नहीं अपितु वस्तुतः आस्वाद ही है। जिस प्रकार प्रज्ञानघन ज्ञान रूप होता है जिसको अनुभव भी कहते हैं उसी प्रकार काव्यार्थ के आस्वादनात्मक अनुभव को ही रस कहते हैं।[1] अतः काव्यजन्य रससंज्ञा पर दर्शन का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अक्षुण्ण है।

२. रसनिष्पत्ति विषयक विविध वादों के दार्शनिक आधार

रसनिष्पत्ति संस्कृत काव्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। 'रस' जैसे महत्वपूर्ण विषय का इतिहास रस परिभाषा अथवा स्वरूप से प्रारम्भ न होकर रस-निष्पत्ति से प्रारम्भ होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र पर उपलब्ध आदि ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र इस विषय में प्रबल प्रमाण है।[2] उनके रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों की भारतीय दर्शन के अनुरूप व्याख्या की जा सकती है। भारतीय दर्शन ग्रन्थों में दो पृथक् रह सकने वाले द्रव्यों के सम्बन्ध को संयोग कहा गया है। कारण-कार्य का सम्बन्ध संयोग नहीं है क्योंकि इनका पृथक् अस्तित्व सम्भव नहीं। भरत के रससूत्र में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' है। भारतीय दर्शन ग्रन्थों में कारण से कार्य की उत्पत्ति की चर्चा में बताया गया है कि कारण का कार्य से 'अनन्यथासिद्ध' नियतपूर्ववृत्ति का सम्बन्ध है[3] तथा कारण सामग्री की उपस्थिति के साथ-साथ कार्य की उत्पत्ति होने के लिए प्रतिबन्धकाभाव भी होना चाहिए।

किन्तु भरत के रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द दर्शन के संयोग से सर्वथा भिन्न है क्योंकि विभानुभावव्यभिचारिभाव पदार्थ ही नहीं है, साथ ही उनका उदाहरण के माध्यम से संयोग का स्पष्टीकरण[4] तो यही बताता है कि विभावादि का परस्पर संयोग

---

१. आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

—ना० शा०, भा० १, पृ० २७७

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः। —ना० शा० पृ० २७२

३. अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता।
कारणत्वं भवेत्.................. ॥ —न्या० सि० मु०, का०, १६

४. ...यथाहि नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रस-निष्पत्तिः। यथाहि-गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्चषाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

—ना० शा०, भा० १, पृ० २८७-८८

नाना प्रकार के व्यंजनों और औषधियों के संयोग के समान है जिन्हें पृथक करना संभव नहीं जबकि दर्शन का 'संयोग' दो पृथक रह सकने वाले द्रव्यों का संयोग है। इस प्रकार भरत की 'निष्पत्ति' भी दर्शन की 'उत्पत्ति' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती क्योंकि मृत्तिका आदि घट निर्मिति के पूर्व विद्यमान होने के समान विभावादि रसनिष्पत्ति से पूर्व विद्यमान नहीं होते और न ही रस घट आदि की भाँति दृष्टिगोचर होता है। अतः भरत की निष्पत्ति का स्पष्टीकरण भी दार्शनिक प्रभाव से शून्य है।

भरत के समय यद्यपि भारतीय दार्शनिक चेतना अपनी विकसित अवस्था में थी, फिर भी भरत ने 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्या दार्शनिक रूप में न कर लौकिक एवं व्यवहारिक रूप में संभवतः इसलिए की कि उस समय दर्शन जीवन से दूर ही पनपता रहा। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि भरत पर किसी दार्शनिक वाद का प्रभाव लक्षित नहीं होता।[1]

भरत के रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्या की आवश्यकता को समझते हुए चिन्तन की सूक्ष्म एवं दार्शनिक शैलियों से परिचित विद्वानों ने इन शब्दों की दार्शनिक व्याख्याएँ कीं जिनसे विभिन्न विद्वानों में मतभेद एवं आलोचनाएँ होने लगीं। भट्टलोल्लट, श्री शकुंक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त नामक चार ही प्रमुख आचार्य हुए हैं। अतः इन आचार्यों की दर्शन परक व्याख्याओं का विवरण नीचे दिया जाता है—

(क) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद

उत्पत्तिवाद की चर्चा यद्यपि भरत[2], भामह[3], दण्डी[4], उद्भट[5] आदि में उपलब्ध

---

१. But he has not accounted psychologically and philosophically for the appearance of all the constituents of aesthetic representation in the spectators consciousness, because he was primarily a dramaturgist and not a philosopher or psychologist.

—Comparative aesthetics, p, 44

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः। —ना० शा० पृ० २७२

३. रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा।
दैवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता। —का० अ० ३।६

४. (क) इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः। —का० द० २।२८३
(ख) इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥ —वही, २।२८५

५. रसवदर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।
—का० अ० सा० सं० ४।३

होती है और इसी कारण अभिनवगुप्त ने इसे लोल्लट की मौलिकता नहीं कहा।[1] तथापि उत्पत्तिवाद को एक व्यवस्थित रूप प्रदान कर इसकी दर्शनपरक व्याख्या कर एक स्वतन्त्र वाद के रूप में प्रचलित करने वाले भट्टलोल्लट ही इसके प्रथम व्याख्याता कहे जाते हैं। इनकी मौलिक कृति उपलब्ध न होने के कारण अभिनवगुप्त तथा मम्मट के ग्रन्थों में उद्धृत लोल्लट के मत का आश्रय लेना पड़ता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भट्टलोल्लट के अनुसार 'संयोग' शब्द का अर्थ है 'सम्बन्ध' और यह सम्बन्ध भी तीन प्रकार का होता है। उत्पाद्योत्पादकभाव सम्बन्ध, गम्यगमकभाव सम्बन्ध और पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध। इसी प्रकार 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि।[2]

लोचन,[3] अभिनवभारती[4] तथा काव्यप्रकाश[5] में उपलब्ध लोल्लट के उत्पत्तिवाद की व्याख्या का आधार कुछ विद्वान् शैवदर्शन मानते हैं, कोई वेदान्त तथा अन्य मीमांसा दर्शन को ही लोल्लट के सिद्धान्त में प्रतिबिम्बित होता हुआ मानते हैं। इनमें से प्रत्येक

---

१. चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वाङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि। "रतिः शृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन" इति, 'अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।' इत्यादि च। —ना० शा०, अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२

२. अत्र भट्टलोल्लटादयः। स्थायिनां रत्यादीनां विभावेन सह जन्यजनकभाव उद्दीप्योद्दीपकभावश्च, अनुभावेन ज्ञाप्यज्ञापकभावः व्यभिचारिभिः पोष्यपोषकभावः सम्बन्धः। निष्पत्तिस्तु क्रमेणोत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः।
—श्रीविश्वेश्वर पाण्डेय, रसचन्द्रिका, पृ० ४४

३. तथाहि पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्।
—लो०, ध्व० लो०, पृ० १६३-६४

४. अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् अपितु भावानामेव। (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योदभूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायिभवत्वमुपचितः। स चोभयोरपि। (मुख्यया वृत्त्या रामादौ) अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति। —ना० शा०, अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२

५. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितोः मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये; तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस, इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।
—का० प्र०, चतुर्थ अध्याय, पृ० १०१

कोटि के विद्वानों का आलोचनात्मक निरीक्षण करने पर अन्त में यह सिद्ध किया जा सकता है कि भट्टलोल्लट मूलतः मीमांसक ही थे और उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद नामक उनकी रसव्याख्या मुख्यतः मीमांसा सिद्धान्तों अथवा तत्त्वों पर आधारित है।

भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त का आधार—शैवदर्शन—डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोधग्रन्थ 'स्वतन्त्र कलाशास्त्र' में भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उनके उत्पत्तिवाद को शैवदर्शन पर आधारित माना है। उन्होंने अभिनवगुप्त तथा मम्मट द्वारा उद्धृत लोल्लट के रस-व्याख्यान में प्रयुक्त 'अनुसंधान' शब्द को 'अभिमान' और 'आरोप' से भिन्न 'योजना' का पर्यायवाची कह इसकी पुष्टि में दो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। एक तो यह कि भट्टलोल्लट ने भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त स्पन्दकारिका पर भी टीका लिखी थी और दूसरा यह कि उन्होंने 'अनुसंधान' शब्द शैवदर्शन ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका और विमर्शिनी से लिया है।[1]

डॉ० सत्यव्रत सिंह भी 'अनुसंधान' शब्द के आधार पर ही लोल्लट के मत को शैवदर्शन पर आधारित मान लिया है।[2]

किन्तु डॉ० पाण्डेय तथा डॉ० सत्यव्रत सिंह द्वारा प्रस्तुत किये गए प्रमाण पुष्ट नहीं हैं। वसुगुप्त की स्पन्दकारिका पर टीका लिखना अपने आप में कोई प्रमाण नहीं है और फिर स्पन्दकारिका में तो 'अनुसंधान' शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ। 'अनुसंधान' शब्द का प्रयोग लोल्लट ने 'योजना' के अर्थ में किया हो इसका भी कोई विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होता और न ही लोल्लट के रस-सिद्धान्त में शैवदर्शन की कोई प्रत्यक्ष छाप ही मिलती है। दूसरे, लोल्लट ने टीका लिखी है स्पन्दकारिका पर और उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका और विमर्शिनी को। लोल्लट के रस-विवेचन में उपलब्ध 'अनुसंधान' शब्द सामाजिक को इंगित करता है, नट को नहीं। 'रामादिरूपतानुसंधानबलात् रसः इति' कहने का अभिप्राय है कि नट में भी रस विद्यमान होता है। इसकी नट पक्ष से तथा मुख्य रूप से सामाजिक पक्ष से संगत व्याख्या तभी बन सकती है जबकि 'अनुसंधान' का अर्थ 'आरोप' लिया जाए न कि 'योजना'। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि लोल्लट के रस-विवेचन में शैवदर्शन का किंचित् भी प्रभाव नहीं है।

भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त का आधार—वेदान्तदर्शन—आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट को वेदान्ती कहा है। उनका कहना है, "इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार की गई व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तरमीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गई है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीताविषयिणी

---

१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ६६
२. का० प्र०, डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ७४

अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तरमीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुगामी कहा जा सकता है।"[1]

आचार्य विश्वेश्वर ने रज्जु में सर्प की आरोपित प्रतीति की बात कह इसे वेदान्त-दर्शन पर आधारित मान लिया है। पूर्वमीमांसा में भी पक्षधर मिश्र आदि विद्वानों ने भी भ्रान्तिज्ञान की चर्चा करते हुए रज्जु में सर्प की प्रतीति को 'भ्रान्तिज्ञान' कहा है।[2] क्योंकि इसमें सर्पत्वप्रकारक सर्पविषयक ज्ञान का रज्जुत्वप्रकारक रज्जुविषय में आरोप किया जाता है। तो क्यों नहीं हम लोल्लट की रसव्याख्या का आधार मीमांसकों का 'भ्रान्ति-ज्ञान' ही मान लें। अभिनेता भी रंगमंच पर नायक के समान वेशभूषा, हावभाव आदि का आरोप कर लेता है। फलस्वरूप दर्शक अथवा सामाजिक अभिनेता नट पर नायक की तुल्यरूपता के आरोप को देखकर चमत्कृत होता है। लोल्लट का मत इसी आधार पर 'आरोपवाद' कहलाता है तथा आरोप नट के कौशलवश उत्पादित भ्रम का कार्य है। अतः आचार्य विश्वेश्वर का भट्टलोल्लट को वेदान्ती सिद्ध कर उनकी व्याख्या को वेदान्तपरक मानना युक्तियुक्त नहीं।

भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त का आधार—मीमांसादर्शन—लोल्लट का सिद्धान्त न तो शैवदर्शन पर आधारित है और न ही वेदान्तदर्शन पर अपितु उनकी रसव्याख्या पूर्णरूपेण मीमांसा के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों के अनुरूप प्रतीत होती है इसको मिथ्याज्ञान के आधार पर प्रमाणित किया ही जा चुका है। साथ ही इस प्रमाण की पुष्टि के लिए दूसरे विद्वानों के मत भी दिए जा सकते हैं।

अभिनवभारती के एक उद्धरण के आधार पर डॉ० पी० वी० काणे ने उन्हें पूर्वमीमांसक कहा है।[3] यद्यपि उनके मीमांसा को आधार मानने का कोई स्पष्ट संकेत अभिनवगुप्त और मम्मट द्वारा उद्धृत लोल्लट की व्याख्या में नहीं किया गया तथापि उन्हें मीमांसक मान उनकी रसव्याख्या का आधार मीमांसादर्शन ही सभी आलंकारिकों ने माना है। सम्भव है लोल्लट की व्याख्या के अनुपलब्ध अंशों में मीमांसा सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया गया हो। झलकीकर वामन ने लोल्लट को भाट्टमतोपजीवी मीमांसक

---

१. का० प्र०, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १०१-२

२. भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र, पृ० २६५-६६

३. "प्रत्येकप्रसङ्गत्वलाभात् क्रमस्यापदार्थत्वान्नार्थप्रमाणकत्वान्मुख्यश्रौतपदार्थबाधक-त्वमयुक्तं श्रुत्या वाक्यप्रमाणस्य बाधनादिति तु भट्टलोल्लटोक्त प्रकृते सिध्यति विरोधाभावात्।"

देखो जैमिनि के प्रसिद्ध सूत्र "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं" (III. ३, १४)

—पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ६२

कहा है[1] तथा तद्रूपतानुसंधान शब्द का क्रमशः 'अभिमान' तथा 'आरोप' अर्थ किया है।[2] इसके साथ ही उन्होंने लोल्लट के मत की रज्जु तथा सर्पविषयक असत्यज्ञान से तुलना की है और दोनों को समकक्ष माना है।[3] काव्यप्रकाश की नागेश्वरी टीका में भी 'अनुसंधान' के दो अर्थ 'अभिमान' और 'आरोप' किए गये हैं।[4] किन्तु आचार्य जगन्नाथ के रसगंगाधर में 'आरोप' शब्द उपलब्ध होता है।[5] इन दोनों अर्थों में 'आरोप' अर्थ ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि भट्टलोल्लट की दृष्टि नट और नायक पर ही केन्द्रित रही तथा नट पर नायक के आरोप को दिखाने के लिए ही उन्होंने 'अनुसंधान' शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिए लोल्लट के मत की प्रसिद्धि 'आरोपवाद' के नाम से हुई। आरोप भी आहार्य एवं अनाहार्य दो प्रकार का होता है। लोल्लट द्वारा प्रयुक्त आरोप भ्रमवश होने के कारण अनाहार्य कोटि में आता है। फलस्वरूप आरोप्यमाण और अरोप्यविषय का भेद समाप्त हो जाता है।

मीमांसादर्शन का 'अपूर्व' का सिद्धान्त भी लोल्लट की रस प्रक्रिया में घटित होता है। जैमिनि का अपूर्व का सिद्धान्त अदृष्ट शक्ति का ही एक रूप है जिसका अर्थ है कोई नई वस्तु जो पहले नहीं जानी गई। कार्यकारण के सम्बन्ध में मीमांसा का यह सिद्धान्त बतलाता है कि सभी पदार्थों की उत्पत्ति के मूल में एक अदृष्ट शक्ति कार्य करती है, जो अतीन्द्रिय होने के कारण अनुभवगम्य है। इसे या तो फल का पूर्ववर्ती अदृष्ट माना जा सकता है अथवा कर्म की पश्चाद्वर्ती अवस्था। पूर्वमीमांसा में यह बताया गया है कि फल की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं, जब तक अपूर्व को माध्यम न माना जाये।[6] जब तक यह अदृष्ट शक्ति विद्यमान रहती है, तभी तक कार्योत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। कुमारिल के अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म अथवा कर्ता में एक योग्यता है जो कर्म करने से पूर्व विद्यमान नहीं रहता। यह अपूर्व का सिद्धान्त कर्मफल के सिद्धान्त का एक अंश है।

---

१. अथ भट्टमतोपजीविनां भट्टलोल्लटादीनामभिमतं पक्षमाशङ्कते।
—का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृ० २२५

२. रामस्येव वेशविशेषवाग्विधायिनी नर्तके तत्कालं रामत्वाभिमानादिति विवरणकाराः। रामत्वारोपादिति सारबोधिनीकारोद्योतकारादयः। —वही, पृ० ८८

३. यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिविद्यमानापि नर्तके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदवीमधिरोहतीति।
—का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृ० ८८

४. तद्रूपतानुसन्धानात् रामस्येव वेशविशेषादि विधायिनि नर्तके काव्यपाठके वा तात्कालिकरामत्वारोपाद् रामत्वाभिमानाद्वा।
—का० प्र०, नागेश्वरी टीका, पृ० ३५

५. ...दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते।
—र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्र० आ०, पृ० ११३

६. पूर्वमीमांसा, २।१।५

कर्मफल के व्यापक नियम के अनुसार लौकिक या वैदिक सभी कर्मों के फल संचित होते हैं जो कालान्तर में फल प्रदान करते हैं। प्रभाकर क्षमता की कल्पना कर्म में करते हैं न कि कर्ता में क्योंकि कारण रूप क्षमता प्रयत्न में रहनी चाहिए और क्योंकि सर्वव्यापी स्वभाव वाली होने के कारण आत्मा निष्क्रिय है। अत: अपूर्व आत्मा में नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त मीमांसा सूत्र[1] में यह सिद्ध किया गया है कि नियोज्य पुरुष द्वारा अभिलक्षित फल का साक्षात्कारण कार्य है। इस कार्य को कर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि कर्म अन्तिम परिणाम का साक्षात्कार नहीं है। प्रभाकर के अनुसार प्रयत्न द्वारा कर्ता एक परिणाम (कार्य) उत्पन्न करता है जिसे वह नियोग (प्रयत्न) नाम से अभिहित करते हैं। परन्तु यह नियोग जब तक भाग्य इसमें सहायक न हो फल को उत्पन्न नहीं कर सकता।

जिस प्रकार मीमांसकों ने बतलाया कि सभी पदार्थों की उत्पत्ति के मूल में एक अदृष्ट शक्ति कार्य करती है उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि रस रूपी फल प्राप्ति के मूल में वासना अथवा स्थायीभाव रूपी अदृष्ट शक्ति कार्य करती है। मीमांसक पूर्व अविद्यमान वस्तु को अपूर्व के सिद्धान्त द्वारा उत्पन्न मानता है। रस भी पहले विद्यमान नहीं होता तथा विभाव, अनुभाव आदि के अभिनय के पश्चात् ही रस की अनुभूति होती है। जिस प्रकार यह बताया गया है अदृष्ट शक्ति के विद्यमान रहने पर्यन्त ही कार्योत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार रस के सन्दर्भ में भी जब विभावानुभावादि का अभिनय होता है तभी तक रसोत्पत्ति होती रहती है, अन्यथा नहीं। रस के प्रसंग में यह अदृष्ट शक्ति नट में ही विद्यमान रहती है अथवा उसके अभिनय में और विभावादि की सहायता से अभिनय के द्वारा कार्य रूप में परिणत होकर रस रूपी फल को प्राप्त कराती है। जिस प्रकार यज्ञादि कार्यों को करने से अपूर्व उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभावादि के द्वारा भी रस की उत्पत्ति होती है। अपूर्व के भोग के समान रस को भी भोगना पड़ता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद पूर्णरूपेण मीमांसा के 'भ्रान्तिज्ञान' तथा 'अपूर्व' के सिद्धान्त पर आधारित है।

(ख) श्री शकुक का अनुमितिवाद अथवा अनुकरणवाद

भरत रससूत्र के दूसरे सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री शंकुक का सिद्धान्त अनुमान पर आधारित होने के कारण अनुमिति नाम से विख्यात है। भट्टलोल्लट के समान इनकी भी मूल कृति उपलब्ध न होने के कारण मुख्यत: लोचन, अभिनवभारती तथा काव्यप्रकाश में उपलब्ध इनकी टीका के उद्धरणों के आधार पर ही इनके मत का मूल्यांकन किया जाता है। बालबोधिनी, काव्यानुशासन आदि ग्रंथ भी इस विषय में सहायक सिद्ध हुए हैं। लोचन[2]

---

१. पूर्वमीमांसा, ३।१।३

२. तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभि: संयुज्यमानैरयं राम:······नानुकार्यादिष्विति केचित्। —लो०, पृ० १६५

अभिनवभारती[1] तथा काव्यप्रकाश[2] में उपलब्ध श्री शंकुक के उद्धरणों द्वारा कृत भरत रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्या न्याय की अनुमान प्रक्रिया के आधार पर की गई है। वहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ अनुमिति तथा 'संयोगात्' शब्द का अर्थ व्याप्यव्यापकरूप सम्बन्ध माना गया है।[3]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्री शंकुक रति आदि स्थायीभावों की वास्तविक स्थिति रामादि अनुकार्य पात्रों में मानते हैं, नट तो उनका अनुकरण करता है तथा सहृदय सामाजिक विभावादि लिङ्गों के आधार पर इसका अनुमान कर चमत्कारपूर्ण आनन्दादि की प्राप्ति करता है।

आचार्य भट्टलोल्लट की भाँति श्री शंकुक की रसव्याख्या का आधार भी विवादास्पद है। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने अपने शोधग्रन्थ में श्री शंकुक की रसव्याख्या को बौद्ध न्यायदर्शन पर आधारित मान पुष्टि रूप में निम्नलिखित नौ प्रमाण प्रस्तुत किए हैं[4]—

१. शंकुक द्वारा उद्धृत 'मणिप्रदीपप्रभा' का सिद्धान्त बौद्धों का सिद्धान्त है।
२. चित्रतुरग न्याय बौद्ध दर्शन की विशेषता है।
३. इनके द्वारा प्रस्तुत तीसरा, चौथा, पाँचवाँ तथा आठवाँ तर्क भट्टतोत द्वारा श्री शंकुक को बौद्ध मान उनका खण्डन करने पर आधारित है।
४. श्री शंकुक ने भट्टलोल्लट के स्थायी की अनुपचित दशा का खण्डन करते हुए प्रत्यक्ष तथा अनुमान केवल दो ही प्रमाणों को आधार माना है।
५. विज्ञानवाद के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान से ही भाव की सत्ता सिद्ध होती है, शंकुक भी रसों से भावों का होना मानते हैं, भावों से रसों का होना नहीं।
६. शंकुक द्वारा यथार्थ ज्ञान के लिए सम्यक् ज्ञान शब्द का प्रयोग तो विशेषतः बौद्ध है।

डॉ० गुप्त द्वारा प्रस्तुत श्री शंकुक को बौद्ध मानने के नौ आधारों को तर्क एवं आलोचना की कसौटी पर कसने से यह ज्ञात हो जाएगा कि ये प्रमाण अधिक सशक्त नहीं हैं।

इनके पहले तर्क का आधार है 'मणिप्रदीपप्रभा' का सिद्धान्त। किन्तु 'मणिप्रदीपप्रभा' का सिद्धान्त केवल बौद्धों का ही सिद्धान्त नहीं है। रस को अनुमेय मानने

---

१. ···हेतुर्त्रिविभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहकारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः······ नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। —ना० शा०, अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२
२. ···विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि··· सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः।
—का० प्र० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १०३
३. श्रीशङ्कुकस्तु विभावादिभिः सह स्थायिनः संयोगात् व्याप्यव्यापकरूपात्सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः। —रसचन्द्रिका, पृ० ४४
४. देखिए, रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १३४ से १४१ तक

वाले महिमभट्ट ने भी इस उद्धरण को प्रस्तुत किया है।[1] इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि मिथ्याज्ञान अथवा भ्रान्तिज्ञान से भी यथार्थवस्तु के समान फल की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शंकुक के मत में अनुक्रियमाण रति को जो रस कहा गया है, उसमें भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान का अवसर नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः रस को सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य नामक प्रतीतियों से विलक्षण माना है।[2] अभिनवभारती में स्पष्टतः नट में रामादि की प्रतीति को भ्रान्त प्रतीति से विलक्षण कहा गया है।[3] 'मणिप्रदीपप्रभयोः' इत्यादि श्लोक की लोचन में अनुपलब्धि यह सूचित करती है कि अभिनवगुप्त ने एक उदाहरण मात्र होने के कारण इसको प्रस्तुत करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। प्रायः यह देखा जाता है कि बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपलभ्यमान सर्वमान्य सिद्धान्त का उपयोग उपमा रूप में किसी तथ्य की पुष्टि के लिए कर लिया जाता है। मीमांसकों के 'मानमेयोदयः' में भी यह उद्धृत किया गया है।[4] किन्तु उस उद्धरणमात्र के आधार पर मूल सिद्धान्त को किसी दर्शन विशेष से जोड़ देना असंगत प्रतीत होता है।

बौद्धों का 'चित्रतुरगन्याय' भी शंकुक के रस-सिद्धान्त में घटित नहीं होता क्योंकि चित्रतुरगन्याय तो लोक में प्रचलित काकतालीय, तिलतण्डुल आदि न्याय की भाँति ही एक न्यायमात्र है। यह बात अलग है कि धर्मकीर्ति ने इसका उल्लेख पहले कर दिया हो। दूसरे, नैयायिकों के सामान्य के सिद्धान्त के अनुसार दो वस्तुओं में एकाकार प्रतीति होती है फिर सामान्य को न मानने वाले बौद्धों के सिद्धान्त का ही आश्रय क्यों लिया जाए? और फिर गुप्त जी ने प्रमाणवार्तिक की जो कारिका उद्धरण रूप में प्रस्तुत की है, उसका उल्लेख न तो लोचन एवं अभिनवभारती में हुआ है और न ही काव्यप्रकाश में। अभिनवगुप्त ने परमार्थसार में इस कारिका को श्री शंकुक के लिए प्रस्तुत किया है ऐसा उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता, और फिर श्री शंकुक के रस-सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्त ने इसे जब अभिनवभारती एवं लोचन में प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया तो फिर अपनी अन्य पुस्तक में प्रस्तुत करना इस विषय में क्या प्रमाण हो सकता है।

---

१. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥ —व्य० वि०, पृ० ७४

२. न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु (सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन) यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। —ना० शा०, अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३

३. प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥ —वही

४. मानमेयोदयः, पृ० १९

डॉ० गुप्त द्वारा प्रस्तुत तीसरा, चौथा, पाँचवा तथा आठवाँ प्रमाण भट्टतोत के द्वारा श्री शंकुक के किये गए खण्डन के आधार पर है। भट्टतोत द्वारा श्री शंकुक को बौद्ध मानकर खण्डन किया जाना तो कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं बनता।

श्री शंकुक द्वारा भट्टलोल्लट की स्थायी की अनुपचित दशा का भावात्मक होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के आधार पर खण्डन किया है। किसी तीसरे प्रमाण की चर्चा इसलिए नहीं की क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर कोई तीसरा उपयुक्त प्रमाण नहीं है जिससे भावात्मक दशा की सत्ता स्वीकार की जा सके।

'सम्यक् ज्ञान' विशेषतः बौद्धों का ही शब्द मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह तो एक शब्दमात्र है जिसका प्रयोग दर्शन की प्रायः सभी विधाओं में हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी तर्कों में डॉ० गुप्त ने सामाजिक दृष्टि अथवा व्यावहारिक दृष्टि एवं तात्त्विक दृष्टि की बात कही है। सामाजिक तो काव्यशास्त्र का विषय है, दर्शन में तो सामाजिक से कोई प्रयोजन ही नहीं है। अतः दर्शन के आधार पर इन दोनों में भेद करना अनुपयुक्त है।

डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त द्वारा श्री शंकुक को बौद्ध नैयायिक सिद्ध करने के दुराग्रह की समालोचना करते हुए[1] डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि रस-सिद्धान्त के विवेचन में अवैदिक दार्शनिकों का रुचि लेना ही अस्वाभाविक प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रभृति जिन जैन विद्वानों ने इसमें रुचि ली भी है उनका अभिमत सर्वथा भिन्न एवं विप्रतिषिद्ध है। अतः भरतप्रोक्त नाट्यशास्त्र के टीकाकार एवं रस-सिद्धान्त के व्याख्याता श्री शंकुक को बौद्ध कहने का प्रयास तुषाराघात के समान है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि श्री शंकुक बौद्ध आचार्य नहीं थे और न ही उनके रस-विवेचन में कहीं बौद्ध सिद्धान्तों का प्रभाव लक्षित होता है।

श्री शंकुक की रस व्याख्या का आधार—न्यायदर्शन—डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने श्री शंकुक के सिद्धान्त को प्राच्यन्याय पर आधारित माना है।[2]

आचार्य शंकुक वस्तुतः नैयायिक ही हैं, इस विषय में कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। झलकीकरवामन,[3] डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी[4], डॉ० पी० वी० काणे[5], डॉ० एस० के०

---

१. रससिद्धान्त, पृ० १५९-६० २. स्वतन्त्र कलाशास्त्र, पृ० ७९

३. अन्यो योऽनुमीयमानो वह्न्यादिरूपो लौकिकविषयस्तस्माद्विलक्षणो विभिन्नः। ननु रामनिष्ठस्य रत्यादेर्नटेऽसत्त्वात्कथं नटेऽनुमानमत आह स्थायित्वेनेति···साध्यमाह इत्यादिर्भाव इति।
—बालबोधिनी, का० प्र०, पृ० ९०

४. भट्टलोल्लट नटगत स्थायी की वासनात्मक रूप में स्थिति मानते हैं—पर शंकुक का कहना है कि वह (स्थायी) नट में न रहकर भी अनुमीयमान मात्र होता है।
—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, रस विमर्श, पृ० १६

५. शंकुक के विचार में रस अनुमान का विषय है।······अनुकरण की चतुराई से इसे अनुमान का विषय माना गया है।···इस अनुमित स्थिति में विशेष सौन्दर्य होता है जो कि सामान्य अनुभूति और अनुमान से सर्वथा भिन्न होता है। अतः प्रेक्षक की रसानुभूति अनुमानाश्रित है।
—पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४५५

दे[1] प्रभृति विद्वानों ने श्री शंकुक के सिद्धान्त को अनुमान पर आधारित माना है।

श्री शंकुक की रससूत्र की व्याख्या का आरम्भ लोल्लट के उत्पत्तिवाद की समालोचना से ही होता है। उन्होंने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त की आलोचना न्यायदर्शन के आधार पर ही की है।[2] भट्टलोल्लट ने रस को कार्य कहा है किन्तु न्याय-सिद्धान्त के अनुसार कारण सदैव कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है। भट्टलोल्लट ने रस को 'विभावादि जीवितावधि'[3] कह विभावादि निमित्त कारण के नष्ट हो जाने पर रस रूपी कार्य का भी विनाश हो जाना बताया है जबकि न्यायदर्शन के अनुसार घट निर्माण रूपी कार्य में निमित्त कारण कुंभकार के विनिष्ट हो जाने के उपरान्त भी कार्य का अस्तित्त्व बना रहता है। इसी प्रकार कारण और कार्य का समानाधिकरण होना भी भट्टलोल्लट के आरोपवाद के अनुसार नहीं बनता क्योंकि इसमें रस की सत्ता तो मानी गई है अनुकार्य रामादि में और रसास्वाद का अधिकारी स्वीकार किया गया है सहृदय सामाजिक को। एक ही प्रकार की कारण सामग्री से एक ही प्रकार की कार्योत्पत्ति देखी गई है अतः एक ही हास रूप स्थायीभाव के छः भेद मानना उचित नहीं। ठीक उसी प्रकार अनेक प्रकार की कारण सामग्री से एक ही कार्य निर्माण होना सम्भव नहीं। काम की अवस्थाएँ तो दस मानी जाएँ और उनसे रति स्थायी भाव रूप श्रृंगार एक ही माना जाए, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

श्री शंकुक के अनुमितिवाद का दिग्दर्शन न्याय की अनुमान की प्रक्रिया के आधार पर किया जा सकता है। अनुमान में लिगों के द्वारा लिंगी का ज्ञान होता है। काव्य के प्रसंग में ये लिंग होंगे विभावानुभावव्यभिचारीभाव तथा लिंगी होगा अनुमेय रस। किन्तु काव्य के प्रसंग में भ्रान्ति इसलिए होती है क्योंकि वहाँ विभावादि और रस की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। श्री शंकुक के प्रबल समर्थक आचार्य महिमभट्ट ने यह सिद्ध कर

---

१. Śaṅkuka, on the other hand, is a Naiyāyika or logician who would demonstrate the Rasa by means of syllogistic reasoning. He believes that the implied Rasa can be reached by the logical process of inference from the expressed sense, although he has to admit that inferred mood is cognised differently from the objects of ordinary inference, being sensed by the spectator through the force of its exquisite charm.

—S. K. De, History of Sk.. Poetics, Vol. II, p. 125

२. विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगभावेनावगत्यनुपपत्तेः···।
... ...

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२

३. ······गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीवितावधिः, ·········श्रृङ्गारादिकों रसः। —का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०८

दिखाया है[1] कि विभावादि और रस में क्रम अवश्यम्भावी है किन्तु लाघव के कारण लक्षित नहीं होता।

अनुमान के प्रसिद्ध दो भेदों स्वार्थानुमान और परार्थानुमान में काव्य के प्रसंग में रस की परार्थानुरूपता सिद्ध की जा सकती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अनुमान की सिद्धि में व्याप्ति अत्यावश्यक अंग है और दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति बन ही नहीं सकती तो फिर तन्मूलक अनुमान का होना तो दूर की बात है। दूसरे, यह भी कहा जा सकता है कि रसानुमान के प्रसंग में पक्ष, सपक्ष, विपक्ष आदि परार्थानुमान के पंचधर्म उपलब्ध नहीं होते अतः इसके अभाव में परार्थानुमान की प्रक्रिया कैसे कार्य कर सकती है ? किन्तु काव्य के प्रसंग में व्याप्ति अथवा पंचावयव वाक्यों के अभाव में भी विभावादि साधन साध्य की प्रतीति कराने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। काव्य का सामाजिक तो कोई साधारण व्यक्ति न होकर चमत्काराधानभूत सहृदय होता है। अतः उसे तो दृष्टान्त के बिना भी हेतुमात्र से साध्य की प्रतीति स्वतः ही हो जाती है।[2]

काव्य के प्रसंग में विभावादि अनुमापक लिंग धूमादि लिंगों की भाँति वास्तविक न होकर प्रयत्नसम्पाद्य होने के कारण कृत्रिम ही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम लिंगों से अनुमान नहीं हो सकता। काव्य के विभावादि लिंग यद्यपि कृत्रिम ही होते हैं किन्तु नट की शिक्षाभ्यासवशात् वे कृत्रिम नहीं जान पड़ते और अनुकृत होने के कारण इसे 'रस' नामक भिन्न नाम से अभिहित किया जाता है। और यदि इसे कृत्रिम मान भी लिया जाए तो भी मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रियाकारिता देखी गई है। 'मणिप्रदीप-प्रभा' का सिद्धान्त इस विषय में प्रमाण है। श्री शंकुक ने अभिनेता के अभिनय-कौशल के सहारे अनुमान को सिद्ध मान उदाहरणस्वरूप यह बतलाया है कि जिस प्रकार उठती हुई धूल को धूम समझकर उससे अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार

---

१. उच्यते। वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्य-गमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरुपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं, तदेवा-स्माभिः समाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्। तद्यथा—'न हि विभावानुभावव्यभि-चारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय इत्युक्तम्' इति।

—व्यक्ति विवेक, चौ० सं० सी०, १९३६, पृ० ६३

२. अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते। तद्यथा साध्यसाधनयो-स्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात् तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषय-तयावश्यापेक्षणीयत्वात्। न। प्रद्धिसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्—

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः॥"

—व्यक्तिविवेक, चौ० सं० सी०, १९३६, पृ० ६४-६५

मिथ्या विभावादि लिंगों के आधार पर रसानुभूति हो जाती है।[1]

नैयायिक ज्ञान के प्रामाण्याप्रमाण्य का निर्धारण कार्य की उत्पत्ति की सफलता और विफलता के आधार पर ही मानते हैं। काव्य के प्रसंग में रसानुभूति रत्यादि विषयक ज्ञान विशेष का ग्रहणमात्र है। अतः काव्यानुभूति की प्रमाणान्तर से परीक्षा करना उपहासास्पद है।[2]

अतः श्री शंकुक के अनुमितिवाद पर न्यायदर्शन का प्रभाव पूर्णरूपेण स्पष्ट है।

(ग) रस की सांख्यवादी व्याख्या

श्री शंकुक के पश्चात् तथा भट्टनायक से पूर्व रस की सांख्य दृष्टि से संक्षिप्त व्याख्या अभिनवभारती में उपलब्ध होती है।[3] हेमचन्द्र ने भी इसका उल्लेख किया है[4] जो स्पष्टतः अभिनवगुप्त की ही भाषा है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसके व्याख्याकार का उल्लेख नामतः नहीं किया।

रस के सांख्यवादी सिद्धान्त के अनुसार संसार के अन्य सभी पदार्थों की भाँति त्रिगुणात्मक होने के कारण रस भी सुखदुःखमोहात्मक ही होता है। उस सामग्री में व्यंजनादि के स्थान पर विभाव और उसके संस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावादि सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख-दुःखमोह रूप स्थायी भाव रत्यादि होते हैं। इस प्रकार विभावादि ही अनुभाव और व्यभिचारी से संस्कृत होकर रस बन जाते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'संयोग' का अर्थ है विभावादि के साथ अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संस्कारक—संस्कार्यभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ है निर्मिति जो सांख्य के 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त के अनुरूप पूर्व विद्यमान तत्त्वों की ही नवीन रूप में परिणति मात्र है।

---

१. नन्वेवं कृत्रिमाणां तेषां व्याप्त्यभावात्कथमनुमापकत्वमिति चेन्न। उपस्थापकविशेष महिम्ना रत्यादिकार्य्यत्वेन ज्ञातेभ्यस्तेभ्योऽनुमानसंभवात्। धूमत्वेन ज्ञाताद् धूलीपटलादग्न्यनुमानवत्। —रसप्रदीप, पृ० २३

२. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति। —व्यक्तिविवेक, काशी संस्कृत सीरिज, पृ० ७५

३. येन त्वभ्यधायि—सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां द (त) लस्थानीया विभावाः। संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति। —अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७६

४. येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावा रसः।.........स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदुःखस्वभावा इति। —हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, अलं० चू०, पृ० ७३

रस सम्बन्धी इस सिद्धान्त का आधार है सांख्यदर्शन में वर्णित[1] प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् तथा इनका सुखदुःखमोहात्मक स्वभाव। सांख्यशास्त्र में बताया गया है कि ये गुण क्रमशः प्रीति, अप्रीति एवं विषादात्मक होते हैं।[2] टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र ने तो इसे और भी स्पष्ट किया है।[3]

इस प्रकार प्रकृति के बाह्य पदार्थ सांख्य की दृष्टि में स्वतः सुखदुःखमोहात्मक हैं तथा भोक्ता अन्तःकरण में भी सुखदुःखमोह उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं।

रस की सांख्यवादी व्याख्या के सुचारु ज्ञान के लिए सांख्य के 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त का ज्ञान भी अपेक्षित है। सांख्य के 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त के अनुसार[4] कोई भी कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी अपने करण में विद्यमान रहता है और इन्हीं पूर्वतः विद्यमान तत्त्वों की अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति है। अतः सुखदुःखमोह के उत्पन्न होने का अर्थ है अन्तःकरण के सुखदुःखादि का बाह्य सामग्री के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त हो जाना।

इसके अतिरिक्त रस की सांख्यवादी व्याख्या से सम्बन्धित दो कारिकाएँ भी सांख्यकारिका में उपलब्ध होती हैं। उनमें से एक कारिका[5] में अनुकार्य और अनुकर्त्ता के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए उन्हें सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर कहा गया है। जिस प्रकार नट विविध वेश-विन्यास के द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष अनेक रूपों में आता है, उसी प्रकार एक ही सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार की योनियों में विचरण करता हुआ नाना प्रकार के शरीर धारण करता है। दूसरी कारिका[6] में पुरुष को प्रेक्षक की भाँति तटस्थ द्रष्टा बताया गया है।

---

१. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ —ईश्वरकृष्ण, सां० का० का० १३

२. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ —वही, कारिका १२

३. अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरुपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्याः मोहरुपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः। —सां० त० कौ०, कारिका १३ पर वृत्ति, पृ० १०२-३

४. असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम्। —सां० का० ९

५. पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्टते लिङ्गम्। —वही, का० ४२

६. तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः॥ —सां० का०, का० ६५

सांख्यदर्शन की उपर्युक्त सभी बातें रस की व्याख्या में पूर्णरूपेण घटित होती हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् के समस्त बाह्य पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं तथा उनमें भोक्ता के अन्तःकरण में सुखदुःखमोहात्मक स्थिति उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान होती है। रस के सांख्यसिद्धान्त के प्रतिपादक ने भी रस की विषयसामग्री विभावानुभाव-व्यभिचारी को बाह्य मानते हुए प्रेक्षक के रसास्वाद को आनन्दात्मक न कह सुखदुःख-मोहात्मक कहा है। और जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के प्रेक्षणादि से भोक्ता को सुखदुःखादि का अनुभव होता है उसी प्रकार विभावादि रस की बाह्य सामग्री के अनुरूप जिनमें विभाव को व्यंजन और अनुभाव और व्यभिचारी को संस्कारक कहा गया है के प्रेक्षण से सहृदय सामाजिक में रति, शोक आदि आन्तरिक स्थायीभाव विभावादि से जन्य होकर सुखदुःखादि की उत्पत्ति करते हैं।

सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार कार्यकारण में सदैव विद्यमान रहता है और इन्हीं पूर्वतः विद्यमान तत्त्वों की उत्पत्ति कार्य रूप में होती है, उसी प्रकार रस भी अपनी विषयसामग्री विभावादि में विद्यमान रहता है और वही कालतः रसास्वाद रूपी कार्य में परिणत होता है। जिस प्रकार सांख्यदर्शन में बताया गया है कि सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार की योनियों में विचरण करता हुआ नाना प्रकार के शरीर धारण करता है उसी प्रकार नट के विषय में भी कहा गया है कि वह भी विविध प्रकार की वेशभूषा आदि के द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष नाना रूपों में आता है और वही क्रियाशील रहता है। सहृदय सामाजिक तो सांख्य के पुरुष की भाँति प्रेक्षक ही है जो सुखदुःखादि का आस्वाद मात्र करता है। सांख्य के इस रस-सिद्धान्त की विप्रतिप्रत्तियों का उल्लेख भी अभिनवभारती में हुआ है।[1] सबसे बड़ा दोष तो इसमें यह है कि इसमें भरत के 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' को औपचारिक प्रयोग मानकर व्याख्या की गई है। भरत के उक्त वाक्य द्वारा सहृदय सामाजिक में पहले से विद्यमान स्थायीभाव ही रस को प्राप्त होते हैं। किन्तु सांख्यवादी व्याख्या में स्थायीभाव विभावादि द्वारा जन्य होकर रसत्व को प्राप्त होते हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन में 'जन्य' अभिव्यक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है फिर भी किसी वस्तु की कारणात्मना पूर्वकालिक स्थिति और संस्कारात्मना पूर्वकालिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है।

दूसरे रस को सुखदुःखमोहात्मक मानने से भिन्न-भिन्न सामाजिकों को रस की भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीति होगी। फलतः सहृदय सामाजिकों के रसास्वाद के विरोध में प्रतीतिगत विषमता भी आ खड़ी होगी, जिससे प्रत्यक्ष जीवनगत अनुभव और नाट्यकला आदि के अनुभव में प्रकृति, गुण, मात्रा आदि का भेद नहीं रह जाता। आचार्य अभिनव-

१. तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता
ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्व्यात्
प्रामाणिको जनः परिरक्ष (क्षि) त इति किमस्योच्यते।
यत्त्वत्यन्तं नः प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत्किं यदत्रोच्यताम्।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६

गुप्त द्वारा प्रस्तुत इनका खण्डन पक्ष देखने से यह प्रतीत होता है कि वे ऐसे तर्कों पर विचार नहीं करना चाहते।

अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्टनायक से पूर्व रस पर सांख्य दृष्टि से विचार किया गया किन्तु दोषपूर्ण होने के कारण आलंकारिकों द्वारा पूर्णतः अग्राह्य एवं उपेक्षणीय ही रहा।

(घ) भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरत रससूत्र के तृतीय सुप्रसिद्ध व्याख्याता भट्टनायक हैं जिनसे पूर्व भट्टलोल्लट, श्री शंकुक एवं आनन्दवर्धन ने रस की उत्पत्ति, अनुमिति एवं अभिव्यक्ति[1] परक व्याख्याएँ की थीं। भट्टनायक ने इन तीनों ही मतों का निराकरण कर भुक्तिवाद नामक एक नवीन सिद्धान्त की परिकल्पना करते हुए कहा है कि रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है। उन्होंने रस की स्वगत[2] तथा परगत[3] प्रतीति में विप्रतिपत्तियाँ दिखाई हैं।

लोचन[4], अभिनवभारती[5] तथा काव्यप्रकाश[6] के आधार पर इनके मत के विषय में कहा जा सकता है कि इन्होंने काव्य में अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व एवं भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की परिकल्पना की है। भावकत्व व्यापार का कार्य नाट्य के विभावादि को साधारण बनाकर भोजकत्व व्यापार से सहृदय सामाजिक को रस की भुक्ति कराना है। यह भोग अनुभव और स्मरण से विलक्षण, द्रुतविस्तरविकासरूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय, चित्स्वभाव, निर्वृति या आनन्दरूप, परब्रह्मास्वाद-सहोदर एवं विश्रान्ति या विगलित-वेद्यान्तर स्थिति रूप है।

---

१. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ —ध्व० लो० १।५

२. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्।.........स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्पयम्।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६

३. ननूक्त भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्।
—लोचन, पृ० १९०-९१

४. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, ...निजचित्स्वभाव-निर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। —लोचन, पृ० १९३

५. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरुपेण निबिड-निजमोहसंकटकारिणा.........भोगेन परं भुज्यत इति।
—अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २७७

६. 'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते,.........भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।
—का० प्र०, पृ० १०७

संक्षेप में यही भट्टनायक का रस विषयक मत है जिसमें[1] 'संयोगात्' का अर्थ है भोज्यभोजकभावसम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ है भोग या आस्वादन। इसी हेतु यह मत रसभुक्तिवाद कहलाता है।

भट्टनायक की रसव्याख्या का दार्शनिक आधार विवादास्पद है। कुछ विद्वान् इनके रस सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल एक ही दर्शन से मानते हैं तो दूसरे इनकी रस-व्याख्या को दर्शन की दो या तीन विधाओं पर आधृत बताते हैं। विद्वानों के इस मतभेद का निरूपण निम्न प्रकार से किया जाता है।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—सांख्यदर्शन—आचार्य भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्य पर आधारित मानने वाले आचार्यों में गोविन्द ठक्कुर[2], श्री विश्वेश्वर पाण्डेय[3], ए० संकरन[4], एस० के० डे[5], आचार्य विश्वेश्वर[6] तथा आनन्दप्रकाश दीक्षित[7] के नाम लिए जा सकते हैं। इनका भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्य पर आधारित मानने

---

१. भट्टनायकस्तु—स्थायिनो विभावादीनां च भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्ति-र्भोगः इति सूत्रार्थः। —रसचन्द्रिका, पृ० ४५

२. भोगश्च सत्त्वगुणोद्रेकात्प्रकाशते य आनन्दस्तत्स्वरूपा········सांख्यसिद्धान्तानु-सारेण विवृणुते······। —प्रदीप, का० प्र०, पृ० ६६

३. स्थायिनो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतत्वात् सत्त्वादीनां त्र्याणामुद्रेके·····इति सांख्यसिद्धान्तात् इति व्याचख्यौ। —रसचन्द्रिका, पृ० ४६

४. For this conception of Bhoga Bhaṭṭanāyaka appears to have taken the clue from the Sāṁkhya philosophers.

—Some concepts of Al. Śāstra p. 103

५. I. Bhaṭṭa Nāyak seems to follow the Sāmkhya doctrine.

—S. K. De, Some problems of Sanskrit Poetics, p. 201

II. ······Bhaṭṭa Nāyak in his peculiar theory of aesthetic enjoyment (bhoga) is substantially following the teachings of sāṁkhya philosopher.

—S. K. De, History of Skt. Poetics, Vol. II, p. 125

६. इस सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त का अनुगामी इस रूप में कहा जा सकता है जैसे सांख्य में सुख दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं, परन्तु पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में उसकी औपाधिक प्रतीति होती है। इस सादृश्य के आधार पर ही इस सिद्धान्त को सांख्य का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। —का० प्र०, (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० १०७

७. ······भट्टनायक पर सांख्य दर्शन का प्रभाव पड़ा है···किन्तु सांख्य के जिस भोग को कैवल्य का विरोधी स्वीकार किया है, उसका प्रतिपादन करते हुए भी भट्टनायक ने परब्रह्मास्वादसहोदरता की बात कहकर एक विचित्रता उत्पन्न की है।

—रस सिद्धान्त, आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ८१

का तर्क है भोग की व्याख्या के प्रसंग में प्रयुक्त सांख्य की प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस्। पंचगणेश शास्त्री भी अभिनवभारती की पंक्तियों[1] के आधार पर भट्टनायक की भोग की व्याख्या को सांख्यदर्शन पर आधारित मानते हैं।[2]

सांख्यदर्शन के अनुसार ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहते हैं किन्तु सुखानुभूति के समय सत्त्व गुण का उद्रेक होता है और शेष दो गुण रजस् और तमस् अभिभूत हो जाते हैं। इसे ही भट्टनायक ने भोग कहा है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रभाववशात् ही पुरुष भी नाना रूपों में व्यक्त होता है। ये तीनों गुण भिन्न प्रकृति के होते हुए भी[3] दीपक के तेल, आग और बत्ती के समान प्रदीप द्वारा प्रकाश करते हैं। बुद्धि में जब इन्द्रियों के द्वारा विषय विशेष उपस्थापित होता है उसी समय पुरुष भी उससे संयुक्त होता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित विषयों का चेतन पुरुष पर आरोप होने से पुरुष उन्हें अपने से सम्बद्ध समझने लगता है। इसे ही पुरुष के द्वारा विषयों का भोग कहते हैं। रसानुभूति में भी यही होता है। विभावादि के साधारणीकरण (भावकत्व) व्यापार से सत्त्व बहुला बुद्धि में समारोपित हो विभाव रत्यादिभावों से संवलित पुरुष की अवस्था ही उसके द्वारा रत्यादि भावों का भोग है। सत्त्व गुण के लघुप्रकाशक होने से यह भोग प्रकाशात्मक एक ऐसी अनुभूति है जिसमें सत्त्व के धर्म सुख का ही अनुभव होता है, रज एवं तम के सन्निकर्ष से दुःखादि का नहीं।

भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्यदर्शन पर आधारित मानने में निम्नलिखित विप्रतिपत्तियाँ हैं :—

१. अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत[4] भट्टनायक के सिद्धान्त में 'भोग' अनुभव, स्मृति आदि ज्ञान के सामान्य रूपों से भिन्न एवं चित्त की द्रुति, विस्तार तथा विकास दशाओं से युक्त होता है। चित्त की इन तीन दशाओं को सत्त्व, रजस् और तमस् का कारण इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उद्रेक तो केवल सत्त्व का ही होता है।
२. रस भोग को प्रकाशानन्द कहना सांख्य दृष्टि से इसलिए अनुपपन्न है क्योंकि प्रकाशानन्द मानने के लिए विशुद्ध सत्त्व का होना आवश्यक है किन्तु यहाँ तो रजस्तमोनुविद्ध सत्त्वोद्रेकी चित्त का निरूपण है।
३. रस दशा को परब्रह्मास्वादसविध कहना भी सांख्य दृष्टि से नहीं बनता।

---

१. ······सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७
२. Bhaṭṭanāyaka, it seems, in his exposition of aesthetic enjoyment (Bhoga) mainly follows the teaching of Sāṁkhya philosophy.
—The philosophy of aesthetic pleasure, p. 139
३. सा० का० १२
४. भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। —लोचन, पृ० १९३

४. सांख्य दृष्टि से मानने पर रस की संविद् विश्रान्ति भी वैषयिक संस्पर्श आ जाने के कारण सम्भव नहीं। सांख्यदर्शन में प्रकृति का विकारभूत चित्त अनुभवादि समस्त प्रक्रियायों का आधार है किन्तु पुरुष उससे निःसंग रहता है लेकिन भट्टनायक के रस-सिद्धान्त में वर्णित संविद् वैषयिक संस्पर्श होने के कारण निःसंग नहीं।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भट्टनायक के भुक्तिवाद पर सांख्य के गुणवाद का प्रभाव 'रजस्तमोनुविद्ध सत्त्वोद्रेकी चित्त' के विवेचन से आगे नहीं बढ़ पाया।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—मीमांसादर्शन—आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन[1] तथा अभिनवभारती[2] में भट्टनायक को जैमिनि का अनुयायी कह मीमांसकों के भावना के सिद्धान्त को उनकी रसव्याख्या में घटित होता हुआ बताया है। अतः पूर्व-मीमांसा के भावनावाद पर ही सर्वप्रथम प्रकाश डाला जाता है।

पूर्वमीमांसकों का भावनावाद—पूर्वमीमांसकों के भावनावाद के अनुसार भावना का अर्थ है साध्य की सिद्धि के अनुकूल व्यापार-विशेष।[3] 'यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है' इस सामान्य वाक्य को भावनाक्रियावादी मीमांसक 'यज्ञ से स्वर्ग भावित होता है' कहेगा। क्रिया को मीमांसक भावना नाम से अभिहित करते हैं। यह दो प्रकार की होती है[4]—शाब्दी-भावना और आर्थी-भावना। इनमें शाब्दी-भावना वह है जो लिंगत्व के अंश से कहा जाता है। लिंग श्रवण में 'अयं मां प्रवर्तयति' से 'मत्प्रवृत्यनुकूलव्यापारवानयम्' की नियमेन प्रतीति होती है। इस शब्द से जो नियमतः प्रतीति होती है, वह उसका वाच्य है। जैसे 'गामानय' वाक्य में 'गो' शब्द का 'गोत्व'। शाब्दी-भावना में साध्य के विषय में तीन बातें अपेक्षित होती हैं[5]—साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता अर्थात् क्या सिद्ध करना है? किन साधनों द्वारा सिद्ध करना है? तथा किस प्रकार सिद्ध करना है? प्रयोजन की

---

१. न च निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्। —लोचन, पृ० १८१

२. यत्तु भट्टनायकेनोक्तं 'सिद्धेरनटादेरङ्गत्वं व्रजन्त्यास्तत्पक्षे यमिति'.........केवलं जैमिनिरनुसृतमित्यलमनेन।
—अभि० भा०, ना० शा०, भा० ३, पृ० ३०६-१०

३. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।
—अर्थसंग्रह, पृ० १२

४. सा द्विधा—'शाब्दी भावना', आर्थीभावना 'चेति'। शाब्दी भावनातत्रपुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङ्गत्वांशेनोच्यते। लिङ्ग-श्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति' 'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्' इति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य 'वाच्यम्'। यथा—'गामानय' इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य 'गोत्वम्'। —अर्थसंग्रह, पृ० १२-१३

५. सा च भावनांशत्रयमपेक्षते—(१) साध्यं (२) साधनं (३) इतिकर्त्तव्यतां च—किं भावयेत्? केन भावयेत्? कथं भावयेत्—इति। —वही, पृ० १७

इच्छा से जनित क्रिया का विषय व्यापार आर्थी-भावना का लक्षण है।[1] आर्थी-भावना में भी[2] शाब्दी-भावना की भाँति साध्य के विषय में, साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता ये तीन बातें अपेक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ[3] यजन क्रिया का साध्य स्वर्गादि है। यज्ञ उस साध्य का साधन या 'करण' है, प्रयाज आदि यज्ञ के क्रिया-कलाप इतिकर्त्तव्यता में हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन[4] में मीमांसकों की भावना की चर्चा भट्टनायक के रस-सिद्धान्त के पक्ष में करते हुए साध्य माना है रस को, साधन व्यंजना को एवं इति-कर्त्तव्यता गुणालंकारादि के औचित्य को।

भट्टनायक ने शब्द के तीन व्यापार अभिधा, भावना और भोगीकरण माने हैं। उनमें[5] वाच्यार्थ एवं वाच्यालंकारादि अभिधा के विषय-रूप में उपस्थित होते हैं। इसी भावना नामक व्यापार से शृंगारादि रस समूह भावित होकर भोगीकरण रूप सिद्धियुक्त पुरुषों के द्वारा विशेष रूप से अनुभव किया जाता है।

भट्टनायक के भुक्तिवाद को मीमांसा के 'भावना' व्यापार के पक्ष में देखने से प्रतीत होता है कि भावना सामान्य के तीन अंशों के आधार पर तो रस को साध्य, विभावादि को साधन तथा साधारणीकरण को इतिकर्त्तव्यता माना जा सकता है। किन्तु अभिनव-गुप्त ने जो व्यंजना को साधन माना है वह भट्टनायक के मत से इसलिए अनुपपन्न है क्योंकि भट्टनायक ने तो व्यंजना नामक किसी व्यापार को मान्यता ही नहीं दी। यदि भट्टनायक के सिद्धान्त को शाब्दी-भावना और आर्थी-भावना के रूप में ढाल कर देखा जाए तो प्रतीत होता है कि रस की न तो शाब्दी-भावना ही बनती है और न ही आर्थी-भावना क्योंकि शाब्दी-भावना में शब्द श्रवणादि से अर्थ की नियमेन प्रतीति होती है जैसे कि 'गो' शब्द से 'गोत्व' की किन्तु रस के प्रसंग में शब्द श्रवण से 'रस' की प्रतीति नियमेन नहीं होती और न ही रस विभावादि का वाच्य है।

---

१. प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। —अर्थ संग्रह, पृ० २१

२. साध्यंशत्रयमपेक्षते—(१) साध्यं (२) साधनं (३) इतिकर्त्तव्यतां च—किं भावयेत्? केन भावयेत्? कथं भावयेत्? इति। —वही, पृ० २४

३. तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादि फलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाक्षांयां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्त्तव्यता-त्वेनान्वेति। —अर्थसंग्रह, पृ० २४-२५

४. तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। —लोचन, पृ० २००

५. "अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो भ (हि) यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।"
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

भट्टनायक के रस-सिद्धान्त में आर्थी-भावना भी इसलिए घटित नहीं होती क्योंकि आर्थी-भावना अर्थविषयक व्यापार है जिसमें बताया गया है कि प्रयोजनेच्छा और व्यापार विशेष का प्रवर्तक एक ही व्यक्ति होता है।[1] जिस प्रकार स्वर्गादि का इच्छुक और यज्ञादि व्यापार विशेष में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति एक ही होता है वैसा काव्य के पक्ष में नहीं होता। यहाँ तो इच्छा का आश्रय होता है सामाजिक और व्यापार-विशेष के प्रवर्तक होते हैं नटादि रंगमंचीय पात्र। सामाजिक तो निष्क्रिय श्रोता एवं द्रष्टामात्र ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि मीमासकों का 'भावनावाद' भट्टनायक के भुक्तिवाद पर सुचारु रूप से घटित नहीं होता।

भट्टनायक के भक्तिवाद का आधार—वेदान्तदर्शन—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ 'रस-विमर्श' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भट्टनायक की रस-व्याख्या पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव है। इसके लिए[2] वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

लोचन, अभिनवभारती तथा काव्यप्रकाश में उल्लिखित भोग के सिद्धान्त के आधार पर इसे अद्वैतवाद की भूमिका पर स्थित देखा गया है।

काव्यप्रदीप के विख्यात 'प्रभा' टीकाकार वैद्यनाथ पायुगुणे ने प्रदीपकार की सांख्यपरक उक्ति के विपरीत पूर्णतः अद्वैत वेदान्त के आलोक में व्याख्या करते हुए काव्ययी रस को आत्मानन्द से सम्बद्ध करते हुए यह कहा है कि सत्त्वोद्रेक से चैतन्यात्मक आनन्द पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है और निरावरण चैतन्यानन्द संवलित स्थायी-भाव का रसात्मक भोग होता है।[3]

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—शैवदर्शन—काव्यप्रकाश के हिन्दी व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह निम्न दो आधारों पर भट्टनायक के रस-सिद्धान्त को शैव-दर्शन पर आधारित मानते हैं।[4]

(क) महाशैवदार्शनिक अभिनवगुप्त द्वारा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' एवं भास्करी में अनेक स्थलों पर प्रतिपादित संविद् विश्रान्ति विमर्श रूप एवं अहं रूप होने के कारण आनन्दमय है। भट्टनायक ने भी भोग का स्वरूप दर्शन कराते हुए 'संविद् विश्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया है।

(ख) रसव्याख्या में प्रयुक्त सत्त्व, रजस् और तमस् का स्वरूप ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के अनुरूप है।

किन्तु भट्टनायक का भोग का सिद्धान्त शैव-सिद्धान्त की कसौटी पर खरा नहीं

---

१. प्रयोजनस्य स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छा रागविशेषः 'फलेच्छा साधनमुपसंक्रामति' इति न्यायात्, तेन च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सा आर्थीभावनेत्यर्थः। —अर्थसंग्रह, टीका रामेश्वर भिक्षु, पृ० २१

२. रसविमर्श, पृ० २६ से ३० तक

३. वही, पृ० २७

४. डॉ० सत्यव्रत सिंह, का० प्र०, पृ० ७४

उतरता। शैवदर्शन के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम सुख, दुःख तथा मोह के अतिरिक्त 'भोग' कुछ अन्य नहीं है। विषयी विशेष की अनुभूतिस्वरूप भोग विषयी तथा विषय के द्वैत का बोधक है किन्तु अभिनवगुप्त ने 'परब्रह्मास्वादसहोदर' कह इसे गुणातीत मान लिया है। इसे विश्रान्ति कहने पर यह शैवों की भोग की तो नहीं किन्तु उसकी परम भोग की स्थिति बन जाती है। परमभोग केवल आत्मस्थ होने के कारण निरपेक्ष आनन्द है।

अतः भट्टनायक का भुक्तिवाद शैवदर्शन की कसौटी पर भी ठीक नहीं उतरता।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—मीमांसा एवं सांख्यदर्शन—महामहोपाध्याय पी० वी० काणे भट्टनायक के रस-सिद्धान्त पर मीमांसा और सांख्य दर्शनों का प्रभाव मानते हैं।[1] अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत अभिनवभारती तथा लोचन के दो उद्धरणों एवं मीमांसकों के 'भावनावाद' के आधार पर उन्होंने भट्टनायक के सिद्धान्त को मीमांसा पर आधारित माना है तथा भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' को सांख्य पर आधारित माना है।

भट्टनायक की रसव्याख्या को मीमांसा और सांख्यदर्शन पर आधारित मानने में सम्भावित विप्रतिपत्तियों का कथन तो ऊपर किया ही जा चुका है। वही बातें यहाँ पर भी घटित होती हैं।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—वेदान्त एवं सांख्यदर्शन—डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोधग्रन्थ 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' में निम्न दो आधारों पर भट्टनायक को वेदान्तदर्शन से प्रभावित माना है :

(क) भरतनाट्यशास्त्र की टीका के सर्वप्रथम श्लोक 'ब्रह्मणा यदुदाहृतं' की भट्टनायक ने वेदान्तानुरूप व्याख्या की है।[2]

(ख) 'आनन्द' शब्द का प्रयोग विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता बतलाता है जो केवल वेदान्त-प्रभाववशात् ही सम्भव है।[3]

भट्टनायक के भोग पर उन्होंने सांख्य का प्रभाव माना है।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—मीमांसा और शैवदर्शन— डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त[4] ने भट्टनायक के 'भावकत्व' व्यापार को मीमांसा के 'भावनावाद' से प्रभावित माना

---

१. 'न च···कल्पनायुक्ता'। जैमिनी सूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्।

इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक मीमांसक था अथवा कम से कम अपनी रचना में मीमांसा के सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया। भट्टनायक के रसचर्वणा अथवा भोग सम्बन्धी विचार हमें सांख्य सिद्धान्त की स्मृति दिलाते हैं। —पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २८०

२. नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या में ही वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष गोचर जगत के सम्बन्ध में वेदान्त मत की धारणा का उल्लेख करते हैं।

—स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १०१

३. वही, पृ० १०६-७

४. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १६२ से १६५ तक

है तथा निम्न तर्कों के आधार पर उनके 'भोजकत्व' व्यापार को शैवदर्शन पर आधारित माना है—

(क) भट्टनायक के कतिपय श्लोक शैवागमिकों द्वारा उद्धृत हैं।

(ख) अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत भट्टनायक के मत की व्याख्या शैव सिद्धान्तों द्वारा ही ठीक-ठीक हो पाती है।

(ग) 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की व्याख्या शैवागम के अनुसार भी हो सकती है।

इनमें से 'भोग' शब्द की शैवदर्शनानुसार व्याख्या में अनुपपत्ति देखी ही जा चुकी है और जहाँ तक 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की व्याख्या का प्रश्न है इस विषय में कहा जा सकता है कि यदि भट्टनायक कि दृष्टि शैव होती तो वे नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या में जगत् को कल्पनामात्र अथवा निस्सार नहीं कहते। अभिनवगुप्त द्वारा भट्टनायक के मतों की शैवाधार पर व्याख्या वाला मत इसलिए पुष्ट नहीं क्योंकि यदि शैवदार्शनिक आचार्य अभिनवगुप्त के मत की पण्डितराज जगन्नाथ वेदान्ताधार पर व्याख्या कर सकते हैं तो शैव होने के नाते अभिनवगुप्त भी तो भट्टनायक की व्याख्या शैव-सिद्धान्तानुरुप कर सकते हैं और जहाँ तक कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत करने का मत है वह अधिक पुष्ट इसलिए नहीं क्योंकि यह कोई तर्क नहीं कि किसी दर्शन विशेष का उद्धरण किसी मत को पुष्ट करने के लिए नहीं दिया जा सकता।

भट्टनायक के भुक्तिवाद का आधार—मीमांसा, सांख्य और वेदान्तदर्शन— रसचन्द्रिकाकार पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय[1] ने भट्टनायक के रस-सिद्धान्त को 'भावनावाद' के आधार पर मीमांसा से, सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के आधार पर सांख्य से और 'भोग' के आधार पर वेदान्तदर्शन से प्रभावित माना है।

इन आधारों में सम्भावित विप्रतिपत्तियाँ तो बताई जा चुकी हैं। अतः सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भट्टनायक के भुक्तिवाद को सांख्य और वेदान्त दर्शनों से प्रभावित मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(ङ) आचाय अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भरत रससूत्र के चार सुप्रसिद्ध व्याख्याताओं में आचार्य अभिनवगुप्त अन्तिम व्याख्याता हैं। इन्होंने अभिव्यक्तिवाद नामक रस-सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की है। व्यंजना पर आधारित इनके सिद्धान्त के उद्भावक् यद्यपि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ही हैं तथापि प्रस्तुत आधार को पल्लवित एवं पुष्पित कर एक पृथक् सिद्धान्त का रूप देने का श्रेय तो आचार्य अभिनवगुप्त को है।

अभिनवगुप्त ने एक समन्वित मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित कर एक सुदृढ़ साहित्यिक पद्धति का निर्माण किया है।

---

१. स्थायिनो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतत्वात् सत्त्वादीनां त्रयाणामुद्रेके सुखदुःख-मोहाः क्रमात्प्रकाशन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरद्वया (?) भिभव इति सांख्यसिद्धान्तात् इति व्याचख्यौ। —रसचन्द्रिका, पृ० ४६

अभिनव गुप्त द्वारा अपने पूर्ववर्ती रसव्याख्याताओं की आलोचना का दार्शनिक आधार

अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के दार्शनिक मतों में विप्रतिपत्तियाँ दिखाते हुए उनकी समालोचना की है। रस को कार्य मानने वाले नैयायिक श्री शंकुक के विषय में इनका कहना है[1] कि विभावादि रस के न तो कारक हेतु हैं और न ही ज्ञापक हेतु क्योंकि रस को कार्य मानने पर विभावादि का नाश होने पर भी उसकी स्थिति होने लगेगी तथा पूर्व विद्यमान न होने के कारण वह ज्ञाप्य भी नहीं हो सकता। उनके अनुमितिवाद का भी खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने रसको अनुमान, स्मृति आदि से भिन्न माना है।[2]

रस की प्रतीति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति तीनों ही न मानने वाले भट्टनायक के सिद्धान्त का खण्डन भी अभिनवगुप्त ने दार्शनिक रीति से किया है। उनका कहना है[3] कि जिस प्रकार एक ही ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमिति, शब्दबोध, उपमिति आदि भिन्न नामों से कहा जाता है उसी प्रकार भोग भी प्रतीति का ही दूसरा नाम है। आगे उन्होंने कहा है कि रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर रस को या तो नित्य मानना पड़ेगा या असत् क्योंकि बिना प्रतीति के कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती और यदि भट्टनायक रस की प्रतीति भोगीकरण भी मानें तो इसमें भी यह दोष आ जाएगा कि जितने रस हैं उतनी प्रकार की भोगीकरणरूप आस्वादनात्मक प्रतीतियाँ हैं और उनके भी सत्त्वादि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव से अनन्त व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी तब अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व तीन व्यापारों की सीमा न रह सकेगी।

---

१. (अ) अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८५

(ब) स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्, नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। —आचार्य विश्वेश्वर, का० प्र०, पृ० ११०

२. तथाहि लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यापानमारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८४

३. (क) प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।.........गुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृत्वेनेयत्ता।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

(ख) प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा। —लोचन, पृ० १९८

सांख्यदर्शन के गुणवाद पर आधारित भट्टनायक के भोजकत्व व्यापार तथा मीमांसकों के भावनावाद पर आधारित भावकत्व व्यापार को अभिनवगुप्त ने व्यंजना द्वारा परास्त पर दिखाया।[1] इन्होंने रस प्रतीति को लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाण तथा मितयोगीज्ञान एवं मितेतर योगीज्ञान से भी विलक्षण बताया।[2] मीमांसक भट्टलोल्लट की भाँति इन्होंने रस प्रतीति को मिथ्याज्ञान एवं आरोपितज्ञान भी स्वीकार नहीं किया।[3]

अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त का आधार—शैवदर्शन—इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का निराकरण कर अभिनवगुप्त ने यह स्थापना की है कि चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है[4] और इसी विभावादि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी अलौकिक अभिव्यंजना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण होता है जिससे सहृदयों में स्थित रति आदि भाव अभिव्यक्त होकर आस्वादित किए जाते हैं। इनके अनुसार भरत रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ है स्थायी का विभावादि के साथ व्यंग्यव्यंजकभावरूप सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ है अभिव्यक्ति।[5]

अभिनवगुप्त एक उच्च कोटि के काव्यशास्त्री होने के साथ-साथ शैवदर्शन के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका रस-विवेचन शैवदर्शन पर आधारित है इसमें कोई विसंवाद नहीं। उनके 'अभिव्यक्तिवाद' नामक रस-सिद्धान्त का अध्ययन करने के उपरान्त जब हम उनके ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी एवं तन्त्रालोक आदि दर्शनग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि उनके दर्शनग्रन्थों में भी रस-समस्याओं का हल ढूँढने का प्रयत्न किया गया है। उनका समस्त रस-विवेचन शैवदर्शन की शब्दावली से ओतप्रोत है। उनका रसव्याख्या में प्रयुक्त संविद्, भोग, स्पन्द, आनन्द, आस्वादन, रसना, चमत्कार,

---

१. भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्।
—लो०, पृ० १६६

२. (अ) लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यांतरसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तोरस्वसंवेदनगोचर इति……। —का० प्र०, पृ० १११

(ब) किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्ष्ण्यादन्यैव…… लोकोत्तररूपत्वात्। —लोचन, पृ० १६७

३. तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपितरूपा। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०

४. अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। —वही, पृ० २८०

५. "स्थायिनां विभावादिभिः समं संयोगात् व्यंग्यव्यंजकभावरूपात् सम्बन्धात् विभावादीनामेव वा परस्परं संयोगात् मिलनात् रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिरिति सूत्रार्थः।"
—बालबोधिनी, का० प्र०, पृ० ६१

विश्रान्ति, एकघन, प्रकाश, प्रतिभा, प्रमाता आदि अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इसके अतिरिक्त शैवों के 'स्वातन्त्र्यवाद' तथा 'आभासवाद' के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव भी इनके रस-विवेचन पर लक्षित होता है। अतः सर्वप्रथम उनके रस-विवेचन में प्रयुक्त शैवदर्शन के प्रमुख पारिभाषिक शब्दों की, तदनन्तर शैव-सिद्धान्तों के आधार पर उनके रस-सिद्धान्त की व्याख्या की जाएगी।

संविद्—शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्द 'संविद्' का प्रयोग अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सर्वप्रथम रस को साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय बताने के लिए किया है।[1] प्राचीन व्याख्याताओं की आलोचना के प्रसंग में 'संविद्' शब्द का प्रयोग करते हुए बताया गया है कि उनकी आलोचना करने से रसत्व का खण्डन नहीं होता अपितु संविद् (बुद्धि) विकास होकर प्रामाणिक वस्तुरूप प्राप्त हो जाता है।[2] रसानुभूति में आने वाले विघ्नों के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने 'संविद्' शब्द का प्रयोग नौ बार किया है। इनमें से एक बार 'संविद्' शब्द का प्रयोग प्रतीति के अर्थ में[3], तीन बार ज्ञान के अर्थ में[4], तीन बार अनुभूति के अर्थ में[5], एक बार चित् के अर्थ में[6], तथा एक बार साक्षात्कारात्मक अर्थ के लिए किया गया है।[7] इनके अतिरिक्त भी ज्ञान के अर्थ में 'संविद्' का प्रयोग दो स्थलों

---

१. "संवेदनाख्य (ख्यया) व्यंग्यपरसंवित्ति गोचरः"।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

२. आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।
इत्थं स्वयं ग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः॥ —वही, पृ० २७८

३. स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा।
—वही, पृ० २८०

४. (अ) तथाहि—संवेद्यसम्भावयमानः संवेद्यै संविदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। —वही,
(ब) स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भवनादवश्यंभावी विघ्नः। —वही,
(स) अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाव वर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि सम्भवतीति। —वही, पृ० २८१

५. (अ) अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८१
(ब) तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्।
—वही, पृ० २८२
(स) तथाहि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः।
—वही,

६. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति···।
—वही, पृ० २८१

७. स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। —वही, पृ० २८२

पर किया गया है।[1]

'त्रिक्दर्शन' में संविद् शब्द को मोक्षरूप माना गया है।[2] यह विशुद्ध विषयीगत है अत: बाह्य प्रकाश से न तो इसका प्रकाशन सम्भव है और न किसी प्रमाण द्वारा इसका ज्ञान। त्रिक्दर्शन में 'संविद्' के अनेक रूपों की स्वीकृति मिलती है।[3] तत्त्वत: वे संविद् रूप परासंविद् के ही रूप हैं और अन्ततोगत्वा शिवा भिन्न हैं। शैवदर्शन में सविद् विश्रान्ति को ही आनन्द का मूल कारण माना गया है। वहाँ 'संविद्' की अनेक भूमिकाएँ स्वीकार की गई हैं। शुद्ध प्रकाश भी परासंविद् है और विश्व का स्थूल रूप भी संविद् से भिन्न नहीं है।[4] 'संविद्' का ज्ञान अर्थ में प्रयोग त्रिक्दर्शन में हुआ है।[5]

मोक्ष अथवा संविद् प्राप्ति में विषयानुभव का सर्वथा अभाव होता है तथा विमर्श की प्रधानता होती है। रस के चरम अनुभव में भी विषय-ज्ञान का अभाव होता है। अत: यह कहा जा सकता है कि रसानुभव साधारणीकृत संविद् का अविच्छिन्न अनुभव है।

भोग—अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भोगवाद को स्वीकार कर उसमें दो सुधार किए हैं, एक तो उनके भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापारों की अनावश्यकता घोषित कर व्यंजना द्वारा इसका कार्य सम्पादित करना[6] तथा दूसरे रस-भोग को व्यष्टि-चेतना की संकुचित सीमाओं में सीमित चिति से ऊपर उठाकर समष्टि-चेतना पर ले जाना।[7] 'भोग'

---

१. गाढ़प्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति।
—वही, पृ० २८५

२. मोक्षो हि नाम नैवान्य: स्वरूपप्रथनं हि स:।
स्वरूपं चात्मन: संविन्नान्यत्तत्र तु या: पुन:॥ —तन्त्रालोक, भा० १, पृ० १९२

३. इयं तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च……स्थिता।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र ८ की वृत्ति, पृ० २०

४. (अ) 'तद्भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय:।' —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र ८, पृ० १६
(ब) एवम् एकस्यैव चिदात्मनो भगवत: स्वातन्त्र्यावभासिता: सर्वा इमा भूमिका: स्वातन्त्र्यप्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिता:। —वही, पृ० १८
(स) 'सविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तिस्थानम्।''
—तन्त्रसार, आ० ३, पृ० ११-१२

५. ''इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलम् जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवनमुक्तो न संशय:॥''
—विशालप्रसाद त्रिपाठी, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० १२५
से उद्धृत स्पन्दकारिका ३

६. सलोचन ध्वन्यालोक, पृ० १८९

७. अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ते: (त्ति:) सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० १७६

को प्रतीति रूप स्वीकार कर[1] इन्होंने जितने रस हैं उतने प्रकार की भोगीकरण रूप आस्वादनात्मक प्रतीतियाँ मानी हैं।[2] अभिनवगुप्त ने सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवित्ति को ही भोग माना है[3] तथा चमत्कार को भोगावेश कहते हुए इसे स्पन्द में लीन ज्ञाता की एक क्रिया माना है।[4]

शैवदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने 'भोग' शब्द का शैव-दर्शनानुरूप सुचारू विवेचन करते हुए[5] बताया है कि अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में 'स्वरूपापरिज्ञानमयो' सूत्र में 'भोग' शब्द की व्याख्या भी की है वहीं उन्होंने लोकगत-भोग तथा अलौकिक-भोग में अन्तर बताते हुए अलौकिक-भोग को परमभोग कहा है। भोग के सम्बन्ध में परतत्त्व को ही शास्त्रीय भाषा में 'महेश्वर' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[6] भोग व्यक्ति प्रमाता का अनुभव है, जिसमें वह सुख, दुःख, मोह का अनुभव करता है तथा परमभोग सर्वव्यापी आत्मानुभव का अनुभव है जिसमें विषय-वस्तु के साथ सम्बन्ध का अभाव होता है।

सकलविघ्नविनिर्मुक्त होने के कारण रस दशा को परमभोग की दशा कहा जा सकता है।

चमत्कार—अभिनवगुप्त ने रस परिभाषा एवं रसानुभूति की प्रक्रिया में त्रिक्-दर्शन के 'चमत्कार' शब्द को विशिष्टि स्थान प्रदान किया है। 'चमत्कार' तत्त्व को अलौकिक बताते हुए उन्होंने कहा है कि इसी से शृंगारादि रस कहे जाते हैं। चमत्कार की परिभाषाएँ भी अभिनवभारती में उपलब्ध होती हैं। सर्वप्रथम विघ्नरहित प्रतीति को 'चमत्कार' कहा गया है, साथ ही उससे उत्पन्न होने वाले कम्प और रोमाञ्च आदि विकारों को भी 'चमत्कार' शब्द से अभिहित किया गया है।[7] तदनन्तर भोग करने वाले अद्भुत भोगात्मक व्यापार से आविष्ट मन के चमत्कृत हो जाने को 'चमत्कार' कहा है।[8] और इसी चमत्कार के लिए स्मृति, संकल्प, मानस अध्यवसाय शब्दों का प्रयोग किया

---

१. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोगः इति न विद्मः।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

२. यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। (सत्त्वादि) गुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृ (का त्रि) त्वेनेयत्ता। —वही,

३. तथाहि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादन—भोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। —वही, पृ० २८०

४. स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति। —वही, पृ० २७९

५. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १३१ से १४२ तक

६. अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। —का० प्र०, पृ० १०९

७. सा चाविघ्ना संवित्। चमत्कारतज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारः।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७९

८. वही,

है।[1] रस्यमानता के कारण भोग को चमत्कार से अभिन्न माना गया है।[2]

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'चमत्कार' शब्द का स्पष्टीकरण तीन स्थलों पर किया है।[3] परतत्त्व निरूपण के प्रसंग में उत्पलाचार्य 'प्रकाश' और 'विमर्श' दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। केवल प्रकाश रूप होने से तथा 'विमर्श' का अभाव होने से वह स्फटिकमणि की भाँति एक जड़ पदार्थ हो जाएगा। इस प्रसंग में उन्होंने 'विमर्श' के स्थान पर 'चमत्कृति' शब्द का प्रयोग किया है।[4] अतः 'चमत्कृति' शिव का अनिवार्य अंग ही नहीं प्रत्युत उसका स्वभाव है। इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने जगदुत्पत्ति सिद्धान्त सम्बन्धी एवं रसानुभव सम्बन्धी भावों का स्पष्टीकरण अभिनवभारती के नामोल्लेख सहित किया है। वहीं पर उन्होंने 'चमत्कार' शब्द के लोकप्रसिद्ध 'आनन्द' अर्थ पर प्रकाश डालते हुए इसके शास्त्रीय अर्थ 'आत्मपरामर्श' के विषय में बताया है कि सामान्य रूप में यह वह विमर्श है जो प्रकाश का ही सर्वप्रधान स्वभाव है। अभिनवगुप्त ने अपने स्तोत्रों में स्वातन्त्र्य को ही 'चमत्कृति' नाम से अभिहित किया है।[5] रहस्यपंचदशिका में वे उसे 'स्फुरत्ता' की संज्ञा भी देते हैं।[6] स्फुरत्ता से यह भाव जगत स्फुरित होता है तथा वह देश कालादि की परिधि से परे है।[7]

विश्रान्ति - अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अपने रस-सिद्धान्त-विवेचन के प्रसंग में 'विश्रान्ति' शब्द का छह बार प्रयोग किया है। इसमें इस शब्द का पाँच बार

---

१. स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य (न) स्तु। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६

२. रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। —लो०, पृ० २००

३. (क) स्वभावमवभासस्य —ई० प्र० वि०, १, ५, ११
(ख) चितिः प्रत्यावमर्शात्मा परावाक्, —वही, १, ५, १३
(ग) पृथग्दीपप्रकाशानाम्, —वही, २, ३, ८
(स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १३१ से उद्धृत)

४. प्रकाशस्य असंसृष्टस्य तत एव अर्कादिप्रकाशविलक्षणस्य परसारूप्यं प्रतिबिम्बायमान-परतादात्म्यक्षमत्वमस्ति स्वभावान्तरं यतस्तेन वपुषा घटादेर्बोधो-विशिष्यते, तथापि न तत् मुख्यं जड़ेऽपि मुकुरप्रभृतौ तस्य संभवात्,⋯⋯ननु विमर्शाभावात् जडता स्यादिति वक्तव्ये 'चमत्कृतेरभावात्' इति कथं वृत्तिः।
—ई० प्र० वि० वि० भा० २, पृ० १७७

५. विश्वस्वभावपटले परिजृम्भमाणविच्छेदशून्यपरमार्थचमत्कृतिर्या।
—विशालप्रसाद त्रिपाठी, ई० प्र० हृ०, पृ० ३६, पाद टिप्पणी २

६. ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्ताम्। —वही, पाद टिप्पणी ३

७. समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं तदा।
ययैवशक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति। —वही

प्रयोग रसानुभूति में आने वाले विघ्नों के प्रसंग[1] में करते हुए बताया है कि विघ्नों के विद्यमान रहने पर विश्रान्ति (आनन्द) की अनुभूति नहीं होती। आगे चलकर उन्होंने निर्विघ्न विश्रान्ति को आनन्द का कारण तथा अविश्रान्ति को दुःख नाम से अभिहित किया है। इसीलिए कपिल आदि सांख्य दार्शनिक दुःख को रजोवृत्ति का धर्म मानते हुए चांचल्य को दुःख का प्राण मानते हैं।[2] रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त एकघन संवित्ति में विश्रान्त होता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी अभिनवगुप्त ने यही बताया है कि वीतविघ्नता की स्थिति में प्रमाता आत्मविश्रान्ति की अवस्था को प्राप्त करता है इसी को उन्होंने चर्वणा, निर्वृत्ति, प्रतीति आदि नामों से अभिहित किया है।[3]

आनन्द, प्रकाश, एकघन—अभिनवगुप्त ने सभी रसों की आनन्दरूपता को स्वीकार करते हुए कहा है कि आनन्दमय स्वभाव होने के कारण ही सभी रस सुख प्रधान होते हैं।[4] वहीं पर रस के लिए 'प्रकाश' और 'एकघन' शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अभिनवगुप्त रसानुभव को आत्मानन्द अथवा परमानन्द का अनुभव मानते हैं।[5]

शैवदर्शन में संविद्विश्रान्ति को आनन्द का मूल कारण मानते हुए इसके तीन प्रकारों वैषयिक आनन्द, काव्यानन्द तथा ब्रह्मानन्द में अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि वैषयिक आनन्द में आत्मपरामर्श के विषयों में व्यवधान रहता है, काव्यानन्द में यद्यपि विषयों का साक्षात् व्यवधान तो नहीं रहता तथापि इसमें संस्कारों का अनुवेध तो

---

१. (क) तथाहि—संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०
(ख) प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। —वही, पृ० २८१
(ग) अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। —वही

२. स्वसंविच्चर्वणारुपस्यैकघनस्य········
·········रजोवृत्तितां वदद्भि···। —वही, पृ० २८२

३. ·····तत्र वीतविघ्नस्वादेव असौ चर्वणा निर्वृत्तिः प्रतीतिः प्रमातृताविश्रान्तिरेव, तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्य अपि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणोत् सहृदया उच्यते इति। —ई० प्र० वि० वि०, भा० २, पृ० १७८

४. (क) तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८२
(ख) ···इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। —वही,

५. अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। —वही, पृ० २९२

होता ही है किन्तु ब्रह्मानन्द इनमें सर्वोपरि एवं शुद्ध संवेदन रूप होता है।[१] त्रिक्दर्शन में परमशिव के लिए भी आनन्द, प्रकाश तथा एकघन शब्दों का प्रयोग किया गया है।[२]

अभिनवगुप्त ने बताया है कि आनन्द प्राप्ति के तल तक पहुँचने के लिए प्रमाता को दो तलों से गुजरना पड़ता है। प्रथम तल पर सहृदय के हृदय में विद्यमान स्थायीभाव रंगमंचीय पात्रों के साथ तादात्म्य होने के कारण जाग्रत होते हैं और द्वितीय तल पर प्रमाता की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है साथ ही वह स्थायीभाव की पूर्ण उपेक्षा की स्थिति में होता है, जिसके कारण प्रमाता और प्रमेय में द्वैत लुप्त हो जाता है। यही दशा रसानुभव की अन्तिम विकासदशा परमानन्द का अनुभव है। इसी दशा को शैवों ने व्यतिरेक तुर्यातीत के तल का अनुभव कहा है। इसके अनुभव में भी सम्पूर्ण विषय उपचेतन में लीन हो जाता है तथा प्रमाता अथवा आत्मा का आनन्द रूप में प्रकटन होता है।[3]

चर्वणा, आस्वादन, रसना—अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त के प्रसंग में इन तीनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया है।[४] इनमें से यदि 'चर्वणा' शब्द के प्रयोग को ही सर्वप्रथम लें तो पायेंगे कि इन्होंने 'चर्वणा' का प्रयोग आस्वादन अर्थ में करते हुए भट्टनायक की भावना को चर्वणात्मक आस्वादरूप ज्ञान कहा है।[५] उनका कहना है कि स्थायीभाव ही चर्वणा के योग्य होते हैं।[६] रसानुभूति की आस्वादरूपता पर प्रकाश डालते हुए भी उन्होंने 'चर्वणा' शब्द का प्रयोग किया है।[७] रसपरिभाषा के प्रसंग में यह

---

१. निजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इति उच्यते,……संभाव्यमान-विघ्नान्तरनिरासात् वैषयिकानन्दविलक्षणशृङ्गारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसना चर्वणा……तत्रापि तु यथोदितव्यवधानांशतिरस्क्रिया सावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्।

—ई० प्र० वि० वि०, भा० २, पृ० १७७-७९

२. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्त्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्। —प्र० हृ०, काश्मीर; सूत्र ३ की वृत्ति, पृ० ८

३. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १६७

४. (क) प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। —लो०, पृ० १९७

(ख) संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०

५. 'काव्येन भावयन्ते रसाः' इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्यय-गोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

६. …स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्। —वही, पृ० २८१

७. (क) स्वसंविच्चर्वणरुपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथाहि—एकघनशोक संविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्ति…। —वही, पृ० २८२

(ख) अपितु विभावादिभिव्यञ्जितश्चर्वणीयः। —का० प्र०, पृ० ११०

बताया गया है कि चर्वणा का विषय बनाया हुआ अर्थ, जिसका चर्वणा ही एकमात्र सार है, केवल चर्वणाकाल में विद्यमान रहने वाला, स्थायीभाव से विलक्षण रस है।[1] लोचन में उन्होंने बताया है कि सामाजिक निवृत्ति या आनन्द रूप चर्वणा से विशिष्ट होकर ही रस है।[2] आगे बताया गया है कि सामाजिक रंगमंचीय प्रमादादि का तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता अपितु सहृदयत्व के बल से अखंड रसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुमान स्मृत्यादि की प्रक्रिया में आए विना तन्मयीभाव से प्राप्त चर्वणा के उत्पादन रूप से प्रमादादि विभावों का अनुभव करता है।[3] उन्होंने चर्वणा के प्रसंग में अलौकिक विभावादि व्यापार को उपयोगी बताया है।[4] उनका कहना है कि रस की चर्वणा पानक रस के समान समष्टि रूप से होती है।[5] चर्वणा की उत्पत्ति होने से रस को औपचारिक रूप से कार्य भी कहा गया है।[6] रस की सविकल्पकता का निषेध भी उसकी चर्व्यमाणता के कारण किया गया है।[7]

इसी प्रकार रस के लिए 'आस्वादन' शब्द का प्रयोग करते हुए आस्वादन रूप अनुभवभूत रस को काव्य का प्रयोजन कहा गया है।[8] रसास्वादरूप प्रतीति में निर्विघ्न रूप से रत्यादि का भान होता है।[9] जिस प्रकार पानकद्रव्यों के आस्वादन में गुड़, काली

---

१. ...चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायी विल (यिल) क्षण एव रसः।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८४

२. अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्रयां समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृ त्तिचर्वणाविशिष्टमेव रसः।

—लो०, पृ० १६६

३. तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना (दिन) ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादांकुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्य्‌ेव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८४

४. अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। —वही, पृ० २८५

५. ...चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीवितावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः,...।

—का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०९

६. चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योप्युच्यताम्। —वही, पृ० १११

७. नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।

—वही, पृ० ११३

८. "आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।" इति।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

९. सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०

मिर्च का आस्वादन भिन्न रूप में नहीं होता[1] उसी प्रकार रसानुभव भी विभावादि के व्यक्तिगत अनुभव से विलक्षण रूप में होता है। अभिनवगुप्त ने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के समान कहा है।[2]

अभिनवगुप्त ने 'रसना' शब्द का प्रयोग श्री शंकुक के मत की चर्चा करते हुए दो बार किया है।[3] तदनन्तर रसना व्यापार की अलौकिकता पर भी प्रकाश डाला है।[4]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी में भी अभिनवगुप्त ने रसना, चर्वणा आदि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में करते हुए निर्विघ्नास्वाद रूप को रसना कहा है।[5]

प्रमाता आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' निरूपण के प्रसंग में शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्द 'प्रमाता' का प्रयोग करते हुए बताया है कि यद्यपि स्थायीभाव सामाजिक के भीतर व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में विद्यमान होते हैं तथापि नाट्यादि साधारण उपायों के बल से सीमित प्रमातृभाव नष्ट हो जाता है और अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित असीमित प्रमातृभाव उदित होता है, फलस्वरूप सहृदयजनों को रसानुभूति समान रूप से होती है।[6]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी बताया गया है कि रसानुभूति जन्य आनन्द समस्त प्रमाताओं की अनुभूति का विषय होता है। इसके मूल में समस्त प्रमाताओं का

---

१. पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्। —वही, पृ० २८५

२. (क)···ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी श्रृंगारादिको रसः। —का० प्र०, चतु० उ०, पृ० १०९

(ख) ···परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्तवस्य रसास्वादस्य। —लो०, पृ० २००

३. (क) "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याप्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते।" —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८४

(ख) असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। —वही

४. सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकः स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। —वही, पृ० २८५

५. तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसना चर्वणा निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृताविश्रान्तिरेव···। —ई० प्र० वि० वि०, भा० २, पृ० १७८

६. ···सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकारइवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः···। —का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०८

आत्मचैतन्य और अद्वैतता है।[१]

शैव मत में व्यक्ति रूप प्रमाताओं को शास्त्रीय भाषा में 'पशु' कहा गया है। प्रमाता के मूल स्वभाव को माया आवृत कर लेती है। जब व्यक्ति प्रमाता को परिमित प्रमाता तथा अवच्छेदक पदार्थ कला के भेद का ज्ञान हो जाता है तब व्यक्ति प्रमाता माया-लोक का अतिक्रमण करके कर्म के बन्धनों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[२]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'प्रमाता' का विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है।

प्रतिभा—अभिनवगुप्त ने अपने अभिव्यक्तिवाद में काव्यार्थ ज्ञान का अधिकारी निर्मलप्रतिभानशाली हृदय वाले व्यक्ति को बताया है।[३] 'स्मृति' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते समय, उसे न्याय में प्रसिद्ध स्मृति 'ज्ञातं विषयं ज्ञानं स्मृतिः' से भिन्न साक्षात्कारात्मक स्वभावरूप स्मृति को ही प्रतिभान का अपर पर्याय माना है।[४]

रसानुभूति के लिए एक मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है जिसको साक्षात्कार की शक्ति अथवा 'प्रतिभा' शक्ति कहते हैं। यह शक्ति उस भित्ति को हटा देती है जो चेतनांश को उपचेतनांश से पृथक् कर देती है। रसानुभव विषय के मानसिक चित्र के पूर्णरूप एवं सजीव रूप के साक्षात्कार करने की शक्ति को अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'प्रतिभा' कहा है।[५]

शैव शब्दावली के साक्षात्प्रभाव के साथ ही साथ शैवदर्शन के स्वातन्त्र्यवाद और 'आभासवाद' का भी स्पष्ट प्रभाव अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त पर लक्षित होता है।

अभिनवगुप्त की रस-व्याख्या एवं स्वातन्त्र्यवाद—अभिनवगुप्त ने सहृदय के हृदय में विद्यमान चित्तवृत्तियों की परिकल्पना स्वातन्त्र्यवाद के आधार पर की प्रतीत होती हैं। उन्होंने बताया है कि चित्तवृत्तियों के संस्कारों से रहित कोई भी प्राणी नहीं होता। अन्तर केवल मात्रा तथा उचित विषय में नियन्त्रणादि का होता है। स्थायी चित्तवृत्तियाँ अपना कार्य समाप्त कर चुकने से विलीन प्रायः हो जाने पर भी संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। उन्होंने स्वमत की पुष्टि के लिए पतंजलि के योग दर्शन के व्यासभाष्य की एक पंक्ति को उद्धृत किया है।[६]

---

१. इह तु दर्शने व्याप्ति ग्रहणाव्यवस्थायां यावन्तस्तददेश संभाव्यमान सद्भावाः प्रमातारस्तावतामेकोऽसौ धूमाभासश्च बाह्य नये इव, तावति तेषां परमेश्वरणैक्य निर्मितम्। —ई० प्र० वि०, भा० २, पृ० १६५

२. देखिए, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १४० से १४४ तक

३. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६

४. अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा। पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्। अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति। —वही, पृ० २८०

५. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १८८

६. न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा।···कर्त्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्।
यथाह पतञ्जलिः—'न हि चैत्र एकस्यां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः'। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८२-८३

स्वातन्त्र्यवाद में यह बताया गया है कि उन्मेष की ओर उन्मुख परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही, उद्‌भूत होने वाले अखिल विश्व को ऐक्यभाव से अपने अन्दर विलीन किए रहती है। अथवा वटबीज में संस्कार रूप से विद्यमान सम्पूर्ण वटवृक्ष की भाँति सम्पूर्ण चराचर जगत् भी शक्तितत्त्व में विद्यमान रहता है।[1]

अभिनवगुप्त की रस व्याख्या एवं आभासवाद—शैवों के आभासवाद के आधार पर ही विभावादि का साधारणीकरण संभव है। आभासवाद के आधार पर प्रत्येक आभास जो अमिश्र अवस्था में रहता है, देश, काल से अनालिंगित होने के कारण सामान्य ही होता है, मिश्र हो जाने पर वह विशेष हो जाता है, और प्रत्येक प्रभाता उसे अपनी दृष्टि से विशेष रूप में देखता है।[2] सहृदय सामाजिक को भी निर्विशेष की अनुभूति प्रक्रिया में जो आभास होता है वह देशकाल आदि से अनालिंगित होने के कारण ही होता है।[3]

शैवदर्शन में मल के तारतम्य के विचार से प्रमाताओं को सात श्रेणियों में विभक्त किया गया है।[4] अभिनवगुप्त ने भी अपनी रस-व्याख्या के प्रसंग में रसानुभूति में बाधक सात विघ्नों का निरूपण किया है।[5] जिस प्रकार शैवदर्शन में यह बताया गया है कि मलों के प्रक्षालन से ही प्रमाता विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचान कर शिव रूप हो जाता है उसी प्रकार रसानुभूति भी प्रमाता की निर्विघ्नावस्था में ही सम्पन्न होती है। उस दशा में सहृदय सामाजिक भी विगलित वेद्यान्तर होकर विभावादि के द्वारा उद्‌बुद्ध रत्यादि से संवलित आत्मा का अनुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त में शैवदर्शन की शब्दावली एवं सिद्धान्तों का प्रयोग कर इसे मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है और इसमें वे सफल भी हुए हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ एवं व्यक्तिवाद का वेदान्तीकरण—पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' का वेदान्तीकरण कर इसे वेदान्तदर्शन की भूमि पर पल्लवित किया है। वेदान्त श्रुतिसम्मत अद्वैतवादी दर्शन है। इस दर्शन का प्रयोजन अज्ञात की निवृत्ति के द्वारा आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा तथा आनन्द की प्राप्ति बताया गया है। श्रुति में बताया गया है कि ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है, दोनों में कोई भेद नहीं रहता।[6] ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति ही जीवन्मुक्त होता है। इससे हृदय की ग्रन्थि भिद

---

१. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपोमहाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥ —परात्रिंशिका, का०, २४

२. ई० प्र० वि०, भा० २, पृ० ६८-७६

३. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७९

४. शिवादिसकलान्तश्च शक्तिमन्तः सप्तः। —ई० प्र० वि०, भा० २

५. विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता —सम्भावनाविरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च। —अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०

६. प्रयोजनं तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति' — हिरयन्ना, वेदान्तसार, पृ० २

जाती है तथा समस्त संशय और कर्म नष्ट हो जाते हैं।[1]

पण्डितराज का भी कहना है कि विभावादि के निर्विशेष रूप में प्रतीत होने से परमात्मा की आनन्द रूप आत्मा के अज्ञान के अंशावरण के निर्वतित हो जाने के कारण उसकी परिमित सीमा भी समाप्त हो जाती है और वह व्यापक रूप से रति आदि की अनुभूति करने लगता है। उस समय प्रमाता स्वप्रकाश आत्मरूप तथा आनन्द रूप रस की चर्वणा करता है।[2] उनके अनुसार अज्ञान के अंशावरण के भग्न हो जाने पर चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव ही रस कहे जाते हैं।[3] जिस प्रकार कसोरे से ढका हुआ दीपक आवरण के कारण न तो समीपस्थ पदार्थों को ही प्रकाशित कर पाता है और न स्वयं ही प्रकाशित होता है, किन्तु कसोरे के हटा दिये जाने पर वह सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करते हुए स्वयं भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार अज्ञान रूपी आवरण के भंग हो जाने पर आत्मचैतन्य विभावादि से संवलित रत्यादि स्थायी भावों को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रकाशित हो उठता है।[4]

वेदान्त दर्शन के अनुसार समस्त सांसारिक पदार्थ मिथ्या हैं, मात्र ब्रह्म सत्य है। सांसारिक पदार्थ अन्तःकरण के माध्यम से आत्मप्रकाशित हो घटपटादि के रूप में अवभासित होते हैं। अतः अन्तःकरण की वृत्तियाँ साक्षिभास्य कही गई हैं।[5] जिस प्रकार स्वप्नावस्था में देखा हुआ घोड़ा तथा रांगे में रजत की प्रतीति दोनों काल्पनिक हैं उसी प्रकार काल्पनिक विभावादि का आत्मपरामर्श से प्रकाशित होने के कारण साक्षिभास्य होना असंगत नहीं है।[6] विभावादि के कारण चर्वणा की अवधि तक ही अज्ञान के आवरण का भंग होता है। फलस्वरूप चेतना प्रकाशित हो उठती है, किन्तु विभावादि के विलीन हो जाने पर स्थायी भाव यद्यपि विद्यमान रहता है, तो भी आवरण के कारण प्रकाशित नहीं होता।[7]

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ —मुण्डकोपनिषद् २।२।८

२. ...तत्काल-निर्वतितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिज-धर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिष्टवासनारूपो रत्यादिरेवरसः।—रसगंगाधर, चन्द्रिका, प्रथमाननः पृ० ८०

३. इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्। —वही, पृ० ८८

४. यथा हि शरावादिनाऽपिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। —वही, पृ० ८३

५. अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः।
—रसगंगाधर, चन्द्रिका, प्रथमानन, पृ० ८४

६. विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वम-विरुद्धम्। —वही

७. विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां, प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते। —वही, पृ० ८६

सामाजिक आत्मचैतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति में लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार सविकल्पक समाधि में लीन योगी के समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति का उदय होता है और उस अवस्था में वह इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि बाह्य वस्तु का उसे ज्ञान नहीं होता।[1]

पण्डितराज ने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद से विलक्षण बताया है। ब्रह्मास्वाद में किसी प्रकार का वैषयिक सम्बन्ध नहीं रहता जबकि रसास्वाद विभावादि संवलित चिदानन्द का विषय है और व्यंजना व्यापार से ही काव्यानन्द की चर्वणा होती है।[2] रस के सुखात्मक स्वभाव की पुष्टि इन्होंने 'रसो वे सः' रसं ह्यं वायं लब्ध्वा आनन्दीभवति[3] उपनिषद् वाक्यों से की है। सुखास्वाद होने में दूसरा प्रमाण सहृदय सामाजिक की प्रत्यक्षात्मक अनुभूति को दिया है। रस चर्वणा आनन्दाकार चित्तवृत्ति की परिणति है और व्यंजना व्यापार से सम्पन्न होने के कारण इसे शाब्दी भी कहा गया है तथा प्रत्यक्ष अनुभूति के फलस्वरूप यह प्रत्यक्षकल्प भी होती है। न्यायदर्शन के अनुसार ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं किन्तु वेदान्तदर्शन के अनुसार दोनों में कोई विरोध नहीं। वेदान्त में 'तत्त्वमसि' वाक्य को उद्धृत कर यह दिखाया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा में ऐक्य बुद्धि शब्द जन्य होने के कारण शाब्दी और अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने के कारण प्रत्यक्षात्मक है। इसी प्रकार रस चर्वणा भी शाब्दी और प्रत्यक्षात्मक है।[4]

पण्डितराज के द्वारा अभिव्यक्तिवाद की वेदान्ती व्याख्या संभव होने पर भी मनोवैज्ञानिक नहीं है।

अभिव्यक्तिवाद का खण्डन—व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को दोषपूर्ण बताते हुए अभिव्यक्ति उसे कहा है जिसमें प्रकाशमान अर्थ चाहे वह सत् हो चाहे असत् की प्रकाशक के साथ विद्यमानता हो, जिसमें सम्बन्ध तथा स्मृति के आधार पर शब्द और अर्थ की भिन्न प्रतीति की अपेक्षा नहीं होती तथा प्रकाश्य

---

१. यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरूपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। —वही

२. इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।
—रसगंगाधर, चन्द्रिका, प्रथमानन, पृ० ९०

३. चन्द्रिका, रसगंगाधर, पृ० ९१

४. तत्त्वं वाक्यबुद्धिवत्।
भवेन्नयायादिनये शाब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोधः, किन्तु वेदान्तमते, वाक्यं 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिवाक्यं, तस्माज्जाता बुद्धिजीवब्रह्मैक्यप्रतीतिः, तस्या यथा वेदान्तिभिः शब्दजन्यत्वाच्छाब्दत्वम्, अपरोक्षब्रह्मालम्बनत्वाच्चापरोक्ष (प्रत्यक्ष) त्वं चाङ्गीक्रियते तथैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्वं च स्यादित्यर्थः।
—रसगंगाधर, चन्द्रिका, पृ० ९२

और प्रकाशक के भिन्न स्वरूप नहीं होते ।[1]

इस प्रकार महिमभट्ट अभिव्यक्ति[2] को सत् और असत् मान अभिव्यक्ति के तीन प्रकारों (क) कारण में कार्य की अभिव्यक्ति (ख) कारण के अभाव में विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति न होना तथा (ग) धूम से अग्नि की अभिव्यक्ति की परिकल्पना की है तथा असत् अभिव्यक्ति का एक प्रकार सूर्य की किरणों के कारण इन्द्रधनुष की अभिव्यक्ति माना है। उनका कहना है कि ध्वनिवादियों की अभिव्यक्ति सत् अभिव्यक्ति के प्रथम दो प्रकारों में इसलिए समाविष्ट नहीं हो सकती क्योंकि दूध में शक्ति रूप में विद्यमान दही की अभिव्यक्ति के समान व्यंग्यार्थ का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और घट के समान व्यंग्यार्थ प्रकाशित भी नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की अभिव्यक्ति में प्रकाश्य और प्रकाशक एक साथ ही व्यक्त हो उठेंगे, किन्तु यह असंभव है। और जहाँ तक तीसरे प्रकार की अभिव्यक्ति का प्रश्न है वह अनुमान से भिन्न नहीं है ।[3]

किन्तु महिमभट्ट ने अभिव्यक्तिवाद की जो परिभाषा प्रस्तुत की है वह ध्वनिवादियों की परिभाषा न होकर महिमभट्ट द्वारा कल्पित है। राजानक रुय्यक ने महिमभट्ट के मत का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अभिव्यक्तिवादियों ने केवल सत् वस्तु की अभिव्यक्ति मानी है जो दीप-घट न्याय के साम्य पर आधारित है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ का अनुभव व्यंजक के बिना नहीं हो सकता। अतः महिमभट्ट ने अभिव्यक्तिवाद का जो खण्डन किया है, वह आधारविहीन है ।[4]

रसस्वरूप विमर्श—काव्यशास्त्रियों ने रस स्वरूप निर्धारण के प्रसंग में दार्शनिक शब्दावली तथा सिद्धान्तों का बहुशः प्रयोग किया है। स्वयं अभिनवगुप्त ने इस बात का

---

१. सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानवेक्षिता प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। —व्य० वि०, पृ० ७६-७७

२. तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्।
तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका···प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः।···तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः···संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया···तस्य प्रकारान्तरासम्भवाद्, यथालोकादिनेन्द्रचापादेः। इति। —वही, पृ० ७७-७८

३. न चैतल्लक्षणं वाच्ये सङ्गच्छते। तथाहि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति। तृतीयास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः।
—व्य० वि०, पृ० ७८

४. तत्र व्यक्तिवादिना घटप्रदीपन्यायेन सद्विषया,
व्यक्तिरंगीकृता। यथा च न दोषस्तथोपपादितम्।
—वही, रुय्यक विरचित व्याख्या (व्यक्ति विवेक व्याख्यान), पृ० ७६-७७

स्पष्ट संकेत किया है।[1] दार्शनिक परिपाटी का सहारा लेना इसलिए अनिवार्य हो जाता है क्योंकि काव्यशास्त्रियों ने रस को अनुभूति स्वरूप माना है। दार्शनिक भी अनुभूति को आत्मा से पृथक् स्वीकार नहीं करते।

रस स्वरूप के प्रमुख दार्शनिक व्याख्याताओं में आचार्य भट्टनायक ने सांख्य तथा वेदान्त के आधार पर, आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत के आधार पर तथा आचार्य विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने अद्वैत वेदान्त के आधार पर रस स्वरूप का विवेचन किया है। अतः रस स्वरूप के निर्णायक सभी प्रमुख दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन काव्यशास्त्रियों के आधारभूत दर्शन सहित निम्न प्रकार से किया जाता है—

रस चमत्कार रूप है—सर्वप्रथम शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्द 'चमत्कार' के आधार पर रस को चमत्कार रूप मान उसे रसानुभूति में आवश्यक स्थान प्रदान किया है। उनके मतानुसार चमत्कार आत्मविश्रान्ति की स्थिति है जो केवल निर्विघ्न रसास्वाद की दशा में ही संभव है। अभिनवगुप्त की परात्रिंशिका विवरण के अनुसार चमत्कार का सर्वथा अभाव ही जड़ता है और सहृदयता चमत्कार के आवेश का आधिक्य है। अतः चमत्कार के आवेश को केवल वही जान सकता है, जिसका हृदय ब्रह्मानन्द अथवा काव्यानन्द के अनन्तभोग का अभ्यासी है।[2]

अभिनवगुप्त के अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने 'चमत्कार' को रस का सार मानते हुए उसे विस्मय का ही अपर पर्याय स्वीकार कर पुष्टि रूप में धर्मदत्त की पंक्तियों को प्रस्तुत किया है।[3] किन्तु विश्वनाथ की चेतना से रस के चमत्कार रूप को प्रस्तुत करने में उनका शैवाद्वैत हटकर उसका स्थान वेदान्त ने ले लिया है। अग्निपुराण के अनुसार वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर है, परम है, सनातन है, अज है, विभु है, चैतन्य है, ज्योति है, ईश्वर है। उसका सहज जब कभी व्यक्त होता है तो उसकी यह व्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहलाती है।[4]

---

१. अत्र च विज्ञानवादोद्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्कार्यवाद एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम्। वयं तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शमिथ्याप्रयाससंश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम्। —अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २६४

२. सर्वतो ह्यचमत्कारे जड़तैव, अधिकचमत्कारावेश एव वीर्यक्षोभात्मा सहृदयता उच्यते, यस्यैव एतद् भोगासंगाभ्यासनिवेशितानन्तवृंहकवीर्यवृंहितं हृदयं, तस्यैव सातिशयचमत्क्रिया—। —परात्रिंशिका, पृ० ४६

३. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।···तदाहधर्मदत्तः स्वग्रन्थेः
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥ —सा० द० ३।३, वृत्ति, पृ० ४६

४. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥२॥ —अग्निपुराण, ३३६।१-२

रसास्वाद ब्रह्मास्वाद सहोदर है—रसास्वाद की दार्शनिक व्याख्यायें आचार्य भट्टनायक, आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वग्रन्थों में की है। आचार्य भट्टनायक रसास्वाद को आत्मानन्द का ही आस्वाद स्वीकार करते हुए[1] इसे चिदानन्दमय तथा 'परब्रह्मास्वादसविध' भी कहते हैं[2] जो अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।[3] अभिनवगुप्त का कहना है कि रसास्वादन रूप प्रतीति में निर्विघ्न-रूप से रत्यादि का भान होता है। उन्होंने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के समान माना है।[4] अपने शैव ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में आचार्य अभिनवगुप्त ने रसास्वाद की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर सुचारु रूप से प्रकाश डालते हुए बताया है कि रसास्वाद सहृदय को वीन-विघ्नता की स्थिति में ही हो सकता है।[5]

आचार्य विश्वनाथ ने रसास्वाद को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर तथा स्वाकारवदभिन्न माना है।[6] उन्होंने रसास्वाद के लिए पूर्व जन्म की तथा इस जन्म की वासना को अनिवार्य बताते हुए कहा है कि यदि पूर्वजन्म की वासना को अनिवार्य न माना जाए तो रुक्षहृदय वेदपाठियों को तथा मीमांसकों को भी रसास्वाद होने लगेगा।[7] अतः कोई ज्ञाता जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य से वासनाख्य संस्कार हैं, वही अपने आकार की भाँति अभिन्न रूप से रसास्वाद करता है। साहित्यदर्पण के 'विमला' व्याख्याकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे आत्मा से भिन्न होने पर भी शारीरादिकों में 'गौरोऽहम्', 'काणोऽहम्' इत्यादि का अभेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा से भिन्न होने पर भी आनन्दचम-त्कारमय रस आत्मा से अभिन्न प्रतीत होता है। उनका कहना है कि जैसे घटादिकों के

---

१. अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २७७

२. वही

३. अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानंदरसस्वरूपम्॥
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक २३६

४. ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।
—का० प्र०, अध्याय ४, पृ० १०६

५. ...तत्र वीतविघ्नत्वादेवासौ रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति, प्रतीतिः, प्रमातृविश्रान्तिरेव, तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्रधान्यात् व्यपदेश्या..... निर्विघ्नास्वादरूपाश्च रसनात्...। —ई० प्र० वि० वि०, भा० २, पृ० १७८-७९

६. वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ —सा० द० ३।२

७. न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्॥ —सा० द० ३।९

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी वा रसास्वादहेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तत्र स्यात्। —वही, वृत्ति, पृ० ५३

ज्ञान के अनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में ज्ञाता और ज्ञान में भेद भासित होता है, उस प्रकार रसास्वाद के पीछे भेद का भान नहीं होता अथवा जिस प्रकार क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार घटादि विज्ञान के ही रूप माने जाते हैं, उसी प्रकार विज्ञान रूप आत्मा से अभिन्न रस की प्रतीति होती है।[1] ब्रह्मास्वाद से उनका तात्पर्य सवितर्क समाधि से है, जिसमें आनन्द, अस्मिता आदि आलम्बन रहते हैं, निर्वितर्क समाधि की समता उन्होंने इसमें नहीं मानी क्योंकि रसास्वाद में विभावादि आलम्बन रहते हैं।[2] समाधि के इन दोनों रूपों की चर्चा योगदर्शन का विषय है। योगदर्शन के समाधिपाद में इन दोनों प्रकार की समाधियों का वर्णन मिलता है।[3]

काव्यशास्त्र के अन्तिम देदीप्यमान नक्षत्र पण्डितराज जगन्नाथ का रसनिरूपण पूर्णरूपेण वेदान्त की शब्दावली में है। वे रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद की प्रक्रिया की समानता पर प्रकाश डालते हैं। रसगंगाधर के 'चन्द्रिका' टीकाकार का कहना है कि जब स्थायिभाव 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेद वाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञान रूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे 'स्थायीभाव' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। उसी अवस्था में 'रसोऽहं' की प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायी भावों को आत्मानन्द का आस्वाद तब तक नहीं हो सकता जब तक आनन्दस्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाए।[4] चैतन्य के ऊपर से अज्ञान का आवरण हट जाना ही रस-चर्वणा है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रसचर्वणा समझना चाहिए।[5] पण्डितराज के रस के अज्ञानावरण का आधार वेदान्त दर्शन है। वेदान्त में अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप दो शक्तियों का वर्णन मिलता है।[6]

---

१. साहित्यदर्पण, 'विमला' हिन्दी व्याख्या सहित, पृ० ४६

२. वही, पृ० ४८

३. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का ॥
—यो० द०, समाधिपाद, ४२, ४३

४. अतएव—आवरणरूपाज्ञानापसारणादेव···पदार्थज्ञातृत्वप्रभृतिर्निजधर्मो···सत्येन 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेर्निजस्थात्मनः स्वरूपेणानन्देन सहाभेदेन ('रसोऽहं' इत्यादि प्रतीतेः) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमानः, प्राक् पूर्व जन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च विनिविष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूपं यस्य, तादृशो रत्यादिरत्युत्साह प्रभृतिस्तत्तदरसस्थायिभाव एव रसः इत्यर्थः।
—चन्द्रिका, रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० ८०-८१

५. चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।
—रसगंगाधर (चन्द्रिका), प्रथमानन, पृ० ८६

६. अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तदाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणम···विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चादिमुद्भावयति। —वेदान्तसार, पृ० ४

जिस प्रकार आचार्य जगन्नाथ ने रस के ऊपर से अज्ञानावरण के हट जाने से ही रसचर्वणा को संभव बताया है उसी प्रकार वेदान्तदर्शन में भी बताया गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसके ऊपर से अज्ञान का आवरण हट नहीं जाता। जिस प्रकार वेदान्तदर्शन में अज्ञानावरण के स्पष्टीकरण के लिए बादल के टुकड़े तथा सूर्य का उदाहरण दिया गया है[1] उसी प्रकार रसगंगाधर में कसोरे से ढके हुए दीपक का उदाहरण दिया गया है।[2] जब तक आत्मा के ऊपर रहने वाला अज्ञानवरण हटा रहता है, तभी तक आत्मा रति आदि को भासित करती है, बाद में नहीं, और अज्ञान का आवरण आत्मा पर से तभी तक हटा रहता है जब तक चर्वणा विद्यमान रहती है। चर्वणा के समाप्त होने पर आत्मा फिर अज्ञानावरण में ढक जाती है, उस दशा में स्थायी विद्यमान रहकर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक के ढक जाने पर समीप में पड़ी हुई वस्तुएँ भी प्रकाशित नहीं होती।[3]

वेदान्त में समाधि की सविकल्पक एवं निर्विकल्पक दोनों दशाओं का वर्णन मिलता है।[4] इनमें पण्डितराज जगन्नाथ ने रसास्वाद को समाधि की सविकल्पक दशा में सम्भव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार योगियों के चित्तों में सविकल्पक समाधि काल में आनन्दाकार वृत्ति होती है अर्थात् उस अवस्था में योगियों को सांसारिक किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि तब वे ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, उन्हीं स्थायी भावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति को साहित्यशास्त्र में 'रस' कहते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ब्रह्मास्वाद से रसचर्वणा में विलक्षणता का वर्णन किया है।[5] क्योंकि रसचर्वणा का आलम्बन विभावादि विषयों से मिश्रित आत्मानन्द है और काव्य की व्यंजना से ही चर्वणा होती है, इसके विपरीत ब्रह्मानन्दास्वाद का आलम्बन विषयविहीन शुद्ध आत्मानन्द है और श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप व्यापारों से होता है। अतः ब्रह्मास्वाद तथा रसास्वाद में कारण तथा विषय दोनों के भिन्न होने से भेद है।

रस स्वप्रकाश रूप है—आचार्य विश्वनाथ ने रस को स्वप्रकाशरूप कहा है। उनका कहना है कि रस्यमानता के ही साररूप होने से रस प्रकाश शरीर (ज्ञान रूप) से

---

१. "घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्ययोपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥" इति —वही

२. र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्र० आ०, पृ० ८३

३. विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते। —र० ग० ध० (चन्द्रिका) प्रथमानन, पृ० ८६

४. यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित—स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चितवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। —वही

५. इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। —वही, पृ० ९०

अन्य नहीं है ।[1] रस को ज्ञान रूप मानने से रस ज्ञान का विषय नहीं रहता क्योंकि ज्ञान अपने विषयभूत घटादिकों से सदा भिन्न होता है । अतः आस्वाद रूप अथवा प्रकाशस्वरूप रस भी आस्वाद और प्रकाश का विषय नहीं हो सकता । यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि रत्यादि मिलकर रस होते हैं तो रस का स्वप्रकाशत्व और अखण्डत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि स्वप्रकाशता तो ज्ञान में होती है । इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि रस की निष्पत्ति, रत्यादि के ज्ञान स्वरूप ही है और ज्ञान की स्वप्रकाशता सिद्ध ही है । अतः रस भी स्वप्रकाश सिद्ध होता है ।[2]

वेदान्तियों का 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मवाची है ।[3] यह स्वप्रकाशात्मक है । 'स्वप्रकाश' का अर्थ है किसी अन्य के द्वारा ज्ञेयता की अपेक्षा न रखना । विश्वनाथ इसी ज्ञान के साथ रत्यादि के तादात्म्य की बात कहते हैं । स्वप्रकाशज्ञान के साथ रत्यादि का तादात्म्य होने पर वे भी ज्ञानरूप हो जाते हैं । अतः वे भी स्वप्रकाश हैं ।

शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने भी रस के लिए 'प्रकाश' शब्द का प्रयोग किया है ।[4] शैव प्रत्यभिज्ञावादी सत्ता को प्रकाशविमर्शमय मानते हैं । दर्पणरूपप्रकाश शरीर से वह भी किसी विमर्श को पृथक् नहीं मानते । किन्तु अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ के मतों में अन्तर यह है कि विश्वनाथ तो 'प्रकाशतादात्म्य' की नहीं अपितु 'ज्ञान तादात्म्य' की बात कहते हैं । उन्होंने अभिनव के सिद्धान्त को वेदान्त की छाया में ग्रहण किया है कि रस्यमान रूप होने के कारण रस प्रकाश शरीर से भिन्न नहीं है । उनकी वेदान्ती चेतना इस विषय में और भी स्पष्ट हो जाती है जब वे कहते हैं कि ज्ञान को स्वप्रकाश न मानने वाले व्यक्ति (नैयायिक) को वेदान्तियों का डंडा याद रखना चाहिए ।[5] नैयायिक ज्ञान की स्वप्रकाशता स्वीकार न कर ज्ञान को ज्ञान के अनुव्यवसाय में मानते हैं । इस प्रकार अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिए एक तीसरा ज्ञान चाहिए । तीसरे को चौथा और चौथे को पाँचवाँ ज्ञान चाहिए । इस प्रकार अनन्त परम्परा के कारण अनुव्यवसाय मानने में अनवस्था दोष आ जायेगा । अतः वेदान्तियों की भाँति प्रथम ज्ञान को ही अनुव्यवसाय मानना चाहिए ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगंगाधर में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता पर प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयभूत आदि स्थायीभावों

---

१. तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति ।
—सा० द० (विमला व्याख्या), पृ० ५०

२. ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसस्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वा अखण्डत्वमित्याहः—

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ।। —सा० द० ३।२८

३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । —विवेक चूड़ामणि, श्लोक २२७

४. अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २८२

५. "ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयोदण्डः ।"
—सा० द०, तृ० परिच्छेद, पृ० ६२-६३

को रस कहा जाता जाए अथवा रति आदि स्थायीभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आंशिक रूप से हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य हैं और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य हैं और रति आदि विशेषण। दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है।[1] यहाँ रस की नित्यता वेदान्त में वर्णित ज्ञान की नित्यता तथा स्वप्रकाशता से साम्य रखती है।

रस अखण्डरूप है—आचार्य विश्वनाथ द्वारा रस के लिए 'अखण्ड' शब्द का प्रयोग भी वेदान्ती शब्दावली से आया प्रतीत होता है किन्तु उसका अर्थ अखण्ड चैतन्य के रूप में नहीं ग्रहण किया गया। रसानुभूति में पाँच तत्व मिलकर एकाकार होते हैं। अतः वह अखण्ड है। वे पाँच तत्व हैं—विभावादि, रत्यादि, ज्ञान, आनन्द एवं चमत्कार।[2] इन पाँच को पृथक्-पृथक् तत्त्वों के रूप में नहीं लिया गया अपितु ज्ञान से तादात्म्य करते हुए एक विशेष ज्ञान के रूप में लिया गया है। ज्ञान के साथ तादात्म्य होने के कारण ही रस अखंड है।[3] यदि रत्यादि प्रकाश शरीर (ज्ञान के स्वरूप) से भिन्न मानें जायें तब भी रस की अखण्डता सिद्ध न हो सकेगी, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस के सम्पादक रत्यादिकों का ज्ञान के साथ तादात्म्य माना जाता है। इसमें उन्होंने प्रमाण भी दिया है।[4] पहले एक-एक करके रत्यादिक प्रतीत होते हैं फिर सब भावना के बल से सहृदय के हृदय में देखते-देखते एकाकार होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा संचारी भाव पहले खण्डशः प्रतीयमान होते हैं, फिर अखण्ड रस रूप को प्राप्त होते हैं।[5] आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा है कि वास्तव में रस, वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्म की तरह अखण्ड ही है।[6]

---

१. सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा—
चिदंशमादाय, नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।
—रसगंगाधर, (चन्द्रिका), प्र० आ०, पृ० ८६

२. अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः।
—सा० द०, वृत्ति—३।३, पृ० ४६

३. तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्। —वही, वृत्ति ३।२८, पृ० ६३

४. यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्। न च तथा। तादात्म्याङ्गीकारात्। यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या, तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादि-भावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। —सा० द०, पृ० ६१

५. रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते। तदुक्तम्—विभावानुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः। प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो, यान्त्यखण्डताम् इति। —वही, पृ० ६३

६. 'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः। —वही, पृ० ६४

वेदान्त में ब्रह्म को अखण्ड, सच्चिदानन्द आदि कहा गया है।[1] रसास्वाद को अखण्ड अनुभूति मानने का कारण वेदान्त की वाक्य बोध की अपनी उपपत्ति है। वेदान्त के महावाक्य ब्रह्म का बोध कराते हैं। श्रुति वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड वाक्यों के द्वारा वेदान्तियों के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थ का ज्ञान होता है। वहाँ अर्थ का बोधक सम्पूर्ण वाक्य ही होता है और उसके विभाग कल्पनामात्र ही होते हैं। काव्यशास्त्रियों ने भी रस की अखण्डता की इतने आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठा की है कि काव्यार्थ और रसानुभूति के बीच कोई विघ्न स्वीकार नहीं किया गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने तो रस व्यापार को 'अलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अन्तर्गत रखा तथा रस व्यापार को 'झटिति प्रत्यय' कहा है। आनन्दवर्धन का कहना है कि रसादि का प्रत्यय विभावादि के वाक्यों के समकाल ही अवभासित होता है।[2]

रस आनन्दरूप है—अभिनवगुप्त के मतानुसार रसात्मक संवेदन आनन्दमय प्रतीति है। उनके मतानुसार स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद स्वरूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सभी रस आनन्द प्रधान होते हैं।[3] अपनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृत्तिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने आत्मस्वरूप के प्रकाश को ही आनन्दात्मक प्रत्यय कहा है।[4] पूर्णताबोध ही आत्मस्वरूप का बोध है। काव्य से होने वाली आनन्दात्मक अनुभूति में भी आत्मपरामर्शपूर्वक संविद् विश्रान्ति ही मूल कारण है। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यानन्द वैषयिक आनन्द और परमानन्द के बीच की स्थिति है। वैषयिक आनन्द की अपेक्षा यहाँ का आनन्दबोध अपेक्षाकृत एक तो स्थिर होता है, दूसरे लौकिक अर्जन विसर्जन से अन्तःकरण उन्मुक्त रहता है, अतः काव्यानन्द परिष्कृत और उच्चकोटि का भी होता है। तीसरे, यहाँ सभी भाव साधारणीकृत हो जाते हैं। इनकी अनुभूति के फलस्वरूप प्रमाता देशकालादि की सभी सीमाओं को भूल जाता है तथा उसकी अपरिमित प्रमातृता के उन्मीलन के फलस्वरूप चिति का महाविस्फार हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनुभव गोचर होने से आनन्द का स्थिर प्रवाह चलने लगता है। विभावादि व्यंजक सामग्री के विलयन के साथ ही आनन्दमयी भूमि भी विलीन हो जाती है। आनन्दानुभूति की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण

---

१. अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रर्येऽभीष्टसिद्धये॥ —वेदान्तसार, पृ० १

२. रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते।
—ध्वन्यालोक लो०, पृ० १८८

३. तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्।
—अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २८२

४. स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इत्युच्यते।·········यस्तु आनन्दांशस्तत्र स्वात्मपरामर्शरूपतैव प्रयोजिकेति······ तत्रापि तु तथोदितव्यवधानांशतिरस्क्रियासावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्।
—ई० प्र० वि० वि०, भा० २, पृ० १७८-७९

अभिनवभारती में भी उपलब्ध होता है।[1] आनन्दाभूति की चरमावस्था परमानन्द की पूर्णता बोध की अद्वैत स्थिति है जिसे प्रमाता की सम्यक् आत्मपरामर्श की अवस्था कहते हैं। अभिनवगुप्त का रस स्वरूप विवेचन[2] शैवदर्शन में आनन्दरूपता के भाव को प्रकट करता है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी करुणादि सभी रसों की आनन्दरूपता को स्वीकार करते हुए उसे लौकिक सुख से भिन्न माना है।[3] पण्डितराज जगन्नाथ ने रस की आनन्दरूपता को वेदान्त के ब्रह्मानन्द के समकक्षी मान प्रमाण स्वरूप श्रुति वाक्यों को प्रस्तुत किया है।[4] अतः यह कहा जा सकता है कि रस की आनन्दरूपता को सभी प्रमुख आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। अन्तर केवल उनके आधारभूत दर्शन का है।

रस भोगीकरण रूप है—रस को भोगीकरण रूप मानने वाले सुप्रसिद्ध आचार्य हैं भट्टनायक। काव्यशास्त्र में भोजकत्व व्यापार इन्हीं की देन है। रस भोग के विषय में इनका कहना है[5] कि रस के भावित होने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रति-

---

१. अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढ़प्राक्तन-संवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेश-कालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तत्रापि लौकिका देशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया। येनार्जनाभिषङ्गादि-सम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदे गोचरभूता रतिः श्रृंगारः। साधारणी (भावना च) विभावादिरति।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८६-८७

२. (क) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० २८०

(ख) अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक चर्वणागोचरतांनीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायी विलक्षण एव रसः। —वही, पृ० २८४

३. करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्। —सा० द० ३।४
हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्॥
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः। —वही, ३।६-७

४. अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादिश्रुतिः, सकल-सहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्।

—र० गं० ध०, चन्द्रिका, प्रथमानन, पृ० ६१

५. लोचन, पृ० १६३

पत्ति से विलक्षण है, वह द्रुति, विस्तार और विकास रूप है तथा रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द एवं परब्रह्म से आस्वाद का समीपवर्ती है। इनके रस को भोगीकरण रूप मानने के दार्शनिक आधारों का विवेचन पीछे किया जा चुका है।

अभिनवगुप्त ने भी भट्टनायक के भोग व्यापार को स्वीकार करते हुए इसमें दो सुधार किए हैं। एक तो इसका अन्तर्भाव व्यंजना में ही कर दिया है।[1] दूसरे उन्होंने रस भोग को प्रतीति रूप मान[2] रसानुभूति में चित्त की तीन दशायें स्वीकार न करते हुए जितने रस हैं, उतने प्रकार की भोगीकरण रूप आस्वादनात्मक प्रतीतियाँ मानी हैं।[3] भट्टनायक का भोग सांख्य और वेदान्तदर्शन से प्रभावित है तथा अभिनवगुप्त का शैवाद्वैत से। अभिनवगुप्त ने समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संविति को ही चमत्कार, निर्वेश, रसना, आस्वाद, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि अनेक नामों से अभिहित किया है।[4] शैवदर्शन में भोग के सम्बन्ध में परतत्त्व को ही शास्त्रीय भाषा में 'महेश्वर' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[5]

अभिनवगुप्त के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने रस को स्पष्ट रूप से भोगीकरण रूप तो नहीं कहा किन्तु उन्होंने सत्वोद्रेक में रसानुभूति की चर्चा अवश्य की[6] जो स्पष्टतः सांख्य का प्रभाव है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी भट्टनायक के रस के भोगीकरण रूप स्वभाव पर

---

१. भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्।
—लो०, पृ० २००

२. प्रतीत्यादिव्यतिरि[illegible]श्च संसारे को भोग इति न विद्मः।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

३. यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मनः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः (सत्त्वादि) गुणानांचाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृ (का त्रि) त्वेनेयत्ता—।
—वही, पृ० २७७

४. लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसना········अभिधीयते।
—अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २८०

५. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० १३७-३८

६. 'रजःतमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। तत्र हेतुस्तथाविधालौकिक काव्यार्थपरिशीलनम्।
—सा० द० ३।३, पृ० ४६

प्रकाश डाला है।[1] उन्होंने रस भोग को ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती कहा है,[2] ब्रह्मास्वाद इसलिए नहीं कहा क्योंकि भोग, विभावादि से विशिष्ट स्थायीभाव को विषय रूप में साथ रखे रहता है और ब्रह्मास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को साथ नहीं रखता। परन्तु भेद रहने पर भी शब्द जन्य, सच्चिदानन्दमय तथा साक्षात्कार रूप होने से दोनों समान कहलाने योग्य अवश्य हैं।

रस अलौकिक है—रस की अलौकिकता की सिद्धि कई प्रकार से की जा सकती है—

कार्य तथा ज्ञाप्य से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है[3]

दर्शन तथा लोक में हेतु दो माने गए हैं, एक कारक दूसरे ज्ञापक। किसी घट के मिट्टी आदि उपादान कारण तथा कुम्भकार एवं दण्ड आदि निमित्त कारण होते हैं, घट उनका कार्य होता है। रस को कार्य मानने पर विभावादि के नष्ट होने पर भी 'रस' को स्थिर रहना चाहिए क्योंकि निमित्त कारण का नाश होने पर रस स्थिर नहीं रहता इसलिए रस विभावादि का कार्य नहीं है। विभावादि रस के ज्ञापक भी इसलिए नहीं हो सकते क्योंकि रस तो विभावादि से पूर्व विद्यमान नहीं होता अपितु विभावादि से व्यंजना द्वारा व्यक्त किया गया तथा आस्वादनीय है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे ही किंचिद् भिन्न प्रकार से कहा है।[4]

---

१. तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना, निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृत्तिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण, विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादि स्थायी रसः। —र० ग० ध० (चन्द्रिका), पृ० ९८

२. सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते। —वही, पृ० १००

३. (क) स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत क्वदृष्टिमिति चेत्? क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। —का० प्र०, च० उ०, पृ० ११०

(ख) अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। —अभि० भा०, ना० शा०, भा० १, पृ० २८५

४. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः। तस्मान्न कार्यः। यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्। कारणज्ञानतत्कार्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात्⋯रसस्य च विभावादि समूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञान कारणकत्वमित्यभिप्रायः।

⋯⋯⋯⋯⋯⋯⋯⋯⋯⋯

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो⋯⋯⋯। —सा० द० ३।२१-२२

सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है[1]

दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद माने गए हैं। एक सविकल्पक तथा दूसरा निर्विकल्पक। जिसमें वस्तु की प्रतीति के साथ उसके नाम जाति आदि का भी भान होता है उसको सविकल्पक कहते हैं जैसे घटः पटः आदि की प्रतीति के साथ उनके नाम जात्यादि का भान होने से इसे सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। परन्तु जहाँ केवल वस्तु का स्वरूप प्रतीत होता है, उसके नाम जाति की प्रतीति नहीं होती उसको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं।

रस का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है क्योंकि उसमें विभावादि के सम्बन्ध की प्रधानता रहती है। वह सविकल्पक भी नहीं, क्योंकि आस्वाद्यमान तथा अलौकिक आनन्दस्वरूप रस की स्वानुभूति मात्र से ही सिद्धि हो जाती है। सविकल्पक ज्ञान तथा निर्विकल्पक ज्ञान से विलक्षण होना रस की अलौकिकता को प्रकट करता है।[2] साहित्यदर्पणकार ने भी रस को स्वशब्दवाच्य न होने के कारण सविकल्पक से भिन्न तथा रस में विभावादि का परामर्श होने के कारण निर्विकल्पक से भिन्न माना है।[3]

परोक्ष तथा अपरोक्ष से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है

रस का ज्ञान परोक्ष नहीं, क्योंकि उसका साक्षात्कार होता है और अपरोक्ष भी नहीं क्योंकि काव्यादि के शब्दों से वह उत्पन्न होता है।[4] उपनिषदों में भी ब्रह्म के निर्गुण निर्विशेष रूप की अलौकिकता पर प्रकाश डाला गया है।[5]

---

१. तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानम्।
—वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ० ७१

२. तदग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति···।
—का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० ११२

३. न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।
तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च॥ —सा० द० ३।२४
सविकल्पसंवेद्य :
सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता।
न तु रसस्य तथा। —वही, वृत्ति

४. साक्षात्कारतया न च।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात्। —वही, ३।२५

५. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
—श्वे० उप० ३।१९

यद्यपि बहुत से वेदान्ती शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु उनका यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं है।[१] यदि श्रुति से ही अपरोक्ष ज्ञान माना जाए तो श्रुति द्वारा आत्मस्वरूप बोधन के अनंतर निदिध्यासनादि की कोई आवश्यकता ही न रहे। अतः रस का स्वरूप अलौकिक तथा अनिर्वचनीय है। केवल सहृदय पुरुष इसका अनुभव कर सकते हैं। चर्वणा से भिन्न उस रस की सत्ता में सहृदय विद्वानों की चर्वणा ही प्रमाण है।[२]

डॉ० सेन ने भी अपने शोध-ग्रन्थ[3] में रस-स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इन्होंने शक्ति के सिद्धान्त के आधार पर रसानुभूति रूपता की चर्चा की है। संक्षेप में इनके मतानुसार शक्ति का सिद्धान्त आस्तिक ही नहीं बौद्ध प्रभृति नास्तिक दर्शन भी मानता है। यह शक्ति दो रूपों में उपलब्ध होती है। एक चित् अथवा आत्मा की शक्ति तथा दूसरी अचित् जड़ की शक्ति जिसको हम विषय और विषयी की शक्ति कहते हैं। विषय और विषयी में एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति होती है जिससे उनका प्रकाशन होता है। बिना उसके न तो चित् अपने को प्रकाशित कर सकता है न अचित् अथवा विषय अपने को प्रकाशित कर सकता है। ये शक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से प्रकाशन क्रिया के रूप में कार्य करती रहती है। इनका सामंजस्य ही पुरुष के बोध का हेतु होता है। काव्यजन्य रसानुभूति सहृदय सामाजिक की चित् शक्ति एवं काव्य में वर्णित रत्यादि अचित् विषयों की शक्ति के सामंजस्य के फलस्वरूप होने वाली मानसिक अनुभूति है। व्यक्ति के मन में विभावादि के माध्यम से अचित् शक्ति क्रियान्वित हो जाती है। उनके विभावन के फलस्वरूप व्यक्ति का मन सत्वशील हो उठता है जिसमें उनकी चित् शक्ति की क्रिया भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इस प्रकार सत्वशील मन में उपस्थापित रत्यादि विषयों की भोग्यता शक्ति एवं उसी में प्रतिबिम्बित चित् तत्त्व अर्थात् आत्मा की भोक्ता शक्ति का जब समन्वय होता है तो एक विलक्षण प्रकार की अनुभूति होती है जिसमें चित् एवं अचित् दोनों के स्वभाव की मिश्रित प्रक्रिया पाई जाती है। इसे ही रस कहते हैं।

इन्होंने रामानुज, निम्बार्क, माधव और वल्लभ के दर्शन सिद्धान्तों में वर्णित शक्ति के स्वरूप की सामान्य चर्चा करते हुए पातंजल योगदर्शन के अनेक उदाहरणों के माध्यम से अपने सिद्धान्त का विवेचन किया है। इन सबकी चर्चा यहाँ करना सम्भव नहीं है। अतः सार रूप में ही उनके मत का विवेचन किया गया है।

डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी ने 'रस मनोविज्ञान'[४] नामक निबन्ध में रस-स्वरूप का

---

१. सा० द०, पृ० ६०

२. तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्॥ —वही, ३।२६

३. R. K. Sen, Aesthetic Enjoyment : Its Background in philosophy And Medicine, University of Calcutta, 1966

४. डॉ० चतुर्वेदी, 'रस मनोविज्ञान'
नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सम्पूर्णानन्द स्मृति अंक), वर्ष ७३
(काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृ० २०३ से २०६

योगदर्शन की आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की दशा के आधार पर विवेचन किया है। इनका कहना है कि योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमियों—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध में प्रथम तीन तो व्यक्ति के दैनंदिन जीवन में यथावसर विद्यमान रहती हैं। अन्तिम दो में से 'निरुद्ध' तुर्यावस्था के चित्त की दशा है जो असंप्रज्ञात समाधि में होती है तथा चित्त की एकाग्रावस्था को संप्रज्ञात समाधि की अवस्था की वृत्ति कहा गया है। यह दशा जाग्रत की ही एक विशिष्ट अवस्था है। व्यक्ति का किसी व्यापार विशेष में तल्लीन होना या साधक रूप में चित्त को किसी बिन्दु पर एकाग्र करना ही चित्त की सम्प्रज्ञाता अवस्था है। सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता का अनुगत होता है।[1] इनमें से जब चित्त किसी प्रकार के आह्लाद पर एकाग्र होता है तो उसे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात की अवस्था कहते हैं। काव्यजन्य रसानुभूति को चित्त की इस एकाग्र भूमि में समुद्भूत सम्प्रज्ञात की ही अवस्था कहा जा सकता है। अस्मितानुगत इससे और सूक्ष्म ज्ञान की पराकाष्ठा एवं वैराग्य की 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति में आत्मा के साथ बुद्धि की एकात्मना के बोध में चरितार्थ होता है।

योगभाष्य में वर्णित सम्प्रज्ञात की दशा का काव्य-रस की चर्वणा अवस्था के निरूपण से पर्याप्त साम्य है। वहाँ कहा गया है कि सम्प्रज्ञात वह है जो एकाग्र चित्त में सद्भूत अर्थ को प्रकाशित, क्लेशों को क्षीण, कर्म बन्धनों को शिथिल तथा चित्त को निरुद्ध दशा की ओर अभिमुख करता है।[2] वाचस्पति मिश्र ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए चित्त में सत्त्व की बहुलता को ही सम्प्रज्ञात कहा है। आचार्य भट्टनायक भी रस भोग की दशा सत्वोद्रेक में ही मानते हैं।[3] उस समय बुद्धि में एक प्रकार का प्रकाश हो जाता है जिसका अनुभव आनन्दात्मक होता है। इसे ही आनन्दमय संवित् कहा गया है। इसी में चित्त की विश्रान्ति होती है। इन्होंने भट्टनायक द्वारा वर्णित रसास्वाद की दशा के तीन भागों सत्वोद्रेक, प्रकाशानन्दमय संविद् तथा विश्रान्तिसतत्त्व को सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की एकाग्रता के तीन रूपों सद्भूतार्थ का प्रद्योतन, क्लेशों का क्षय तथा चित्त का निरोधोन्मुखता में क्रियान्वित किया है। अभिनवगुप्त की चिद्विशिष्ट रत्यादि की अनुभूति भी आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की कोटि में आती है। पण्डितराज इसे 'रत्यावच्छिन्नं चित्' की दशा कहते हैं।

रस-भेद—काव्यशास्त्रियों का रस-भेद विवेचन भी दार्शनिक प्रभाव से शून्य नहीं है। रस-भेद निर्धारण में काव्यशास्त्री एकमत नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त केवल शान्त को ही प्रकृति रस मानते हैं तथा शृंगारादि अन्य रसों को इसका विकार। उनका कहना है कि प्रकृति से उत्पन्न विकार पुनः प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं। अपने-अपने निमित्त

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगतात्संप्रज्ञात्। —यो० सू० १।१०

२. यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्थलयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।
—यो० सू० १।१ पर व्यास भाष्य

३. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७७

को लेकर शान्त से ही भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त के विनाश होने पर पुनः शान्त में ही लीन हो जाते हैं।[1] अतः शान्त-रस प्रकृति रूप है तथा अन्य रस विकृति रूप।

भोज भी केवल एक ही अहंकार शृंगार-रस को प्रकृति-रस मानते हुए कहते हैं[2] कि सुधीजन भले ही सब रसों को मानें हम तो रसनाद् रस के आधार पर केवल एक शृंगार को ही रस मानते हैं। वही शृंगार चतुर्वर्ग का एक कारण है, वीर आदि रस तो मिथ्या प्रवाद हैं।[3]

एक ही रस को प्रकृति-रस मान अन्य रसों को उसका विकार मानने वाले आचार्यों में आचार्य विश्वनाथ तथा रूपगोस्वामी के नाम भी लिए जा सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ अद्भुत रस को ही प्रकृति-रस के रूप में स्वीकार करते हैं।[4] तथा रूपगोस्वामी भक्ति रस में ही सभी रसों का उद्भव मानते हैं।

रसों में प्रकृति-विकृति भाव का आधार—काव्यशास्त्रियों का रसों में प्रकृति-विकृति-भाव खोजने का प्रयास दर्शन के प्रभाववशात् ही प्रतीत होता है। सांख्यदर्शन में प्रकृति-विकृति भाव की चर्चा मुख्य रूप से हुई है। वहाँ बताया गया है कि मूल प्रकृति अविकृति है। महद् आदि सप्त प्रकृति-विकृति दोनों हैं तथा शेष षोडश विकृति है और पुरुष न तो प्रकृति है और न ही विकृति।[5]

काव्यशास्त्रियों का एक ही रस को प्रकृति-रस मानने के समान विचार उपनिषद

---

१. (क) भावाः विकारस्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुर्निनिमित्तापाये च शान्तः एवोपलीयते।
—ना० शा०, भा० १, पृ० ३३४-३५

(ख) एक एव तावत् परमार्थतो रसः······सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशो विभागः।
—ना० शा०, भा० १, पृ० ४७१

२. आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो, वयन्तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।
—डॉ० राघवन, शृ० प्र०, पृ० ४५८

३. वीरादयो मिथ्यारसप्रवादाः शृङ्गार एवैकः चतुवर्गैककारणं रसः इति।
—वही

४. 'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो············
... ...
... ...
················नारायणो रसम् ॥' इति —सा० द०, अ० ३, पृ० ४६

५. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ —सा० का० ३

में भी उपलब्ध होता है।[1] वहाँ 'आत्म-रस' को ही एक रस मानते हुए कहा गया है कि आत्मा के विभिन्न पदार्थों में जो रस-बुद्धि होती है, वह मिथ्या है, वास्तविक नहीं। क्योंकि आत्मा के लिए सब वस्तुएँ प्रिय होती हैं। इससे एक आत्म-रस ही निश्चित, समर्थ और नित्य है और आत्मानन्द ही सब कुछ है।

शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स प्रकृति रस—आचार्य भरत[2] तथा धनंजय[3] आदि काव्यशास्त्रियों ने चित्तवृत्तियों के आधार पर जो शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स रसों को प्रकृति-रस मान इनसे हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है, उनका आधार योगदर्शन है।[4] आचार्य धनिक ने दशरूपक की 'अवलोक' टीका में इसका स्पष्ट संकेत भी किया है।[5]

काव्यशास्त्रीय प्रमुख रसों पर दर्शन का प्रभाव

दर्शन में वर्णित ब्रह्म तथा माया के आधार पर 'ब्राह्म-रस' तथा 'माया-रस' का निरूपण भी काव्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। हरिपालदेव ने अपने 'संगीत सुधाकर' में आनन्द को ब्राह्म-रस का स्थायी माना है तथा निर्वेद को शान्त-रस का। ब्राह्म-रस को ये सांसारिक सभी प्रपंचों से ऊपर स्थिर होने के कारण नित्य एवं स्थिर मानते हैं।[6]

भानुदत्त मिश्र ने 'रस तरंगिणी' में माया रस का उल्लेख किया है। इसमें मिथ्या-ज्ञान है स्थायी भाव, सांसारिक ज्ञान के जनक धर्म-अधर्म हैं विभाव और पुत्र, कलत्र, विषय, साम्राज्य आदि विषयक व्यापार है अनुभाव। इन्होंने प्रवृति तथा निवृति दो प्रकार की चित्तवृत्तियों में से प्रवृति से माया-रस माना है।[7] किन्तु प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इन रसों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। अतः इनका दार्शनिक विवेचन यहाँ पर

---

१. आत्मनोऽन्यत्र यात्तु स्यात् रसबुद्धिर्न सा ऋता···आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत्—सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यो एक आत्मरस स्मृतः—पुरुषार्थ आत्मरतिरात्म-क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। —छा० उप०, ७।२५।२

२. शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रोद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥ —ना० शा० ६।३९

३. स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥ —द० रू०, ४।४३

४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यविषयाणां भावनातः चित्त प्रसादनम्।
—यो० सू० १।३३

५. ······तस्य च सामान्यात्मकत्येऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। —द० रू०, ४।४३ पर अवलोक

६. देखिए जयन्तमिश्र, काव्यात्ममीमांसा, पृ० ८२-८३

७. वही, पृ० ८३

नहीं किया जा रहा। यहाँ केवल काव्यशास्त्र के तीन प्रमुख रसों श्रृंगार, शान्त तथा भक्ति के दर्शन से प्रभावित अंशों का ही संक्षिप्त निरूपण किया जाएगा।

श्रृंगार-रस —काव्यशास्त्र में प्रायः सभी भावों की काम से निष्पत्ति मानी गई है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी 'काममय एवायं पुरुषः'[2] आदि वचनों के द्वारा मानस में सर्वप्रथम काम के उद्भव की पुष्टि की गई है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्जवल और दर्शनीय है उसे श्रृंगार-रस अथवा काम के अन्तर्गत माना है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने भी कहा है 'मैं सब भूतों में धर्म के अविरुद्ध काम हूँ।'[4]

श्रृंगार-रस का सर्वप्रथम दार्शनिक विवेचन अभिनवभारती में उपलब्ध होता है। वहाँ श्रृंगार-रस का वर्णन करते हुए जिस शब्दावली[5] का प्रयोग किया गया है वह शैव-ग्रन्थ तन्त्रालोक की ही शब्दावली है।[6]

अभिनवगुप्त के पश्चात् श्रृंगार-रस का दार्शनिक विवेचन करने वाले सर्वप्रमुख आचार्य हैं भोज। सरस्वतीकण्ठाभरण में तो इन्होंने श्रृंगार-रस का दार्शनिक विवेचन किया ही साथ ही इसको लेकर श्रृंगार प्रकाश नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना कर

---

१. प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
स चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते।
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगः यः कामः (कामकामः) स तु सस्मृतः।
यः स्त्रीयुरुषसंयोगे रतिसंयोगकारकः।
स श्रृंङ्गार इति ज्ञेयः उपकारकृतः शुभः। —शृ० प्र०: पृ० ४५५

२. बृ० आ० उ० ४।४।५

३. तत्र श्रृंङ्गारो नाम रतिस्थायीभावप्रभवः उज्जवलवेषात्मकः।
—ना० शा० (गायकवाड़) पृ० ३००

४. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। —गीता ७।११

५. (क) रतिक्रीडासार्धं च (रतिः क्रीडा। सा च) परमार्थतः कामिनोरेव। तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३०२

(ख) एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्न-भोगात्मकसंभोगो रस उत्पद्यते झटित्येव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसन-क्रिया निष्पद्यते। अपि तु प्रथम एवावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव।
—वही, पृ० ३०५

६. यथा प्रेक्षणके तत्तदद्रष्टृसंविदभेतिताम्।
क्रमोदितां सद्य एव लभते तत्प्रवेशनात्।
योगाभ्यासक्रमोपात्तां, तथा पूर्णां स्वसंविदम्।
—तन्त्रालोक, भा० ११, आ० २८, पृ० १०

डाली। इन्होंने रस, अभिमान, अहंकार तथा शृंगार को पर्यायवाची माना है।[1] भोज के शृंगार में उपलब्ध अहंकार-तत्त्व को लेकर आचार्यों ने इसकी विविध दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

डॉ० वी० राघवन ने सांख्यदर्शन के आधार पर शृंगार अहंकार का विस्तृत एवं सुरुचिपूर्ण विवेचन अपने शोध-ग्रन्थ 'शृंगार प्रकाश' में किया है।[2] इनका कहना है कि भोज द्वारा प्रयुक्त 'अहंकार' शब्द अभिमान के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ अपितु दर्शन के 'अहंकार' तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] भोज द्वारा वर्णित 'शृंगार' में तथा अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा वर्णित 'सहृदय' में उस समय कोई अन्तर नहीं रहता जब वे कहते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण ही ये शृंगार, अहंकार अथवा अभिमान है।[4] सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार रसिक ही रसानुभूति करता है तथा रस आत्मा में विद्यमान गुण की भाँति उसमें विद्यमान रहता है।

भोज ने चार पुरुषार्थों के आधार पर 'शृंगार' के धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार तथा मोक्षशृंगार चार भेद करते[5] हुए इनका विस्तृत निरुपण किया है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जो दर्शन का उद्देश्य है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य का वर्णन करना यद्यपि दर्शन का विषय नहीं है तथापि इस विषय में नाना उद्धरण दर्शन ग्रन्थों में अवश्य उपलब्ध होते हैं। भोज का शृंगार का पुरुषार्थों के आधार पर वर्गीकरण करना शृंगार की पवित्रता का सूचक है।

---

१. रसो ऽभिमानोऽहङ्कारः शृंङ्गार इति गीयते।
योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥
—डॉ० राघवन, शृं० प्र०, प्र० ४२५

२. डॉ० राघवन, शृंगार प्रकाश, पृ० ४७९ से ४८५

३. It must be noted that in this theory, the word 'Ahaṁkāra' is not used in the sense of egotism, but as a philosophical concept meaning Ego. Similarly Śṛṅgāra used as synonym of this Ahaṁkāra must not be confused with the developed climax stage of the first Bhava of Rati between man and woman, Śṛṅgāra here means Love absolute, Love subjective, love objectless.
—V. Raghvan, Śṛ. pra, p 410

४. असाधारणं तु प्रत्यगात्मगतानादिवासनानुबन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति, तच्च आत्मनोऽहङ्कारगुणविशेषं ब्रूमः। स शृंङ्गारः सोऽभिमानः स रसः।
—डॉ० राघवन, शृंगार प्रकाश, पृ० ४५३

५. प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
स चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते ॥
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
—वही, पृ० ४५५

भोज ने स्पष्ट कहा है कि शृंगार को सांख्यदर्शन से लिया है।[1] डॉ० राघवन का स्पष्ट कथन है कि भोज अपने रस-सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में सांख्य के ऋणी है।[2] सांख्यदर्शन में अभिमान को अहंकार भी कहा गया है।[3]

डॉ० राघवन के अनुसार सांख्यदर्शन के वे इसलिए भी ऋणी हैं क्योंकि सांख्य बुद्धि अथवा प्रकृति में तीन गुणों की चर्चा करता है।[4] इनमें से सत्त्व सुखमय है। इसी सत्त्व-गुण को रस अथवा आस्वाद संज्ञा से अभिहित किया गया है। भोज ने स्पष्ट कहा है कि उनके नये शृंगार, अहंकार रस में एक ही सत्त्व-गुण है।[5] वहाँ उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अहंकार अथवा अभिमान आत्मा में प्रतिबिम्बित प्रकृति का विकार है।

भोज के अनुरूप मधुसूदन सरस्वती ने भी सांख्य दर्शन के गुणों के आधार पर अहंकार तत्त्व का निरूपण किया है।[6]

डॉ० डे ('संस्कृत काव्यशास्त्र' द्वितीय भाग पृ० २६६) के अनुसार भाव प्रकाशन का रस-निरूपण शृंगारप्रकाश पर आधारित है।[7] शारदातनय ने शैवदर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए विवेचित किया है कि जीवात्मा का जगत का भोग करना सहृदय का राग, विद्या, कला, नियति आदि के द्वारा नाटकास्वाद करने के समकक्ष है।

---

१. स एव प्रमाणत्रयोपन्यासहेतुः वक्तुरभिप्रायः प्रतीयमानः प्रमाणत्रयोपन्यासादिना च सांख्यदर्शनाश्रयेण च शृंङ्गारः सन्नेव आविर्भवति, न त्वसन्नुत्पद्यते।

—वही, पृ० ४७९

२. Bhoja owes more to Sāṁkhya than he has himself admitted. For, the concept of Ahaṁkāra in our souls as the root cause of all relish and the germ from which all bhāvas arise in the third menifestation of Prakṛti of tne Sāṁkhya system—प्रकृतेर्महान्, ततोऽहङ्कारः⋯ ।

—वही

३. अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। —सां० का० २४

४. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। —वही, का० १२

५. सत्त्वात्मनाममलजन्मविशेषजन्मा,
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतुः
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः।

—डॉ० राघवन, शृंगार प्रकाश, पृ० ४८०

६. बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्।
साहङ्काराद्विकारो यः शृंङ्गार इतीरितः॥

—भावप्रकाशन (गायकवाड़), पृ० ४७

७. ......The Bhāva-prakāśa of Śāradātanaya, which reproduces the substance of most of the chapters of Bhoja's work......

—S. K. De, History of Skt. Poetics, Vol. II, p. 266

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी[1] ने भोजराज पर आयोजित परिसंवाद में "भोजराज की 'अहंकार' स्वरूप विषयधारणा' निबन्धवाचन में भोज द्वारा वर्णित अहंकार के आधार, विशेषताओं आदि पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि जो अहंकार विशेष अपनी विशेषताओं के कारण आस्वाद्य होकर 'रस' कहा जाता है, वह निर्मूल नहीं, वरन् आप्त सम्मत है। भोज ने स्वयं इसे अहंकार सामान्य न कहकर अहंकार विशेष ही कहा है। उनका केवल अहंकार को शृंगार कहने का अभिप्राय भी विशिष्टाहंकार अथवा परिष्कृत अहंकार ही है क्योंकि यह केवल सत्त्वात्माओं में ही स्वीकार किया है।

इन्होंने भोज सम्मत अहंकार की विशेषताओं में सर्वप्रमुख विशेषताएँ बताई हैं, सत्कार्यवाद के अनुरूप अव्यक्तावस्था में रहना, अंकुरित होकर मानमय बन जाना, इसे आत्मयोनि काम का जीवित कहा गया है, इसे विषयमुखी भावों का उत्स माना गया है, उद्रिक्त सत्त्वमय होने से आनन्दमय समझा गया है, समस्त चारित्रिक विशेषताओं का स्रोत स्वीकार हुआ है, परिणत एवं काष्ठापन्न दशा में 'प्रेम' बन गया है। इन्होंने अहं, अहंभाव, अहंता और अहंकार शब्दों को दर्शन में उपलब्ध बताते हुए प्रथम तीन को शैवागम के परस्पर पर्यायवाची तथा पारिभाषिक शब्द तथा अन्तिम को सांख्य तथा वेदान्त में प्रयुक्त प्राकृत एवं मायिक विकार कहा है।

अति संक्षेप में यही 'शृंगार' रस पर दार्शनिक प्रभाव है।

शान्त-रस—काव्यशास्त्र में उपलब्ध शान्त-रस का सम्यक् अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि शान्त-रस की परिभाषा, इसके स्थायीभाव निर्धारण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की सिद्धि के लिए काव्यशास्त्रियों ने सांख्य, योग तथा न्यायादि दर्शनों की पर्याप्त सहायता ली है। भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध[2] शान्त-रस की परिभाषा इसके स्थायीभाव तथा अनुभावादि योगदर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसमें प्रयुक्त यम[3] नियम[4] तथा धारणा[5] योगसूत्रों में उपलब्ध पारिभाषिक शब्द की ओर संकेत करते हैं। 'लिंगग्रहण' से यहाँ अभिप्राय योग के अष्टाँगों से लिया जा सकता है।[6] आचार्य

---

१. भोजराज पर आयोजित परिसंवाद के निमित्त, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, 'भोजराज की 'अहंकार' स्वरूप विषयक धारणा'।
—निबन्ध वाचन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

२. अथ शान्तो नाम शमस्थायीभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपसनासर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः।
—ना० शा०, गायकवाड़, भा० १, पृ० ३३२

३. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः। —यो० सू० २।३०

४. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः। —वही २।३२

५. धारणासु च योग्यता मनसः। —वही, २।५३

६. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो। —यो० सू० २।२१

भरतमुनि ने शान्त रस को प्रकृति रूप मानते हुए रत्यादि भावों को विकार माना है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं।[१] आचार्य भरत के पश्चात् आचार्य उद्भट्[२] तथा रुद्रट[३] ने शान्त रस का निरूपण किया है। नमिसाधु का कथन है कि शान्त को रस न मानना अनुचित प्रतीत होता है।[४] आनन्दवर्धनाचार्य ने शान्त-रस को अंगी-रस की संज्ञा प्रदान की है।[५] इसीको और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने तत्त्वज्ञान से उत्पन्न शान्त-रस के स्थायी निर्वेद को सूचित किया और उसीका ही दूसरों की असारता (तुच्छता) के प्रतिपादन से प्राधान्य कहा है।[६] शारदातनय के अनुसार बाह्य पदार्थों का स्पर्श न होने पर शान्त रस होता है।[७] अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत शान्त रस को मोक्षरूप वाला होने से सभी रसों में प्रधानतम मानते हैं।[८] इनके अनुसार वैराग्य तथा संसार से पलायन आदि शान्त-रस के विभाव हैं—मोक्षशास्त्र का विचार अनुभाव है। निर्वेद, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं।[९] अभिनवगुप्त द्वारा व्यभिचारी रूप में प्रस्तुत निर्वेद एक लौकिक निर्वेद है जबकि स्थायी भाव-रूप निर्वेद एक उच्च दार्शनिक

---

१. (क) नाट्यशास्त्र, भा० १, पृ० ३३४-३५
(ख) स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त ऐवोपलीयते ॥ —वही, पृ० ३३५

२. श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भूतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा स्मृताः।
—काव्यालंकारसारसंग्रह ४।४

३. सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ॥१५॥
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये ।
सुखदुःखयोरतिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥
—काव्यालंकार (रुद्रट) ५।१५।१६

४. कैश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्। तदयुक्तम्। भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात्।
—रुद्रट के काव्यालंकार की टीका (नामिसाधु) पृ० ४११

५. ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैरस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति। —ध्व० लो० ४।५ की वृत्ति, पृ० ५७२

६. तत्त्वज्ञानोत्थितं निर्देदं शान्तरसस्थायिनं सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्रतिपादनेन प्राधान्यमुक्तम्। —लो०, पृ० ५७२

७. मनागस्पृष्टबाह्यार्थात् शान्तो रस इतीरितः।
देशकालवयोद्रव्यगुणप्रकृतिकर्मणाम् ॥ —भावप्रकाशन, पृ० ४८

८. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः।
—लो०, पृ० ४३४

९. तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः।···मोक्षशास्त्र—चिन्तादयोऽनुभावाः। निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४०

निर्वेद है।[1] अभिनवगुप्त का कथन है कि शान्तरस मानना (उत्पलाचार्य प्रभृति) शास्त्रकारों को भी अभिमत था जिन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन में नव रसों का सिद्धान्त स्वीकार किया है।[2]

शान्त-रस निरूपण के प्रसंग में जे० एल० मैसन तथा एम० वी० पटवर्धन का कथन है[3] कि अभिनव और योगवासिष्ठ दोनों परस्पर प्रभावित प्रतीत होते हैं, दोनों का गहरा सम्बन्ध है। इसकी पुष्टि में वे योगवासिष्ठ से शान्त-रस सम्बन्धी एक श्लोक भी उद्धृत कर दिखाते हैं।[4] 'शम' शब्द तथा इसकी व्युत्पत्ति योगवासिष्ठ के प्रायः सभी पृष्ठों पर मिलती है।[5] योगवासिष्ठ में उपलब्ध शान्त-रस[6] की तुलना नाट्यशास्त्र के 'न यत्र दुःखं न सुखं···'[7] श्लोक से की जा सकती है। नाट्यशास्त्र में दी गई शान्त-रस की अवस्था तो मोक्षावस्था में ही प्राप्त हो सकती है, जबकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। यह मोक्षावस्था स्वरूप आत्मप्राप्ति स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, इसकी अनिर्वचनीयता का प्रमाण भगवती श्रुति है, जहाँ कहा गया है कि 'यह आत्मरूप यह नहीं है, यह

---

१. Abhinava's point seems to be that Nirveda as Vyabhichāribhāva is the ordinary kind of worldy Nirveda, while Nirveda as a Sthāyibhāva is a higher, philosophical Nirveda.
—Śānta Rasa and Abhinavagupta's philosophy of Aesthetics. foot note no. 3, p. 126

२. 'अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥' इति
—अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४०

३. If he preceded Abhinava, then we can be certain that Abhinava derived a great deal of his inspiration from YV, and if the author of the YV succeeded Abhinava, then it is just as clear that YV derived its inspiration from Abhinava In any case, both authors are closely related.
—Śāntarasa and Abhinava's philosophy of Aesthetics, p. 30-31

४. तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयं शाश्वत् शिवम्।
तत्र विश्रान्तिमाप्तस्य भूयो नो बाधते भ्रमः॥
—वही, फुटनोट नं० १, पृ० ३२

५. The word Śama and its derivations are to be found on virtually every page of YV.
—वही, पृ० ३० फुटनोट नं० ४

६. न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत्। —वही, पृ० ३२, टिप्पणी २

७. न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः।
—ना० शा०, भा० १, पृ० ३३४

नहीं है।'[1] 'अनुयोगद्वारसूत्र' जैन ग्रन्थ में भी शान्त-रस के सूत्र मिलते हैं।[2] योग के अनुसार चित्त की सभी वृत्तियों को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं जिससे आत्मनिष्ठ (साधक) को मोक्ष प्राप्ति होती है। यही बात शान्त-रस के विषय में भी घटित होती है जो समस्त प्राणियों के लिए सुखकर एवं हितकर है।[3] दशरूपक[4] में शान्त-रस के उपाय चित्त की जिन चार वृत्तियों मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा को माना है, वह साक्षात् योगदर्शन का ही विषय है।[5]

जहाँ तक शान्त-रस पर साक्षात्दार्शनिक प्रभाव का प्रश्न है, वह शान्त-रस के स्थायी भाव निर्धारण के प्रसंग में सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। शान्त-रस के स्थायीभाव के विषय में आचार्यों में मतवैभिन्य है। आचार्य रुद्रट 'सम्यक्ज्ञान' अथवा 'तत्त्वज्ञान' को[6] आनन्दवर्धन 'तृष्णाक्षयसुख' को,[7] आचार्य मम्मट 'निर्वेद' को,[8] तथा धनंजय 'शम' को[9] शान्त-रस का स्थायी स्वीकार करते हैं।

शान्त रस के स्थायी के विषय में सबसे प्रबल मत है तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को स्थायी मानना जिसका खण्डन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा[10] है कि सब विषयों में अग्राह्यता बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य स्वरूप है। वह तत्त्वज्ञान में उपयोगी है

---

१. इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयतां श्रुतिरपि—'स एव नेति नेति'।
—द० रू० ४।४५ की वृत्ति

२. Śāntarasa and Abhinava's philosophy of Aesthetics, p. 37

३. बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥ —ना० शा०, भा० १, पृ० ३३४

४. अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभ-विक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।
—द० रू० ४।४५, वृत्ति

५. यो० सू० १।३३

६. रुद्रट, काव्यालंकार १५।१५, १६

७. शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
—ध्व० लो०, पृ० ४३०-३३

८. निर्वेदस्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। —का० प्र०, अ० ४, पृ० १३८

९. शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता॥ —द० रू० ४।४५

१०. किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयताप्रत्ययः। वैराग्यलक्षणस्य च (णः। स च) तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तो (तो) पयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथाऽस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि, मोक्ष। न तु तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते, निर्वेदाच्च मोक्ष इति।
—अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३४

क्योंकि विरक्त ऐसा प्रयत्न करता है जिससे उसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है न कि तत्त्वज्ञान को जानकर निर्वेद को प्राप्त होता है और निर्वेद से मोक्ष होता है। अपनी बात की पुष्टि उन्होंने सांख्यकारिका 'वैराग्यात् प्रकृति लयः'[1] से की है।

सांख्य-योग आदि दर्शनों में जहाँ मोक्ष का वर्णन आया है उसके साथ वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्व की दो अन्य दशाओं का भी उल्लेख मिलता है। जिस साधक को सद्गुरु के उपदेश से तत्त्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार हो जाता है वह अपनी इस साधना के फलरूप में मोक्ष प्राप्त करता है, लेकिन जो अज्ञानवश आत्मा के अतिरिक्त मूल प्रकृति को अथवा अहंकार, पंचतन्मात्र, पंचभूत अथवा इन्द्रिय आदि विकारों को आत्मा मानकर चलता है, वह मृत्योपरान्त 'विदेह' नाम से कहा जाता है। इसलिए सांख्यादि में तत्त्वज्ञान से रहित वैराग्य को 'प्रकृतिलय' का कारण बताया गया है। किन्तु तत्त्वज्ञान जन्य 'निर्वेद' को ही शान्त का स्थायी मानने वालों का कथन[2] है कि तत्त्वज्ञानी को सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता देखा जाता है। इसीलिए पतंजलि मुनि ने योगदर्शन में कहा है कि आत्मा का ज्ञान हो जाने पर गुणों के प्रति जो तृष्णा का अभाव होता है वह 'पर वैराग्य' कहलाता है। पी० एल० मैसन तथा पटवर्धन ने इसे और भी स्पष्ट किया है।[3] इसके प्रत्युत्तर में आचार्य अभिनवगुप्त ने योगदर्शन का ही एक सूत्र[4] उद्धृत कर यह कहा है कि इस प्रकार का वैराग्य तो ज्ञान की पराकाष्ठा का नाम है। इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद नहीं अपितु स्वयं तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के प्रति कारण है। इस कथन का विरोध करते हुए पूर्वपक्षी अक्षपाद के 'दुःखजन्यप्रवृति' १.१.२ सूत्र[5] को उद्धृत करते हैं। जिसमें मिथ्याज्ञान के

---

१. अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३४

२. ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढ़तरं वैराग्यं दृष्टम्। तत्रभवदिभरप्युक्तं—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्, इति (यो० सू० १।१६) —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३४

३. The idea seems to be that the tattvagñāna referred to by the word puruṣakhyāti in yoga sūtra I, 16 is a lower tattvagñāna which grows or develops into a higher stage of tattvagñāna (referred to by the word guṇavaitrṣṇyam in the Yogasūtra).
—Śāntarasa & Abhinava Gupta's philosophy of Aesthetics. p. 125

४. तादृशं तु 'वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा' इति (व्यासभाष्य १।१६) भुजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि। ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३४

५. ननु मिथ्याज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात्प्रशाम्यतीति दुःखजन्यसूत्रेणाक्षपादपादैर्वदद्भिर्मिथ्याज्ञानापचयकारणं तत्त्वज्ञानं वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम्। ननु ततः किम्। ननु वैराग्यं निर्वेदः। —अभि० भा०, भा १, पृ० ३३५
गौतम का पूरा सूत्र इस प्रकार है :
दुःखजन्यप्रवृतिदोषामिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
—न्यायसूत्र, १, १, २

विनाशक तत्त्वज्ञान को दोषाभाव रूप वैराग्य का कारण कहा है। इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त-रस को स्थायी मानने में कोई दोष नहीं आता। लेकिन अभिनवगुप्त वैराग्य तथा निर्वेद में अन्तर मानते हैं।[1] साथ ही उनका कहना है कि यदि वैराग्य को मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण से उत्पन्न उसके बीच में होने वाले उस (वैराग्य) को मोक्ष रूप फल की सिद्धि में साक्षात्कार नहीं माना जा सकता।

शान्त-रस का स्थायी भाव-शम

तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति होती है,[2] ऐसा कहने से 'शम' का दूसरा नाम 'निर्वेद' हो जाता है।

रत्यादि के स्थायीभाव भी शान्त-रस के स्थायी भाव हो सकते हैं—शान्त-रस के स्थायीभाव के विषय में यह तीसरा प्रमुख मत है। रत्यादि रूप आठ प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ, श्रुतादिरूप अलौकिक विभाव विशेष के सहारे भिन्न प्रकार के होते हैं, अध्यात्म-चर्चादि विभावों से परिपोषित होकर वही रति शान्त की जनक होती है। इसलिए अखण्डानन्द रूप आत्मविषयक रति ही मोक्ष का साधन होती है। अतः वही यहाँ शान्त-रसमें स्थायी रूप है।[3] उद्धरण रूप में वे गीता को प्रस्तुत करते हैं।[4]

---

१. क एवमाह। निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः। वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः। तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयतात्यपादाचारीव (प्रत्यपादि)।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३'

२. किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं निर्वेदनाम कृतं स्यात्। शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यते यद (तथा लौकिका) लौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव। तस्मान्न निर्वेद स्थायीति। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३५

३. अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्ठौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ताः। त एव कथितविभाव-विविक्तया (तया) श्रुता (त्या) द्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत्। ततश्च तन्मध्यादेवान्यतयोऽत्र स्थायी। तत्राना (व्या) हताननमय (तानन्दमय) स्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शास्त्रे (न्ते) स्थायिनीति।

—वही, पृ० ३३५

४. यथोक्तम्—

यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ इति (गीता ३।३७) —वही,

अभिनवगुप्त[1] के मतानुसार तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है इसलिए उसी को स्थायीभाव मानना उचित है। तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान का ही नाम है और इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है। इस रूप में आत्मा अनात्मा से भिन्न होता है। इसका विस्तृत निरूपण अभिनवगुप्त ने अन्यत्र (भगवद्गीता की व्याख्या) किया है। इसलिए ज्ञान आनन्दादि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग से रहित आत्मा ही यहाँ स्थायी है।

अन्य रसों में 'आत्मा' के स्थायीत्व का निषेध योग दर्शन के आधार पर

यदि कोई यह शंका करे कि आत्मा तो सभी रसों में स्थायी हो सकता है फिर अन्य स्थायी मानने की आवश्यकता नहीं। इसके लिए अभिनवगुप्त[2] का कथन है कि रति आदि को स्थायी भाव मानना ही चाहिए क्योंकि अन्य रसों की स्थिति में उस प्रकार का आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता है जैसाकि शान्त-रस की स्थिति में होता है। योग-दर्शन में बताया गया है कि असंप्रज्ञात समाधि की स्थिति में आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है।[3] उसी समय आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। समाधि की स्थिति को छोड़कर व्युत्थान काल में 'वृत्तिसारुप्यमितरत्र',[4] वृत्तियों के समान रूप में, वृत्तिकलुषित रूप में आत्मा का ज्ञान होता है अर्थात् रत्यादि के अनुभव काल में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता। इसीलिए वहाँ आत्मा का स्थायीत्व नहीं माना जा सकता। यदि वहाँ आत्मा का साक्षात्कार मान लिया जाय तो रत्यादि का पोषक न होकर विरोधी हो जायेगा। अतः केवल शान्त-रस में ही इसे स्थायी माना जा सकता है।

लोचन ने अभिनवगुप्त ने शान्तरस का निरूपण सांख्यदर्शन की सहायता से किया

---

१. उच्यते—इहतत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव। आत्मनश्च (श्चा) व्यतिरिक्तमिन्द्रिय (क्तं स्याद्) स्यैव ज्ञानम्। परो ह्येवमात्मा नात्मैव स्यात्। विपश्चितं चैतदस्मद्गुरुभिः। अस्माभिश्चान्यत्र वितन्यत इतीह नातिनिबन्धः कृतः।

—अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३६

२. न चास्य (स्या) स्थायितया स्थायित्वं वचनीयम्। रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदय-प्रलयोत्पद्ममानवि (नि) रुध्यमानवृत्तयः कश्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्म-भित्ति संश्रयाः षट् (सन्तः) स्थायिन इत्युच्यन्ते। तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्ति-स्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वाः रत्यादिकारस्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारी-भावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति तन्त्रवचनेन (तन्नवचनीयम्)। अत एव पृथकस्य गणना न युक्ता। —वही, पृ० ३३६

३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। —यो० सू० १।३

४. योग सूत्र १।४

है।[१] उनका शान्त रस का पृथक् रस के रूप में गणना के प्रसंग में कथन[२] योगदर्शन के प्रथम पाद के प्रथम तीन सूत्रों[3] से प्रभावित प्रतीत होता है। इनका अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। उस समाधि के समय में अन्य किसी प्रकार की वृत्ति न होने से द्रष्टा अर्थात् आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है और उस समाधि से भिन्न काल में सुख-दुःखादि रूप जिस प्रकार की चित्तवृत्ति होती है, उसी प्रकार का आत्मा का स्वरूप भासता है। लौकिक अनुभवों के काल में चित्तवृत्तियों का सारुप्य होने से विशुद्ध आत्म-स्वरूप की प्रतीति न होकर निर्विकल्पक समाधि काल में ही विशुद्ध आत्म-स्वरूप की अनुभुति होती है परन्तु व्युत्थान काल में चित्तवृत्तियों से कलुषित रूप में ही आत्मा की प्रतीति होती है। इसलिए शान्त-रस के स्थायीभाव 'आत्मा' की गणना अलग से नहीं की गई। किन्तु शान्त-रस का पृथक् आस्वाद् होता है अतः शान्त-रस अलग माना गया है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार 'निर्वेद' या 'शम' आत्मा के स्वरूप नहीं अपितु चित्त-वृत्ति रूप है। अतएव वे शान्त के स्थायी नहीं अपितु आत्मा ही शान्त-रस में स्थायीभाव है। इन भावों को व्यक्त करते हुए उन्होंने योगसूत्र को भी पुष्टि रूप में प्रस्तुत किया है।[४] ये सारा लौकिक या अलौकिक चित्तवृत्तियों का समुदाय तत्त्वज्ञानरूप स्थायिभावरूप हो जाता है। उसके अनुभाव ही यम, नियमादि के द्वारा उपकृत होकर शान्त-रस के अनुभाव होते हैं।[५]

ज्ञानमार्ग के समर्थक वेदान्तियों का यह सिद्धान्त है कि मोक्ष की प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है और तत्त्वज्ञान के अधिकारी केवल सन्यासी ही हो सकते हैं।

---

१. यथाहु—'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गे नेति। अनन्तरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शेखरकवृत्तान्तोदितहास्य-रसोपकृतः शृंङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको......।

—लो०, पृ० ४३०

२. अस्यापि कथं (न) पृथग्गणनेति चेत्—पृथगास्वाद (दा) भोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय इवेतरासम्पृक्तेन वपुषा तथाविधयात्मरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरः (रम्)। स्वगतमप्यविकल (ल्प) रूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवाव-भाति। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३६

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —योगसूत्र १।२, ३, ४

४. तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमता च (मः। तथा च) यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधानसमाधिबलादधि शय्य व्युत्थानेऽपि प्रशान्तिता (न्तता) भवति। यथोक्तं—'(तस्य) प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।' (योगसूत्र ३।१०) इति। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३७

५. तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभि-चारितामभ्येति। तदनुभावा एव च यमनियमाद्युपकृता अनुभावा......।

—वही

अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं।[1] अर्थात् तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् यदि साधक निष्काम कार्य करता है तो वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है किन्तु उसके पश्चात् भी यदि सकाम कार्य करता है तो इस प्रकार के साधुकों को जिनको कि बौद्ध धर्म में 'बोधिसत्त्व' कहा जाता है फिर से जन्म धारण करना होता है। सांख्य में ऐसे लोगों को 'विदेह' या 'प्रकृतिलय' कहा जाता है।

व्यापारशून्य होने के कारण शान्त-रस के अनुभावों का अभाव होता है। इसका खण्डन योगसूत्र के आधार पर काव्यशास्त्र में किया गया है। योगदर्शन में कहा गया है कि उस समाधि के छिद्रों में (अर्थात् समाधि के खुलने के बीच-बीच में) संस्कारों के कारण अन्य ज्ञान भी होते रहते हैं।[2] लोचन में इसे बड़ी स्पष्टता से कहा गया है।[3]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त शान्त-रस में निहित दार्शनिक विचारधारा प्रस्तुत करते हैं, जो एक अद्वैतिन के दर्शन से साम्य रखती है। इसमें उनके काश्मीर शैवदर्शन का योग बहुत ही कम है।[4]

भक्तिरस—वैष्णव रस साधना विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्ति-रस का बड़ा ही सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। अन्य साहित्यशास्त्रियों ने जहाँ देव विषयक रति अर्थात् मधुर भक्ति-रस को 'भाव' की ही संज्ञा देना उपयुक्त माना वहाँ वैष्णव आचार्यों ने विशेषकर बंगाल के गौड़ीय वैष्णवों ने मधुरभक्ति-रस को भाव की हीन कोटि से ऊपर उठाकर रस दशा में ही नहीं पहुँचा दिया अपितु सभी लौकिक रसों में श्रेष्ठ सिद्ध करके उसे सर्वप्रथम रस के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

उपनिषदादि में भक्ति सम्बन्धी भाव बाहुल्येन उपलब्ध होते हैं। ज्ञान प्रधान उपनिषदों में जगह-जगह पर भक्तिभावना की महत्ता के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद में भक्ति के मुख्य तत्त्व प्रवृत्तिवाद की स्थापना करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि

---

१. 'ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च।·········केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनाम्। —अभि० भा०, भा० १, पृ० ३३८

२. यथोक्तं—'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (योगसूत्र ४।२०) इति। —वही, पृ० ३३९

३. 'शृंङ्गारादेरपि फलभूमाववर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्', 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इति सूत्रद्वयनीत्या चित्राकारा यमनियमादिचेष्टा शज्यधुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेर्दृष्टैवेत्यनुभावसद्भावाद्यमनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयोव्यभिचारिसद्भावाच्च प्रतीयत एव। —लो०, पृ० ४३२

४. Abhinavagupta abandons practical considerations of drama, and gives the philosophical base underlying his views on Śānta. It is not different from the philosophical justification of an Advaitin—the additions from his school of Kasnmir Śaivism are very sltght. —Śāntarasa and Abhinavagupta's philo. of Aesth, p. 130

जिस पुरुष को देवता में तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गए अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।[1] छान्दोग्योपनिषद में प्रभुभक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस कहा गया है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद[3] में भी भक्ति-रस के मन्त्र उपलब्ध होते हैं। भक्ति साधना में भगवान् के प्रति भक्त की तन्मयता आत्मनिवेदनासक्ति चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है। गीता[4] में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है क्योंकि उस अव्यक्त की गति को प्राप्त करना देहाभिमानियों के लिए स्वभावतः अति कष्टदायक है। वहाँ यह भी कहा गया है[5] कि जो प्रेमी भक्तजन भगवान में अपने मन को एकाग्र कर निरन्तर अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर सगुण रूप परमेश्वर का भजन करते हैं, वे योगियों में अत्युत्तम योगी माने जाते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तों का भगवान् शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-सागर से उद्धार कर देते हैं। पातंजल योग सूत्रों के भाष्यकर व्यास के कथनानुसार 'मधुमती भूमिका' का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्धसात्त्विकता को देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उनका आह्लादन करने लगते हैं।[6]

साहित्यशास्त्र में भक्ति-रस को अत्युच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय आचार्य रूप गोस्वामी को है। इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति-रस को उत्तम माना है।[7] इन्होंने भक्तिरसामृत सिन्धु को कर्ममार्गी पूर्वमीमांसक और ज्ञानमार्गी उत्तर

---

१. यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्येते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। —श्वेताश्वतरोपनिषद ६।२३

२. स एव रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः। —छा० उप०, १।१।३

३. स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भक्त्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवयि। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। —वृ० आ० उप०, २।४।५

४. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ —श्रीमद्भगवद्गीता, १२।५

५. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।६, ७

६. मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्यस्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धिमनु पश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—भो इहऽऽस्यतामिह रम्यताम् कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युंबाधते, वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षय, उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वभिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति। —यो० सू० भाष्य ३।५२

७. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।
—भ० र० सि०, प्रथमा सामान्य भक्तिलहरी, ११

मीमांसक दोनों मीमांसक रूप बड़वानल की प्रखर जिह्वा को भी कुण्ठित करने वाला बताया है।[१] इन्होंने मधुर-रस का शास्त्रीय विवेचन किया तथा इसके आधारभूत तत्त्व 'प्रेम' की व्याख्या करके बतलाया कि जिस भाव द्वारा हमारी आत्मा अन्तरात्मा स्निग्ध, कोमल एवं निर्मल हो तथा जो 'ममत्वातिशयांकित' हो, उसी के प्रगाढ़ रूप को सुधीजन प्रेम की संज्ञा देते हैं।[२]

दार्शनिक दृष्टि से प्रेम और आनन्द का मूल स्रोत आत्म-दर्शन है। एक ही परम तत्त्व का समष्टि रूप परमात्मा है तथा व्यष्टि रूप आत्मा है। सत्, चित् और आनन्द तीनों की समष्टि ही ब्रह्म है। अतः आत्मा में ही ब्रह्म के तीनों रूप विद्यमान हैं। इसी आधार पर आत्मसाक्षात्कार को ब्रह्मसाक्षात्कार और आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द माना गया है। ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द ये तीनों ही रूप अनुभवगम्य हैं, किन्तु इनमें उसका आनन्दस्वरूप ही सहज बोधगम्य है।[३] निर्गुण, निराकार ब्रह्म के सगुण और साकार रूप की अवतारणा का यही रहस्य है। आत्मा भी इसी आनन्द स्वरूप के साक्षात्कार के लिए निर्गुण स्वरूप को त्याग कर सगुण रूप धारण करता है।[४] विशुद्ध प्रेमानुभूति से मनुष्य प्रकृति बन्धनों से विमुक्त होता है तथा देह और चित्त से ऊपर उठकर अपनी आत्मा के आनन्दमय स्वरूप से एकाकार हो जाता है।[५]

आचार्य रूपगोस्वामी ने मधुरोपासनाजन्य परमानन्द के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु तुल्य भी स्वीकार नहीं किया।[६] यही कारण है कि भक्ति रसामृत का आस्वादन करने वाला भक्त कभी मोक्ष की वांछा नहीं करता।[७] 'उज्जवलनीलमणि' में इन्होंने मधुर-रस को भक्तिरस-राट् की संज्ञा देकर परमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।[८] इन्होंने

---

१. मीमांसकवडवाऽग्नेः कठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम्।
स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तवभक्तिरसामृताम्भोधिः।
—भ० र० सि०, प्रथमा सामान्य भक्तिलहरी, का० ५

२. सम्यङ्मसृणितस्तावन्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥
—वही, पूर्वविभाग चतुर्थ प्रेम भक्ति लहरी, का० १, पृ० १०६

३. अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ —नारदभक्तिसूत्र ५८

४. हँसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥
नृषद्वरसदृत्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ —क० उप० २।२।२

५. नारदभक्तिसूत्र, सूत्र ४६, ४७, ५०, ६०, ६२

६. ब्रह्मानन्दो भवेदैष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुरवाम्भ्योधेः परमाणुतुलामपि ॥
—भ० र० सि०, पूर्वविभाग प्रथमा सामान्य भक्ति लहरी, का० १९, पृ० १९

७. श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम्।
एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत्।
—भ० र० सि०, पूर्वविभाग, द्वितीया साधन भक्ति लहरी, श्लोक १३

८. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः। —उज्जवलनीलमणि १।२, पृ० ४

भक्ति-रस की परिभाषा[1] इसके अनुभाव[2] आदि पर प्रकाश डालते हुए भक्ति के तीन प्रमुख भेद—साधनरूपा, भावरूपा और प्रेमरूपा किए हैं।[3] तदन्तर साधनरूपा भक्ति के वैधी और रागानुगा दो भेद किए हैं।[4] साहित्यशास्त्रीय भक्ति-रस सम्बन्धी ग्रन्थों में रागात्मिका भक्ति उत्तम कोटि की मानी गई है।[5] इसमें 'ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्' पद रखने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान-मार्ग के अनुयायी वेदान्ती ब्रह्म के स्वरूप के परिज्ञान को ही प्रधानता देकर ब्रह्म की उपासना आदि करते हैं। योगमार्ग का अवलम्बन करने वाले योगियों का उद्देश्य भी पुरुष के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड का अनुष्ठान भी विभिन्न प्रकार के फलों की कामना से ही किया जाता है। ये सभी कार्य कर्मों की श्रेणी में आते हैं। ये उत्तम भक्ति के अन्तर्गत नहीं हो सकते। इसी बात को सूचित करने के लिए 'ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्' पद का प्रयोग किया गया है। यह पूर्वोक्त भक्ति क्लेशों का नाश करने वाली, कल्याणों को प्रदान करने वाली, मोक्ष को भी तुच्छ बना देने वाली, अत्यन्त कठिनता को प्राप्त होने वाली, अपरिमेय आनन्दविशेष से परिपूर्ण और भगवान् को आकृष्ट करने वाली होती है।[6]

वैधी भक्ति सारे वर्णों और आश्रमों में नित्य समझनी चाहिए। नित्य (कर्म) होने पर भी एकादशी व्रत आदि के समान उसके फल का विधान किया है। भक्ति-रस के समक्ष चारों पुरुषार्थ (धर्मार्थकाममोक्ष)तृण के समान (अत्यन्त तुच्छ)हो जाते हैं।[7] कर्मकाण्ड के

---

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग, प्रथमा विभावलहरी, का० ५, पृ० ११५

२. भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्जवला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्॥
कृष्णादिभिर्विभावैर्गतैरनुभवाध्वनि।
प्रौढ़ानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग, प्रथमा विभावलहरी, का० १०-११

३. सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।
—पूर्वविभाग, द्वि० साधनभक्ति, पृ० २२

४. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा। —वही, १।२।३

५. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृत्तम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमाः॥
—भ० र० सि०, प्रथमा सामान्य भक्ति लहरी, का० ११, पृ० १०

६. क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा।
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग प्रथमा सामान्य भक्तिलहरी, का० १३

७. मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥ —वही, का० १७

प्रसंग में नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा निषिद्ध इन चार प्रकार के कार्यों का विधान किया गया है। वहाँ नित्यकर्म का लक्षण 'अकरणे प्रत्यवाय साधनानि नित्यानि' किया है। जिसके करने का कोई विशेष फल नहीं होता किन्तु न करने से पाप उत्पन्न होता है, उसको नित्य कर्म करते हैं। वैधी भक्ति भी नित्य कर्म है। साधारणतः नित्य कर्म का कोई फल नहीं होता फिर भी शास्त्र में उसके फल का निर्देश किया गया है।[1]

वैधी भक्ति का अधिकारी

(महापुरुषों की सत्संगादि के संस्कार रूप) किसी अत्यन्त सौभाग्य से इस (परमात्मा) के सेवन में जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, न अत्यन्त आसक्तियुक्त और न वैराग्ययुक्त, वही (पुरुष) इस वैधी भक्ति का अधिकारी है।[2]

अधिकारी के इस लक्षण में 'नातिसक्तः' और 'न वैराग्यभाक्' ये दो विशेषण दिये गए हैं। इनका अभिप्राय ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग दोनों से भक्तिमार्ग की भिन्नता दिखलाना है। ज्ञानमार्ग के अधिकारी के लिए वैराग्य की अत्यन्त अपेक्षा है। वेदान्तग्रन्थों में अधिकारी के अनेक विशेषणों में 'साधनचतुष्ट्यसम्पन्न' एक आवश्यक विशेषण माना जाता है। इस साधन चतुष्ट्य में (क) नित्यानित्यवस्तुविवेकः (ख) इहामुत्रभोगविरागः (ग) षट्कसम्पत्ति और (घ) मुमुक्षत्व का समावेश होता है। इनमें वैराग्य की आवश्यकता अपरिहार्य मानी गई है। योगादि ज्ञान मार्ग के मानने वाले सभी ग्रन्थों में वैराग्य को अधिकारी का आवश्यक विशेषण माना गया है। किन्तु भक्तिमार्ग में अधिक वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती इसलिए उनसे भिन्नता दिखलाने के लिए यहाँ भक्तिमार्ग के अधिकारी में 'न वैराग्यभाक्' विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार कर्ममार्ग के अनुयायी के लिए कर्मकाण्ड में अत्यासक्ति की अपेक्षा है। भक्तिमार्ग में उससे भिन्नता दिखलाने के लिए ही यहाँ दूसरा 'नातिसक्तः' विशेषण दिया गया है।

यमनियमादि को अंगता का निवारण

जिस प्रकार ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का अंग नहीं माना गया, उसी प्रकार भक्ति सम्प्रदाय में यमनियमादि योगांगों को भी भक्ति का अंग नहीं माना गया है। भक्तिवादियों का तो कथन है कि यमनियमादि तो भक्त के पीछे स्वयं भागते हैं, भक्त को उनको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए उनको भी भक्ति का अंग नहीं माना जा सकता। यम (अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः) और शौचादि नियम (शौच-

---

१. इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु।
नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम्॥
— वही, पूर्वविभाग द्वितीया साधन भक्ति लहरी, का० ४, पृ० २४

२. यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने।
नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकायसौ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग, द्वितीया साधन भक्ति लहरी, का० ५, पृ० १

सन्तोषपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः) कृष्ण (की भक्ति) में लगे हुए के पास स्वयं ही जाते हैं। इसलिए उनकी भी भक्ति के अंगों के भीतर गणना करना उचित नहीं।[1]

ब्रह्म और कृष्ण का सम्बन्ध

ज्ञानमार्ग के अनुयायी वेदान्ती ब्रह्मभाव की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं और भक्ति मार्ग के अनुयायी कृष्ण को अपने जीवन का ध्येय मानते हैं। कृष्ण को यदि ब्रह्म रूप ही माना जाए तो ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी दोनों का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है किन्तु उन्होंने कृष्ण को सूर्य तुल्य तथा ब्रह्म को उसकी किरणों के सदृश माना है।[2]

(चित्त की) पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप तथा विक्षोभ रूप पाँच प्रकार की अवस्थाओं के कारण (मुख्य तथा गौण को मिलाकर) सब भक्ति रसों का आस्वादन पाँच प्रकार का माना जाता है।[3] इनमें शान्त में पूर्ति, प्रीति आदि पाँच में (अर्थात् प्रीति, प्रैयान्, वात्सल्य, मधुर तथा हास्य) विकास, वीर तथा अद्भुत में विस्तार, करुण तथा रौद्र में विक्षेप तथा भयानक एवं वीभत्स में क्षोभ (रूप चित्तावस्था) विद्वानों ने मानी है।[4]

संक्षेप में यही भक्तिरस पर दार्शनिक प्रभाव है।

---

१. विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते।
कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग, द्वितीया साधन भक्ति लहरी, पृ० ७८

२. यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम्।
तदब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः। —वही, का० ८४

३. पूर्तेविकासविस्तारविक्षेपक्षोभस्तथा।
सर्वभक्तिरसास्वादः पञ्चधा परिकीर्तितः॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग, पञ्चम स्थायी भाव लहरी, का० १०२

४. पूर्त्तिः शान्ते विकासस्तु प्रीतादिष्वपि पञ्चसु।
वीरेऽद्भुते च विस्तारो विक्षेपः करुणोग्रयोः। —वही, का० १०३

तृतीय अध्याय

काव्यात्ममीमांसा का दार्शनिक आधार

दर्शन में 'आत्मा' का विवेचन

'आत्मा' शब्द मूलतः काव्यशास्त्र का न होकर उपनिषदों का है। क्योंकि उपनिषद् ही दर्शन की प्रायः सभी विधाओं के स्रोत हैं अतः उपनिषदों से यह शब्द दर्शनशास्त्र में पहुँच गया। दर्शन की सभी नास्तिक एवं आस्तिक विधाओं ने अपनी-अपनी चिन्तन-प्रणाली के अनुरूप 'आत्मा' का विवेचन कर इसका स्वरूप निर्धारित किया है। ज्ञान के विकास स्तर की प्रथमावस्था पर चार्वाक दर्शन आता है। चार्वाक दर्शन स्थूल शरीर[1] से उठकर यथाक्रम सूक्ष्मतर अवस्था की ओर अग्रसर होता हुआ इन्द्रिय,[2] प्राण[3] और मनस्[4] की मर्यादा पर्यन्त पहुँचकर ही सीमित हो गया। योगाचार मतावलम्बी विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धि को ही 'आत्मा' मानते हैं।[5] माध्यमिक मतावलम्बी बौद्ध शून्य को ही 'आत्मा' मानते हैं।[6] जैनों के अनुसार चेतन द्रव्य ही 'आत्मा' है। प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक तथा तार्किक आनन्दमय को ही आत्मा कहते हैं।[7] तार्किकों के अनुसार देहादि से भिन्न संसारी कर्त्ता भोक्ता आत्मा है।[8] सांख्य के अनुसार आत्मा केवल भोक्ता है कर्त्ता नहीं।[9] योग, इन सबके अतिरिक्त, ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है, ऐसा मानते हैं।[10] वैशेषिक[11] के

---

१. देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।
—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, भाषानुवाद सत्यानन्दी दीपिका सहित, पृ० ३१

२. इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। —वही

३. अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। —तै० उ० २।२।१

४. मन इत्यन्ये। —ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, सत्यानन्दी दीपिका सहित, पृ० ३१

५. अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। —तै० उ० २।४।१

६. शून्यमित्यपरे। —ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ३२

७. अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। —तै० उ० २।५।७

८. अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे।
—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ३२

९. भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। —वही

१०. अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। —वही

११. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि। —वै० सू० १।१।५

अनुसार आत्मा नौ द्रव्यों में से एक द्रव्य है। शांकर वेदान्त के अनुसार 'आत्मा' परब्रह्म, अद्वितीय, एक तथा आकाश की भाँति विभु है। वह जगत् का आधार है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा शरीर की उपाधियों से घिरा हुआ और पृथक्-पृथक् किया गया 'आत्मा' ही सामान्य जनों के द्वारा जीव कहा जाता है।[1]

साहित्यशास्त्र में आत्मा का विवेचन

संस्कृत साहित्यशास्त्रियों ने काव्य को भी प्रतीकात्मक रूप से व्यक्ति के रूप में पुरुष कहा है।[2] जिस प्रकार व्यक्ति के विभिन्न अंग-प्रत्यंग होते हैं, उसी प्रकार काव्य के अंग-प्रत्यंग होने का भी विधान उपलब्ध होता है।[3] तथा व्यक्ति की आत्मा होने की भाँति काव्य की आत्मा होने की समस्या का ऊहापोह भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में सुतरा उपलब्ध होता है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन की सभी विधाओं ने अपने मूल सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए विविध तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूप से 'आत्मा' की संज्ञा दी है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र में भी साहित्य के तत्-तत् आचार्यों ने साहित्य के गुणालंकार रसादि तत्त्वों में से किसी एक के काव्यात्मा होने का विधान किया है।

दर्शनशास्त्र में प्राण अथवा चेतनता के अर्थ को लेकर ही 'आत्मा' शब्द का व्यवहार किया गया है। साहित्यशास्त्रियों ने भी काव्यात्मनिर्धारण में प्राण अथवा चेतनता के तत्त्व को ही प्रमुखता दी है।[4] किन्तु यहाँ 'आत्मा' शब्द वाचक रूप में प्रयुक्त न होकर लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व।

काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने रीति को काव्यात्मा मानते हुए किया।[5] तदन्तर आनन्दवर्धन ने ध्वनि[6] को तथा राजशेखर ने काव्यपुरुष रूपक को उद्धृत करते हुए रस को काव्य की आत्मा कहा है।[7] अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, भोज, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ कविराज प्रभृति आचार्यों ने भी प्रकारान्तरों से रस के आत्मत्त्व का विधान किया है।

काव्य के सर्वातिशय तत्त्व को 'जीवित' कहने की प्रथा भी रही है। कुन्तक ने

---

१. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्याद्युपधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते।
—(शां० भा०) वेदान्तसार, चौ० विद्याभवन, पृ० ४६ से उद्धृत

२. तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्।
—का० मी०, प्रथमाध्याय, पृ० १

३. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।......रस आत्मा,......। —वही, पृ० १६

४. देखिए, काव्यशास्त्रीय निबन्ध, डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० १६२

५. रीतिरात्मा काव्यस्य। —का० अ० सू० वृ० २।१।६

६. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। —ध्व० लो० १।१

७. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं......रस आत्मा।
—का० मी०, तृ० अ०, पृ० १६

वक्रोक्ति को 'काव्यात्मा' न कह 'काव्यजीवित' कहा है। यहाँ जीवित पद का अर्थ प्राणतत्त्व से है। प्राणों के बिना जीवन संभव नहीं। अतः जिस तत्त्व के बिना काव्य संभव नहीं उसे ही काव्य का जीवित कहा गया है। इसी सरणि पर क्षेमेन्द्र ने भी 'औचित्य' को 'काव्य-जीवित' माना है। किन्तु देखना यह है कि काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्या है। फिर चाहे उसे 'आत्मा' पद से अभिहित किया जाए अथवा 'जीवित' से। अतः सर्वप्रथम उन्हीं सिद्धान्तों का क्रमशः निरूपण किया जाएगा जिन्होंने 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हुए किसी न किसी विशिष्ट काव्यतत्त्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान उसे काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

रीतिरात्मा काव्यस्य

काव्यालंकार सूत्रों के कर्त्ता वामन ही वह आचार्य हुए जिन्होंने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में काव्य की भी आत्मा के होने का विचार करते हुए रीति को काव्य की 'आत्मा' माना है।[1] यद्यपि नाट्यशास्त्र में भी 'रीति' के बीज विद्यमान हैं[2] तथा दण्डी[3] ने भी रीति के स्वरूप तथा वैदर्भी और गौड़ी आदि के भेद का प्रतिपादन किया है, तथापि वामन ने रीति और गुणों का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति सम्प्रदाय की असन्दिग्ध रूप में प्रतिष्ठा कर दी। इनके अनुसार विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है।[4] अतएव इसमें गुणों का अत्यधिक महत्त्व है। इसी से रीति सम्प्रदाय को गुणसम्प्रदाय भी कहा जाता है। वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य 'काव्यशोभाकारक धर्म' है। इस प्रकार काव्यशोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। संक्षेप में यही वामन की रीति है।

वामन के अतिरिक्त अमृतानन्दयोगी ने पुनः रीति को काव्य की आत्मा मान वामन के मत की पुष्टि की है।[5] तत्पश्चात् शौद्धोदनि ने अपनी कारिका में उक्ति, मुद्रा एवं वृत्ति के साथ रीति को काव्यजीवित कहा है।[6]

वामन की काव्यात्मा रीति का यदि हम चार्वाक दर्शन के आधार पर विवेचन करें तो पाएँगे कि दोनों में अत्यधिक साम्य है।

---

१. का० अ० सू० वृ० २।१।६

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।
—ना० शा० १७।९६

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ —काव्यादर्श, १।४२

४. विशिष्टा पदरचना रीतिः॥ विशेषो गुणात्मा॥ —का० अ० सू० वृ० २।१।७, ८

५. रीतिरात्मात्रकाव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा।
—काव्यात्ममीमांसा, पृ० १५७ से उद्धृत अ० संग्रह ५।१

६. रीतिरुक्तिस्तथा मुद्रा वृत्तिः काव्यस्य जीवितम्। —अलंकार शेखर १।२।१

चार्वाक दार्शनिक देहात्मवादी है। उनके अनुसार चेतन शरीर ही आत्मा है।[1] आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र 'शांकरभाष्य' की प्रस्तावना में लोकायतिकों के मत को प्रस्तुत करते हुए इन्हीं भावों को व्यक्त किया है।[2] जड़वादी होने के कारण चार्वाक शरीर से पृथक् किसी अप्रत्यक्ष और अमर आत्मा में विश्वास नहीं रखते। सर्वदर्शनसंग्रह में भी यही विचार उपलब्ध होते हैं।[3] उनके अनुसार इस प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न कोई आत्मादि तत्त्व नहीं, जो शरीर को त्याग कर परलोक को जाएगा।[4]

यदि हम वामन की रीति आत्मा तथा चार्वाकों की देहात्मा की तुलना करें तो निम्न तथ्य हमारे समक्ष प्रस्फुटित होंगे।

प्रत्यक्षवादी चार्वाक अवयवसंस्थान को आत्मा कहते हुए शरीर के विद्यमान रहने पर्यन्त ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तथा शरीर नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानते हैं। ठीक इसी प्रकार वामन का भी कथन है कि तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली) के भीतर रेखाओं के चित्र की तरह काव्य समाविष्ट हो जाता है।[5] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रेखाओं को मिटा देने से चित्र का अस्तित्व ही नहीं रहता, उसी प्रकार रीति के अभाव में काव्यत्व का भी अभाव हो जाता है अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि शरीर अभाव में आत्मा का भी अभाव हो जाता है।

चार्वाक दर्शन जड़वादी है। चार्वाक दार्शनिकों के अनुसार शरीर भी वस्तुतः जड़ पदार्थ ही है। इस जड़ शरीर में चेतनता की उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रकार से होती है। इसको स्पष्ट करते हुए चार्वाक का उत्तर है कि जिस प्रकार किण्व अन्न के संगठन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है[6] अथवा जिस प्रकार पान, सुपारी और चूने के योग से लाल

---

१. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।
—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा से उद्धृत बृहस्पति सूत्र ७, पृ० १३७

२. तत्रैवं लोकायतिका मन्यन्ते। भूतचतुष्ट्यसंघातात्मकं चेतनं शरीरमेवात्मा, न तु शरीरातिरिक्ते आत्मनि किंचित्प्रमाणमुपलभ्यते, प्रत्यक्षमेकमेव खलु प्रमाणम्। अनुमानाद्याधीनोत्पत्तिकं तु ज्ञानं पुनःपुनर्विभाव्यमानं प्रत्यक्षात्मकतां प्राप्नुवदेव प्रमाणम्···। —ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (निर्णय सागर), भूमिका, पृ० १

३. अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानिथकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः। —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १०

४. शरीरान्न पृथक् कोऽपि शरीरी हन्त विद्यते।
परित्यज्य शरीरं यः परलोकं गमिष्यति॥
—चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० १७४ से उद्धृत
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १।३३२

५. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—का० अ० सू० वृ०, २।१।१३ की वृत्ति

६. किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४

रंग प्रगट होता है[1] उसी प्रकार इन भूतों के संगठन से विज्ञान अथवा चैतन्य उत्पन्न होता है। रीति भी शरीर की भाँति जड़तत्त्व ही है।[2] तथा गुणों के कारण ही रीति में चेतनता के संचार का आरोप किया जाता है।

जिस प्रकार चार्वाक दार्शनिकों ने शरीर को आत्मा मान इसकी पुष्टि विभिन्न प्रकार से की है। उसी प्रकार वामन ने भी रीति को काव्य की आत्मा मान काव्य के अन्य सभी तत्त्वों की व्यवस्था तदनुसार ही की है। रीति को ही उन्होंने अनिवार्य तत्त्व मान अन्य सब तत्त्वों का अंग रूप में वर्णन किया है। वामन ने वक्रोक्ति में अविवक्षितवाच्य ध्वनि का समावेश कर[3] कान्ति गुण में रस को समाविष्ट कर दिया है। वामन ने रीति में गुण को अनिवार्य तत्त्व माना है, अलंकार गुणातिशय में कारण होता है। अतः रीति के उत्कर्ष में कारण होते हुए भी उसके लिए अनिवार्य तत्त्व नहीं है। 'सौन्दर्यमलंकारः' कहे जाने पर गुण भी अलंकार है जैसा कि दण्डी ने माना है।[4] दण्डी के अलंकार लक्षण में तथा वामन के गुण लक्षण[5] में कोई विशेष अन्तर नहीं। इस प्रकार दण्डी का अलंकार काव्य-शोभा का धर्म है और वामन का अलंकार गुणात्मक रचना रीति का उत्कर्षक है। इसी प्रकार रीति अंगी और अलंकार अंग हुआ। वामन के मत में रीति का क्षेत्र अलंकार से व्यापक है। रीति काव्य का अन्तस्तत्त्व है तो अलंकार बाह्य। जो भी है रीति को आत्मा कहकर वामन ने काव्य शरीर को ही आत्मा माना है क्योंकि शब्दार्थ रूप काव्य शरीर की गुणमयी शब्दार्थ योजना ही तो रीति है। अतः वामन भी देहात्मवादी ही माने जा सकते हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक मत की अन्य भारतीय दार्शनिकों ने कटु अलोचना की है। काव्यशास्त्र में भी आलंकारिकों ने रीति को काव्यात्मा मानने में आपत्ति की। चूंकि रीति को आत्मा माने जाने पर काव्य के वस्तुतः आह्लादक तत्त्व रस, ध्वनि आदि काव्य में उपेक्षित रह जाते हैं। काव्यमर्मज्ञ सहृदयों को यह उसी प्रकार सह्य न हुआ जिस प्रकार अध्यात्मवादियों को अध्यात्मवाद की उपेक्षा सह्य नहीं होती। रीति के आत्मत्व की असंगति दिखलाते हुए आनन्दवर्धन ने बतलाया कि अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले ध्वनि-रूप काव्य की व्याख्या करने में असमर्थ वामन आदि आचार्यों ने रीतियाँ प्रचलित कीं।[6] वामन की रीति का खण्डन दर्शन के देहात्मवादी चार्वाक दर्शन के खण्डन

---

१. जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्। —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ५

२. रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः।
—का० अ० सू० वृ० १।२।६ की वृत्ति

३. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —वही, ३।४।८

४. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श २।१

५. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः। —का० अ० सू० वृ० ३।१।१

६. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः। —ध्व० लो० ३।४६

के समान ही प्रतीत होता है। बौद्ध, न्याय, सांख्य तथा वेदान्तादि दार्शनिकों के आविर्भाव के साथ ही 'चैतन्य' तत्त्व को लेकर इनके मत का खण्डन भी किया गया[1] तथा इसे स्थूल तथा निम्न कोटि का सिद्ध किया गया। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काव्यात्मा रीति चार्वाकों के देहात्मवाद से पर्याप्त साम्य रखती है।

काव्यस्य आत्मा ध्वनि

इस तथ्य को तो सभी स्वीकार करेंगे कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे विचार का क्षेत्र हो या कोई अन्य, जब भी स्थूल का आधिपत्य हुआ सूक्ष्म ने इसके विरोध में क्रान्ति की। दर्शन में कभी चार्वाक सम्प्रदाय के देहात्मवाद का जोर था तो कभी प्राणात्मवाद का और इसके विरोध में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म वेदान्तिक आत्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। इसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में भी कभी तो भामह, दण्डी उद्भट्ट, वामन आदि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल पक्ष शरीर ही प्रधान बना रहा और तदनन्तर शरीरात्मवाद के विपक्ष में सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने आवाज उठाते हुए ध्वन्यालोक का निर्माण किया।

ध्वन्यालोक का आविर्भाव उस समय हुआ जब साहित्य में अलंकारों को सर्वाधिक उच्च स्थान प्राप्त था। अलंकार को काव्य के सौन्दर्य के लिए अनिवार्य स्वीकार किया जा चुका था[2] तथा समग्र साहित्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र एवं साहित्यिक आचार्यों को 'आलंकारिक' कहने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। यद्यपि भामह, उद्भट्ट आदि प्राचीन आलंकारिकों को व्यंग्य अर्थ का आभास था और इसे उन्होंने पर्यायोक्त आदि अनेक अलंकारों में स्थान भी दिया तथापि वे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के चारुत्व में विश्वास नहीं रखते थे। आनन्दवर्धन ही वह प्रथम आचार्य हुए जिन्होंने व्यंग्यार्थ की महत्ता को समझते हुए इसे आत्मपद पर अधिष्ठित किया।[3]

---

१. (क) तत्र शरीरमेव नात्मा। तत्र ह्यवयवसमुदायो वा चेतयेत्। प्रत्येकं वाऽवयवाः। एकस्मिन्नवयवे वृक्णेऽवयवी समुदायोऽपि वृक्ण इति जीवत एव सतः प्रेतत्वापत्त्या नाद्यः कल्पोऽत्रावसरं लभते। बहूनां चेतनानामेकस्मिन् कार्ये विरोधेन विरुद्धदिक्कक्रियतया शरीरमुन्मथ्येताक्रियं वा प्रसज्येतेति द्वितीयकल्पमपि पराहतं पश्यामः। अहमिच्छामि पश्यामि जिघ्रामि रसयामि स्पृशामि शृणोमीत्येकात्मगोचरानुभवाप्रामाण्यापत्तिस्तु प्रत्येकचेतनत्वेऽधिकं दूषणम्। नहीच्छतः पश्यतो जिघ्रतो रसयतः स्पृशतः श्रुण्वतश्चैक्यं प्रत्येकचैतन्यपक्षे युज्यते। —ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, (निर्णय सागर), भूमिका, पृ० १

(ख) वाग्मिनामपि मूकत्वमापादयन्तो लोकायतिका आत्मानामेव न जायन्तीति लोकामहे। —वही

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्॥ —का० अ० सू० वृ० १।१।१

३. (क) काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। —ध्व० लो० १।५

(ख) योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। —वही, १।२

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा जहाँ अर्थ अपने आपको या शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह 'काव्यविशेष' विद्वान लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है, की है।[1] उन्होंने वस्तु, अलंकार और रसादि नाम से ध्वनि के तीन भेद भी किए हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो रसध्वनि का ही आत्मत्व सिद्ध किया है। "...आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्..."[2] की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि आनन्दवर्धन को भी आनन्दास्वाद का ही प्राधान्य अभीष्ट है, अतः रसध्वनि का ही सर्वत्र मुख्य आत्मत्व प्रदर्शित होता है।[3] केवल व्यंजना व्यापार से गम्यमान आनन्दास्वाद रूप रस, जिसे दूसरे शब्दों में रसध्वनि कहा गया है, मुख्यतया काव्य की आत्मा है।[4] इसको भट्टनायक ने भी आत्मरूप में स्वीकार किया है।[5] क्योंकि ब्रह्मास्वाद-सहोदर में वही ध्वनि प्रधानतया सिद्धि रूप है।[6] अतः रसध्वनि में ही आत्मत्व है।[7] ध्वनि के तीन भेदों वस्तुध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का भी पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। अतः रसध्वनि मात्र काव्य की आत्मा है।[8] इनके पश्चात् मम्मट ने भी रत्यादि के द्वारा रसध्वनि को ही सर्वोत्कृष्ट बताया है।[9]

रसगंगाधर के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि पण्डितराज को भी रसध्वनि का आत्मत्व अभीष्ट है क्योंकि रस, वस्तु, अलंकार, अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य रूप पाँच प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि ही परम रमणीय है।[10] इसी में परमाह्लाद तथा सारतत्त्व रूप रस की प्रतीति होती है। 'रसौ वै सः' इस श्रुति के

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। —ध्वन्यालोक, १।१३

२. सलोचन—ध्वन्यालोक, पृ० ३७

३. रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति।
—वही, पृ० ४०

४. ......रसनीयरूपौ रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति। —लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ५०

५. ......रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः। —वही, पृ० ५१

६. ......परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोऽशंः सिद्धरूप इति।
—वही, पृ० १९३

७. ......सर्वत्र रसध्वनेरेवातमभावः। —वही, २।५ पर लोचन, पृ० २०८

८. स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहास-बलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनि काव्यस्यात्मे' ति सामान्येनोक्तम्। —ध्वन्यालोक, १।५ पर लोचन, पृ० ८६

९. मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। —का० प्र० ४।३७

१०. पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदमिधीयते।
—र० ग० ध०, प्रथमानन, पृ० ७९

अनुसार रस को ही प्राप्त कर वाणी परमानन्द को प्राप्त होती है।[१] विश्वनाथ प्रभृति ने भी जो रस के आत्मत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि रसध्वनि का ही आत्मत्व समझना चाहिए क्योंकि ध्वन्यमान रस ही वस्तुतः रस होता है। इनके अतिरिक्त रुय्यक,[२] विद्याधर[३] तथा विद्यानाथ[४] आदि ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने ध्वनि के महत्त्व को समझते हुए इसे काव्यात्मा रूप में प्रतिपादित किया है।

आनन्दवर्धन के ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करने के पश्चात् साहित्शास्त्र में रस, अलंकार रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य आदि सभी काव्यतत्त्वों का विवेचन ध्वनि को आत्मस्थानीय मान कर किया गया है। रस, जो सहृदय के हृदय में आनन्दास्वादरूप है, सर्वथा ध्वनित ही होता है, वाच्य नहीं। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति ध्वनि पर अवलम्बित है। आनन्दवर्धन ही वह प्रथम आचार्य हुए जिन्होंने काव्यतत्त्ववेत्ताओं की चिन्तन दृष्टि को अलंकार्य की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि न तो अलंकारों में काव्यात्मा होने की क्षमता है और न गुणात्मा रीति में। जिस प्रकार कटककुण्डलादि अलंकार शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाते हुए आत्मा में उत्कर्ष का आधान करते हैं, क्योंकि आत्मशून्य शव शरीर में उनका कुछ महत्त्व नहीं होता, वैसे ही श्लेष, उपमादि शब्द, अर्थ के अलंकार शब्दार्थ रूप काव्यशरीर में सौन्दर्य प्रकट करते हुए वस्तुतः रसादि ध्वनि रूप काव्यात्मा के उत्कर्षक होते हैं। इसीलिए तो आनन्द, मम्मट प्रभृति आचार्यों ने रस, भावादि के उत्कर्ष करने के उद्देश्य से विहित अलंकारों में अलंकारत्व अर्थात् शोभाहेतुत्त्व स्वीकार किया है[५] और रस के परिपन्थी दुष्कर यमक, श्लेष, प्रहेलिका आदि अलंकारों को सर्वथा त्याज्य माना है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रसादि ध्वनि में उन्हीं अलंकारों को स्थान देना चाहिए जिनसे रस का आक्षेप बिना किसी प्रयत्न के हो सके।[६] अर्थात् अलंकार को ही प्रधान मानकर उसका

---

१. रसो वै सः रसं लब्ध्वाऽऽनन्द्ययं स्यादिति श्रुतेः।
पक्षश्चरम एवात्र परमः परमास्पदम्।
—काव्यात्ममीमांसा, पृ० ३३१ से उद्धृत, सा० सा० ४।१५

२. तस्माद्विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्य।···तस्मात् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः।
—अ० स०, पृ० १३-१४

३. शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः। —एकावली १।१३
आत्मा च ध्वनिरेव। —वही, वृत्ति

४. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम्।
—प्रतापरुद्रयशोभूषण, २।२, पृ० २६

५. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ —ध्व० लो० २।५, पृ० २०८

६. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ —वही, २।१६

काव्य में विधान नहीं होना चाहिए अपितु रसादि के अंग रूप में ही अलंकारों की विवक्षा होनी चाहिए ।[1] इसी प्रकार वामन की काव्यशरीर की संघटना रूप रीति, रसादि ध्वनि की नित्य उपकारिणी होती है और इसी उपकार में रीति का उत्कर्ष है। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया और सफल भी हुए किन्तु वे ध्वनि का खण्डन नहीं कर सके। वक्रोक्ति के लक्षण में, भेदों में, प्रभेदों में, उदाहरणों में सर्वत्र ध्वनि ही गूंजती है। द्योतक और व्यंजक को वाचक, द्योत्य और व्यंग्य को वाच्य एवं लक्षणा और व्यंजना को अभिधा या विशिष्ट अभिधा कह देने मात्र से व्यंजक, और व्यंजना का खण्डन नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त प्रतीयमान, व्यंग्य आदि शब्दों के प्रयोग इन्हें करने ही पड़े हैं।[2]

औचित्य को काव्य जीवित मानने वाले क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त के परम रहस्य का निरूपण भी आनन्दवर्धन ने किया है।[3] किन्तु काव्य के अंगीभूत ध्वनि की स्थापना करके इन्होंने उसके अंगभूत गुण, संघटना, वृत्ति, अलंकार आदि की व्यवस्था औचित्य के अनुसार बताई है।

'ध्वनि' को काव्यात्मा मानने वाले काव्यशास्त्रियों का निरूपण वेदान्तादि दर्शनों के आत्मनिरूपण से कई प्रकार से साम्य रखता है।

वेदान्ती दार्शनिकों ने शरीर, मन, इन्द्रिय, प्राण आदि की व्यवस्था 'आत्मा' को केन्द्रबिन्दु मानकर की है। आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व को आतमरूप में प्रतिष्ठापित करने के पश्चात् साहित्यशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, दोषादि सभी तत्त्वों का विवेचन आत्मरूप ध्वनि को केन्द्रबिन्दु मान कर किया है।

जिस प्रकार वेदान्तादि दर्शनों में आत्मा का स्वरूप शरीर के विभिन्न अंगों मुखादि से भिन्न है एवं दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार ध्वन्यमान एवं प्रतीयमान अर्थ भी कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्रादि अवयवों से भिन्न, उसके लावण्य के समान, महाकवि की सूक्तियों में वाच्यार्थ से भिन्न भासित होता है।[4]

दर्शनग्रन्थों में विशेषकर वेदान्तादि दर्शन में यह वर्णन मिलता है कि आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता कोई विरल एवं प्रतिभावान व्यक्ति ही हो सकता है, यह जनसाधारण के

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ —ध्वन्यालोक, २।१८, १९

२. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥ —व० जी०, १।४०

३. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ —ध्व० लो० ३।३२

४. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ —ध्व० लो० १।४

ज्ञान सीमा के बाहर की वस्तु है। इसी प्रकार ध्वनि भी केवल सहृदय-संवेद्य है।[1]

अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध और जैन तथा मीमांसा के समान सांख्यदर्शन भी विभिन्न कारणों से पुरुष को अनेक मानता है।[2] तत्त्व रूप में वह सब एक है परन्तु उसकी संख्या अनेक है। उनका तत्त्व है चैतन्य। यह सभी आत्माओं में एक समान है। अनेकात्मवाद का प्रमाण सांख्य में मिलता है। इसी प्रकार ध्वन्यार्थ की विविधता का बोध भी हमको होता है चूँकि एक ही व्यंग्यार्थ सभी व्यक्ति ग्रहण न कर स्वप्रसंगानुरूप अर्थ को चुन लेते हैं।

सांख्यदर्शन में 'आत्मा' को चेतन माना गया है। वहाँ यह बताया गया है कि संघात अथवा अवयवी पदार्थ किसी अन्य चेतन पदार्थ के लिए होते हैं।[3] अचेतन तत्त्व इसका उपयोग नहीं कर सकता। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि चेतन आतमा के साधन मात्र हैं। आनन्दवर्धनादि ने भी ध्वनि को चेतन साध्य-तत्त्व मान गुणालंकारौचित्यादि को साध्य की सिद्धि में साधन माना है। इसको एक और प्रकार से भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सांख्य आदि दर्शनों में आत्मा को शरीर, मन, अहंकार और बुद्धि से परे माना गया है उसी प्रकार ध्वनि भी शब्दार्थ शरीर तथा औचित्य, वक्रोक्ति, रीति आदि शरीर के बाह्य तत्त्वों से पृथक् एक आन्तरिक तत्त्व है।

वेदान्तदर्शन की आत्मा सूक्ष्म तथा स्वयं प्रकाश है।[4] इसके स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता। साथ ही यह आनन्दस्वरूप भी कही गई है।[5] ध्वनि का स्वरूप भी समस्त सत् कवियों के काव्यों का परम् रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्य लक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है तथा सहृदयों के मन को आनन्दित करता है।[6]

शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' को 'लोचन' प्रदान किया। इनका ध्वनि

---

१. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। —ध्वन्यालोक, १।१

२. जननमरणकरणनां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ —सां० का० १८

३. सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च॥ —वही, का० १७

४. परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेऽशुंभानिव॥
—आतमबोध प्रकरण, श्लोक ४

५. ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे नात्मनि विद्यते।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि॥ —आतमबोध०, श्लोक सं० ४१

६. तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृतयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते। —ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ३७

को काव्यात्मा मानने का आधार भी शैवदर्शन प्रतीत होता है। शैवदर्शन में उन्होंने बताया कि शिव की परा आदि शक्तियाँ अव्यक्त रूप से शिव में विद्यमान रहती हैं तथा विश्व का उन्मीलन करती हैं। यही बात काव्यपक्ष में ध्वनि के विषय में घटित होती है। ध्वन्यार्थ भी सदैव व्यंग्य होता है। नवनवोनमेषशालिनी कवि प्रतिभा भी अपनी शक्ति द्वारा एक पृथक् ही संसार का उन्मीलन करती है।[1] इसी प्रकार द्वितीय उद्योत के अन्त में पश्यन्ती,[2] तृतीय उद्योत के अन्त में मध्यमा[3] तथा चतुर्थ उद्योत के अन्त में तुर्याशक्ति के सादृश्य से ध्वनि का निरूपण किया है।[4]

अतः हर प्रकार से 'ध्वनि' का अन्तस्तत्त्व तथा आत्मा होना सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः साहित्य में शरीरवाद के विपक्ष में आत्मवाद की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ किन्तु जिस प्रकार चार्वाक शरीर से आत्मा के पृथग्भाव के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाते हैं, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय वाच्य अर्थ मात्र के सम्मिश्रण से विमोह की स्थिति प्राप्त कर चुका है, वे वाच्य के अतिरिक्त किसी अर्थ के पृथग्भाव में संदेह करते हैं।[5] एकावलीकार ने भी इसका उल्लेख किया है।[6] ध्वनि तत्त्व के गुण, अलंकार, रीति आदि रूप में प्राचीन काल में विचार्यमाण होने पर भी आत्मरूप में इसके प्राधान्य को स्वीकार करने में कतिपय काव्यशास्त्रियों ने प्रबल विरोध किया है। जयरथ ने अपने व्याख्यान में किसी अनिर्दिष्ट ग्रन्थकार की दो कारिकाओं का उल्लेख किया है। इनमें

---

१. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥
—लो०, ध्व० लो०, पृ० १७२

२. प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत्। —वही, पृ० ३१०

३. काव्यलोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत्।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान्संविधास्यति॥
आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम्।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम्। —वही, पृ० ५५६

४. सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः।
नैव निन्दति खलान्मुहुर्मुहुर्धिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनलः॥
वस्तुतश्शिवमपे हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते।
नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वचस्तेन वशिशवमयी दशा भवेत्॥ वही, पृ० ६०४

५. वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्मते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे।
—लो० ध्व० लो०, पृ० ४४

६. चार्वाकैरिव कैश्चिदस्य न पुनः सत्तापि संभाव्यते। कर्त्तुं लक्षणमक्षमैरयमनिर्वाच्यः पुरैरुच्यते, भाक्तोऽन्यैः समुदीर्यतेऽस्य हि ततो ब्रूमः स्वरूपं वयम्।
—एकावली, वृत्ति, १।१३

ध्वनि विरोधी बारह मतों का संकेत मिलता है।[1] इन सभी ध्वनि विरोधी मतों का निराकरण आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उच्च कोटि के आचार्यों ने करते हुए ध्वनि तत्त्व का विशद विवेचन कर इसे आत्म-स्थानीय सिद्ध कर दिया है। ध्वनि विरोधी इन सभी मतों का निरूपण शब्द-शक्ति के अध्याय में किया गया है।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थ शरीरकाव्य की आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा शरीर के चारुत्व का हेतु नहीं होता।[2] ध्वनि का अन्तर्भाव न तो गुणालंकारादि में हो सकता है[3] और न रीति आदि में। ध्वनि का खण्डन करने वाले आलंकारिकों का कथन तो स्वमत विरोधी है।[4] अतः ध्वनि का किसी भी काव्यतत्त्व में समावेश एवं अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यह तो एक महाविषय है।[5] जिसमें सभी काव्य-तत्त्वों को समाविष्ट करने की क्षमता विद्यमान है। इसीलिए तो अभिनवगुप्त ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर तथा प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए चार्वाक

---

१. तात्पर्याशक्तिरभिधालक्षणानुमिति द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्यस्थिताः विप्रतिपत्तयः॥
—जयरथ, विमर्शिनी टीका, अलंकार सर्वस्व, पृ० १२

२. न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः। न ह्यलंकार्यः एवालंकार गुणी एव गुणः। —लो०, ध्व० लो०, पृ० ४५-४६

३. गुणेषु तावन्नध्वनेरन्तर्भावो रसधर्मत्वात्तेषाम्। न हि धर्मे धर्मिणोऽन्तर्भावः। नाप्य-लंकारेषु। वाच्यमात्रविश्रान्तेषु श्लेषादिषु व्यभिचारात्। ननु यत्रालंकारेषु न ध्वनेः प्रतीतिस्तत्र मा भूदन्तर्भावः।

मल्लिनाथः आत्मनि शौर्यादय इव काव्यात्मनि रसे माधुर्यादयो गुणाः समवायवृत्तया वर्तन्ते इति गुणोन्मेषे वक्ष्यति। संभवे वात्मनोऽपि शौर्यादिष्वन्तर्भाव इत्यर्थः। एवं गुणानां रसधर्मत्वादेव न तेषु वस्त्वलंकारध्वन्योरप्यन्तर्भावः। अन्तर्भावे वा घटस्य पटधर्मेष्वन्तर्भाव इत्यनुसंधेयम्। अथालंकारेष्वन्तर्भावः वारयति। रसादीनामात्मभावे प्रतिपन्नानामलंकारत्वशङ्काया अपि दूरनिरस्तत्वात्।
—एकावली १।१४ पर टीका

४. जीवितभूतो ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कार-कारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमिति लोके प्रसिद्धमिति। यस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। —लो०, ध्व० लो०, पृ० २५-२६

५. न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतदभेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं तद-प्रसिद्धालङ्कार विशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः।
—ध्व० लो०, वृत्ति, १।१३

मत का उल्लेख भी किया है ।[1]

अन्त में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जीवात्मा के अनुसंधान का औपनिषद् ब्रह्म में पर्यवसान हो गया उसी प्रकार काव्यात्मा के अनुसंधान का प्रयास भी रस एवं ध्वनि में आकर परिसमाप्त हो गया । कविकर्णपूर्ण का एक पद्य है जो इन्हीं भावों को व्यक्त करता है ।[2]

काव्यस्य आत्मा रस

काव्य की आत्मा काव्य का सर्वोपरि एवं अनिवार्य तत्त्व होता है । भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय से सम्बन्धित आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को आत्मा सिद्ध करने की चेष्टा की है । रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों ने इस तत्त्व को रस नाम से अभिहित करते हुए बिना किसी विप्रतिपत्ति के काव्यात्मा का स्थान दिया है ।[3] काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत ने यद्यपि नाट्यशास्त्र में रस के लिए स्पष्ट रूप से 'आत्मा' शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि रस के बिना काव्य के किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती,[4] यह कहकर रस की अनिवार्यता स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की है । उन्होंने काव्य को वृक्ष स्थानीय तथा रस को बीज स्थानीय मान इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है ।[5] नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्य की वस्तु, अभिनय तथा संगीत का विधान सर्वथा रसानुकूल ही होना चाहिए । नाट्य में प्रयुक्त काव्यतत्त्व के लिए भी बहुकृतरसमार्गम्' होना आवश्यक है ।[6] इस प्रकार अलंकार, गुण, दोष आदि सभी

---

१. 'शब्दार्थशरीरं काव्यमि' ति यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूल-कृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति ।······वाच्यसंवलनाविमोहित-हृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चावार्कैरिवात्मपृथग्भावे ।
—वही, पृ० ४३-४४

२. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनि रस व आत्मा किल रसः ।
गुणा माधुर्या उपमिति मुखोऽलंकृति गणाः ।।
स्वसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषः ।
यदस्मिन् दोषाः स्थाच्चर्वण कटुतादि स न परः ।। —अं० कौ०, पृ० ५

३. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः । —व्य० वि०, १।१६

४. न हि रसाद् ऋते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते । —ना० शा०, ६।३२

५. यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाः व्यवस्थिताः ।। —वही, ६।३८

६. मृदुललितपदार्थं गूढ़शब्दार्थहीनं
जनपदसुखभोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोज्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं संधिसंधानयुक्तं ।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।। —वही, १७।१२१

तत्त्व भी रसाश्रित हो जाते हैं।[1]

भरत द्वारा वर्णित रस का स्वरूप वेदान्तादि दर्शनग्रन्थों में वर्णित 'आत्मा' के स्वरूप से निम्न प्रकार से साम्य रखता है—

वेदान्तादि दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्म ही समस्त जगत् के मूल में है अथवा ब्रह्म का विवर्त ही विश्व है। सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत् के आकार में परिणत कर लेता है। भरत ने भी रस की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए काव्य को रस का विवर्त माना है। साथ ही उनका बिना रस के काव्य के अस्तित्व को स्वीकार न करना उसके विभुत्व पर प्रकाश डालता है क्योंकि बिना रस के काव्य का अस्तित्व मानने में उन्होंने आपत्ति की है। वेदान्तादि दार्शनिकों ने आत्मा को विभु माना है। भरत ने भी बताया है कि रसों और भावों की व्यवस्था करने से उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।[2] उनका यह कथन भारतीय-दर्शन में वर्णित 'आत्मा' के स्वरूपज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की उपलब्धि से साम्य रखता है।

भरत के पश्चात् बहुत समय पर्यन्त रससिद्धान्त काव्यशास्त्र में अधिक लोकप्रिय न हो सका। भामह, दण्डी, वामनादि कई ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने अलंकार, रीति, गुणादि को अधिक बल प्रदान कर रस को अंग रूप में स्वीकार किया।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ही वह प्रथम आचार्य हुए जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य की आत्मा कहा है।[3] दर्शनग्रन्थों में यह कहा गया है कि आत्मा शरीर में जीवन का संचार करती है। राजशेखर[4] के अनुसार भी प्रकृति अथवा भौतिक जीवन के सभी पदार्थों के लिए रसानुकूलता अनिवार्य है।

लोचन तथा अभिनवभारती में उपलब्ध अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतोत के 'काव्य-कौतुक' के उद्धरणों के आधार पर यहा कहा जा सकता है कि भट्टतोत के अनुसार रस आनन्दस्वरूप होने से आत्मरूप है और रस समुदाय रूप ही नाट्य है। शांकर वेदान्त में आत्मा की कई विशेषताओं में आनन्दमयता भी एक है।[5] रस भी काव्य की आत्मा है तथा वेदान्त की आत्मा के समान यह भी आनन्दस्वरूप है।

काव्यालंकारसारसंग्रह की लघुवृत्ति के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने भी रस को

---

१. एवमेते ह्यलंकारा गुणादोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥ —ना० शा०, १७।१०६

२. एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः।
य एवमेतान् जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम्॥ —वही, ७।१२५

३. शब्दार्थौ ते शरीरं,—···रस आत्मा·····। —का० मी०, पृ० १६

४. मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत्।
—का० मी०, अ० ९, पृ० ११९

५. अखण्डानन्दरूपस्य तस्या— नन्दलवाश्रिताः।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः॥ —आत्मबोध, श्लोक ५८

काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए अपने पूर्वाचार्यों की भाँति काव्य और रस में अलंकार्य और अलंकारभाव न मान, इसमें आत्म-शरीरभाव माना है। रस काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित है और शब्दार्थ शरीर रूप में। जिस प्रकार आत्मा में अधिष्ठित ही शरीर जीवित रहता है उसी प्रकार रस से युक्त ही काव्य जीवित रह सकता है। अतः काव्य की आत्मा रस है।[1] दर्शनग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि आत्मा ही शरीर का जीवितभूत तत्त्व है। योगी भी इस बात को मानते हैं।[2] यह आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से विलक्षण राजवत् उनके कार्यों का द्रष्टामात्र है।[3]

रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्दुराज ध्वनि के प्रबल विरोधी हैं। वे रस को ध्वन्यमान नहीं मानते अपितु पर्यायोक्त, श्लेष आदि अलंकारों में उसका अन्तर्भाव करते हैं, किन्तु पर्यायोक्तादि अलंकारों में प्रतीयमान रसादि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं, इसका सयुक्तिक प्रतिपादन ध्वन्यालोककार आदि ने किया है।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने अन्य रसात्मवादियों की भाँति रस को काव्य की आत्मा मानते हुए[4] भी इसे व्यंजनावृत्ति से अभिव्यक्त न मानकर विभावादि के द्वारा रसादि की अनुमति सिद्ध करने के लिए ही 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना की है।[5]

महिमभट्ट के इस कथन का सम्बन्ध सांख्यदर्शन से जोड़ा जा सकता है। सांख्य दर्शन पुरुष को अनुमेय मानता है। वहाँ अव्यक्तादि से पृथक पुरुष की सत्ता का अनुमान कई प्रकार से लगाया गया है।[6] क्योंकि सभी संघात (वस्तु समुदाय) किसी दूसरे के लिए

---

१. न खलु काव्यस्य रसानां चालंकार्यालंकारभावः किन्त्वात्मशरीरभावः। रसा हि काव्यस्यात्मत्वेनावास्थिताः शब्दार्थौ च शरीररूपतया। यथा ह्यात्माधिष्ठितं शरीरं जीवतीति व्यपदिश्यते। तथा रसाधिष्ठितस्य काव्यस्य जीवद्रूपतया व्यपदेशः क्रियते।······तदाहुः—

रसाद्यधिष्ठितः काव्यं जीवद्‌रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥ इति

—का० अ० सा० सं०, लघुवृत्ति, पृ० ४१५

२. सम्यक् विज्ञानवान् योगी
स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम्।
एकं च सर्वमात्मान—
मीक्षते ज्ञानचक्षुषा॥ —आत्मबोध, श्लोक ४७

३. देहेन्द्रियमनोबुद्धि—
प्रकृतिभ्यो विलक्षणम्।
तद्‌वृत्तिसाक्षिणं विद्या—
दात्मानं राजवत्सदा॥ —वही, श्लोक १८

४. व्य वि०, १।२६

५. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ —वही, १।१

६. सां० का० १७

होने, त्रिगुणत्व इत्यादि का अभाव होने, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए (चेतन) अधिष्ठाता एवं भोक्ता की अपेक्षा होने एवं कैवल्य या मोक्ष के लिए वृत्ति होने के कारण पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है।

रुय्यक् ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' में रसादि को ही काव्य का प्राण माना है। ये रसादि अलंकार रूप नहीं हो सकते क्योंकि अलंकार उपकारक होता है और रसादि प्रधानरूप से उपस्कार्य है। इसलिए काव्यार्थरूप जो प्रतीयमान रसादि रूप अर्थ है वही काव्य का जीवित है और यही पक्ष वाक्यार्थ वेत्ता सहृदयों को ग्राह्य है।[1]

रस को काव्यात्मा मानने वाले आचार्यों में विश्वनाथ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। रस की 'आत्मा' रूप में विवेचना का स्पष्ट, विस्तृत एवं दार्शनिक आधार पर विवेचन साहित्यदर्पण में ही उपलब्ध होता है। इनकी काव्य की परिभाषा ही रस के आत्मत्व को व्यक्त करती है।[2] अन्य काव्यतत्त्व रस पर आश्रित होने के कारण इसमें स्वतः ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। गुण, रीति और अलंकार रस का उत्कर्ष करते हुए ही काव्य का उत्कर्ष करते हैं।[3] इसी प्रकार दोष भी रस के अपकर्षक होने के कारण काव्य के अपकर्षक माने गए हैं।[4] विश्वनाथ ने भी राजशेखर की भाँति काव्यपुरुष रूपक के द्वारा काव्यतत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध एवं सापेक्षिक स्थिति सर्वथा स्पष्ट कर दी है।[5] विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के तृतीय परिच्छेद में रसात्मा के स्वरूप का विवेचन 'सत्त्वोद्रेकादि' दो कारिकाओं[6] में किया है। उनका यह विवेचन अद्वैतवेदान्तादि दर्शनग्रन्थों की आत्मा से अत्यधिक साम्य रखता है।

शांकर वेदान्त में आत्मा की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए इसे सर्वोपरि तत्त्व माना गया है।[7] आत्मचैतन्य के रहने पर ही देहेन्द्रियमनादि स्वकार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

---

१. रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वात् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्मात् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव च पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः।—अ० स०, पृ० १४

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। —सा० द०, विमला व्याख्या, प्र० परि०, पृ० १६

३. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः। —वही, १।३

४. दोषास्तस्यापकर्षकाः। —वही, १।३

५. उक्तं हि—काव्यस्य शब्दार्थो शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति। —सा० द०, विमला व्याख्या, प्र० परि०, पृ० १६

६. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ —सा० द० ३।२, ३

७. आत्मचैतन्यमाश्रित्य, देहेन्द्रियमनोधियः॥
स्वक्रियार्थेषु वर्तन्ते, सूर्यालोक यथा जनाः॥ —आत्मबोध, श्लोक २०

आत्माविहीन शरीर में इनका कुछ महत्त्व नहीं। विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यात्मा रस का स्वरूप भी वेदान्त की आत्मा के तुल्य है। काव्य में रस का महत्त्व सर्वाधिक है। शेष गुणालंकाररीति आदि तत्त्व तो रसात्मा के उत्कर्ष के हेतु हैं। दर्शन की आत्मा आनन्दमय है।[1] विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित रसात्मा का स्वरूप भी आनन्दमय है। इन्होंने भरत की भाँति रस को आस्वाद्य पदार्थ न मानकर आस्वाद माना है। अतः आत्मा आनन्द और भोग अर्थात् आस्वादयिता, आस्वाद्य और आस्वाद तत्त्व रूप में एक है, ऐसा माना है। शांकर वेदान्त में भी ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का भेद नहीं है।[2]

रस को स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय आदि कहना भी अद्वैतवेदान्तानुकूल ही बनता है। आत्मज्ञान हो जाने पर जीव को एक विलक्षण ही आनन्द की अनुभूति होती है, जो ऐन्द्रिय अनुभूति से नितान्त भिन्न और उच्च कोटि की है। ठीक ऐसी ही आनन्दानुभूति सहृदय को रसोपलब्धि प्राप्त कर होती है। रस में आत्मविषयक सभी समानताएँ यथा विषयानन्द से भिन्न, ऐन्द्रिय अनुभूति से परे की वस्तु अथवा चैतन्य आत्मा का विषय आदि होने पर भी रस को ब्रह्मानन्द इसलिए नहीं माना गया, क्योंकि ब्रह्मानन्द स्थायी होता है। किन्तु रस अस्थायी है। दूसरे, रस में लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता। यही, इसका औपनिषदिक रस से अन्तर है।

कविराज विश्वनाथ के पश्चात् कविकर्णपूर्ण ने अपने 'अलंकारकौस्तुभ' में स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि शब्दार्थ रूप काव्य में प्राण है ध्वनि तथा आत्मा है रस।[3] केशवमिश्र ने 'अलंकारशेखर' में रस को काव्य में आत्मस्थानीय माना है।[4] इसका महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि सुन्दर पाक होने पर भी लवण रहित भोज्य पदार्थ जैसे आस्वाद्य नहीं होता है, वैसे ही नीरस काव्य रसिक जन के आनन्द के लिए नहीं होता है।[5]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में रसादि का अति सूक्ष्म एवं मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए वेदान्त दर्शन के आधार पर इसे शुद्ध आत्मचैतन्यरूप माना है।[6] तथा इसकी प्रधानता को दिखाते हुए 'आत्म' पद पर आसीन कर युक्तिपूर्ण निरूपण भी प्रस्तुत किया है। वेदान्त में भी शुद्ध चैतन्यात्मा का निरूपण हुआ है वहाँ इसे तुरीय चैतन्य नाम

---

१. तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म
सच्चिदानन्दमद्वयम्। —वही, श्लोक ६४

२. आत्मबोध, श्लोक ४७

३. अ० कौ० १।१

४. रस आत्मेत्युक्तम्। —अ० शे० मरीचिः २०, पृ० ६८

५. साधुपाके विना स्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा। तथैव नीरसं काव्यं स्यान्नो रसिक-तुष्टये ॥ —अ० शे०, मरीचिः २० पृ० ६९

६. व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।
चस्त्वर्थे। भग्नमावरणमज्ञानं यस्यास्तादृशी शुद्धा चिच्चेतन्यमास्वाद इह व्यक्तिर्न तु तदास्वाद कारणीभूता रसनावृत्तिः।
—र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्रथमानन, पृ० ८३

से अभिहित किया गया है।[1] वेदान्त की आत्मा अज्ञानावरण के हटने पर ही स्वयं को प्रकाशित करती है।[2] इसी भाँति पण्डितराज का रस भी स्वयं प्रकाश्य का वैशिष्ट्य लिए हुए है।[3] किन्तु इसके लिए भी अज्ञानावरण को दूर करना अत्यावश्यक है।[4]

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज का रस-निरूपण पूर्णरूपेण वेदान्त की आत्मा की छाया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लोक में आत्मा के अलंकार्यत्व की भाँति काव्य में रसात्मा अलंकार्य ही है। शेष रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्यादि इसके उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं। वे आत्मा नहीं हो सकते। रसादि का अलंकार्यत्व सिद्ध होने पर उसका आत्मत्व भी सुतरां सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार लोक में भी अलंकार्य आत्मा ही होती है, उसी प्रकार काव्य में भी अलंकार्य आत्मा ही होगी। चूंकि रसादि ही अलंकार्य है, अतः यही आत्मा है।

वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्

वक्रोक्ति को काव्यजीवित कहने वाले आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का नाम ही वक्रोक्तिजीवित रखा है। वक्रोक्ति की कल्पना कुन्तक की स्वयं की नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से वक्रोक्ति की कल्पना भामह से प्रारम्भ होती है।[5] वे वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। भामह वक्रोक्तिविहीन अलंकार को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं हैं।[6] दण्डी ने भी भामह की वक्रोक्ति कल्पना को स्वीकार किया है।[7] तदनन्तर वामन

---

१. वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिता-काशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहित-चैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते॥ —वेदान्तसार, पृ० ३-४

२. कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै—
व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढ़बुद्धिं क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥
—विवेकचूड़ामणि, शंकराचार्य, श्लोक १४५

३. रस० ग० ध० (चन्द्रिका), प्रथमानन, पृ० ८४

४. वही, पृ० ८३

५. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ —का० अ०, २।८५

६. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ —का० अ०, २।८६

७. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ —काव्यादर्श २।३६३

ने सादृश्याधार के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा को ही वक्रोक्ति कहा है।[1] रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र रह जाता है।[2]

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में वक्रोक्ति का नाम्ना निर्देश न करते हुए भी, वक्रोक्ति तत्त्व का मार्मिक विवेचन किया है। उन्होंने अतिशयोक्ति को सर्वालंकारगर्भता माना है। भामह की भाँति आनन्दवर्धन भी अतिशयोक्ति में अभेद मानते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि औचित्य से संयुक्त अतिशयोक्ति का सम्बन्ध काव्य में उत्कर्ष बढ़ाना ही है। भामह की प्रसिद्ध कारिका 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति' को उद्धृत करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि अतिशयोक्ति से प्रभावित अलंकार में शोभातिशय का योग होता है। अतः अतिशयोक्ति में सब अलंकारों के स्वरूप धारण करने की योग्यता होने के कारण यह सर्वालंकार रूप मानी जाती है।[3] परन्तु कुन्तक वक्रोक्ति को इन सबसे विलक्षण काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति अथवा वक्रता वास्तव में कविकौशल अथवा काव्यसौन्दर्य का पर्याय है।

वक्रोक्ति की परिभाषा[4] करते हुए आचर्य कुन्तक ने 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' को वक्रोक्ति कहा है। इन्होंने 'विचित्र' नामक मार्ग के प्रसंग में 'वक्रोक्ति' के वैचित्र्य को 'जीवित' शब्द से संकेतित किया है।[5] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो काव्य-तत्त्व किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दें, उसका नाम वक्रोक्ति है।[6] 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में वक्रोक्ति का निरूपण स्थल-स्थल पर हुआ है। वहाँ वक्रोक्ति को काव्य का अलंकार कहा गया है। किन्तु अलंकार से उनका तात्पर्य उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के समान एक विशेष प्रकार के अलंकार से न होकर सम्यक् रूप से काव्य जन्य सौन्दर्य को ही वक्रोक्ति पद से अभिहित किया है। इसी कारण वक्रोक्तिकार ने इसे 'लोकोत्तरचमत्कारकारी' तथा 'विलक्षण' कहा है।

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्; तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।
—का० अ० सू० वृ० पृ० १३०-३१

२. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पद—भङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेष—वक्रोक्तिः। —का० अलं०, २।१४

३. यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया।......तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्यत्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। —ध्व० लो० वृत्ति ३।३७

४. उभावतावलंकार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।। —व० जी १।१०

५. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।। —वही, १।४२

६. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। —वही, १।२

वक्रोक्तिजीवितकार का कहना है कि काव्यों में सैकड़ों अलंकारों का निरूपण हुआ है परन्तु जिस अलौकिक वैचित्र्य की सृष्टि वक्रोक्ति से होती है किसी भी अलंकार से सम्भव नहीं।[1]

कुन्तक से पूर्व अलंकार को काव्य का सर्वस्व तथा 'रीति' तथा 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा स्वीकार किया जा चुका था। कुन्तक तक आते-आते रस का स्वरूप भी अधिकाँशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुन्तक ने इन चारों काव्य तत्त्वों में वामनसम्मत रीति को निस्सार वस्तु समझ इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[2] शेष तीन काव्य तत्त्वों—अलंकार, ध्वनि और रस को उन्होंने वक्रोक्ति से सम्बद्ध मानते हुए इसी में अन्तर्भूत कर दिया है। अलंकार के व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हुए उन्होंने सालंकार की काव्यता को स्वीकार किया है।[3] उनका वक्रोक्ति को विचित्रा अभिधा कहने का तात्पर्य 'ध्वनि' ही है। 'रस' को भी उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थों में अनूस्यूत किया है।[4]

वक्रोक्ति की अन्य काव्य तत्त्वों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि कुन्तक वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

वक्रोक्ति एवं रीतिगुण

वक्रोक्तिवाद में रीति को वक्रता का एक भेद मान कुन्तक ने इसे गौण स्थान ही प्रदान किया है। वामन की रीति से वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। अवयव संघटना विशेष के समान पद संघटना रूप रीति का सम्बन्ध केवल काव्य के अंग के साथ ही है। अलंकृति रूप वक्रोक्ति भी, जो काव्यशरीर के साथ ही अधिक सम्बद्ध है, काव्य की आत्मा मान ली गई है। वर्णवक्रता, प्रकृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता रूप वक्रोक्ति में रीति का सर्वथा अन्तर्भाव हो जाता है।

वक्रोक्ति और औचित्य

औचित्य के प्रति कुन्तक का समादर वक्रोक्तिजीवित के पद-पद पर अंकित है। काव्य के लक्षण से लेकर प्रबन्धवक्रता पर्यन्त औचित्य को वक्रोक्ति तत्त्व का प्राण माना

---

१. यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।
—व० जी० वृत्ति १।२

२. तदलमनेन निःसार वस्तुपरिमलनव्यसनेन। —वही, वृत्ति, १।२४, पृ० १०१

३. अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता॥ —वही, १।६

४. (क) रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता॥ —वही, २।३३

(ख) रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जड़ानां चापि भूयसा॥ —वही, ३।८

गया है। कहीं-कहीं तो औचित्य तथा वक्रोक्ति में अभेद ही मान लिया गया है।[1] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि औचित्य का किंचितमात्र भी अभाव होने से सहृदय के आह्लाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है।[2]

वक्रोक्ति और रस

वक्रोक्ति में रस का स्थान अति महत्वपूर्ण है। कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता को सब वक्रताओं में उत्कृष्ट माना है। उस प्रबन्धवक्रता का भी प्राणतत्त्व रस है, जिसे वे निःसन्दिग्ध रूप में स्वीकार करते हैं। प्रबन्धवक्रता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों पर अवलम्बित ही कवि की वाणी जीवित रहती है, न कि कथामात्र पर आश्रित।[3]

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने जो 'रसवत्' को अलंकार माना है, कुन्तक ने इसका सयुक्तिक खण्डन कर रस को ध्वनिवादियों की भाँति अलंकार्य माना है।[4] कुन्तक रस को 'सर्वालंकार जीवित' तथा काव्य का 'परमतत्त्व' मानते हैं।[5]

रस और औचित्य को काव्य का प्राणतत्त्व मानते हुए भी कुन्तक ने काव्य की आत्मा वक्रोक्ति को ही माना है न कि रस, ध्वनि अथवा औचित्य को। इसका कारण यह है कि वैदग्ध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्ति कुन्तक के मत में काव्य का वह व्यापक तत्त्व है जो और सब तत्त्वों को आत्मसात् कर लेता है। ध्वनि, औचित्य, रसादि वक्रोक्ति के आवश्यक अंग होते हुए भी अनिवार्य नहीं हैं। वक्रोक्ति उनके अभाव में भी विद्यमान रहकर काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करती है। किन्तु वक्रोक्ति विरहित काव्य, काव्य न रहकर साधारण वार्ता समान नीरस वस्तु कथन मात्र हो जाता है।

काव्यात्मा वक्रोक्ति एवं चार्वाकों का प्राणात्मवाद

आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्ति काव्यजीवित' की तुलना चार्वाक दार्शनिकों के प्राणात्मवाद से की जा सकती है। चार्वाक दार्शनिक स्थूल देहात्मवाद तथा सूक्ष्म इन्द्रियात्मवाद से ऊपर उठते हुए सूक्ष्मतर प्राणात्मवाद की कोटि पर पहुँच जाते हैं। प्राणत्मवाद

---

१. पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः। —व० जी० १।५७ की वृत्ति

२. उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्य विरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। —वही

३. निरन्तररसरसोद्गारगर्भसन्दर्भ निर्भरः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।
—व० जी० ४।३-४ का अन्तर श्लोक, पृ० ४६५

४. अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि॥ —वही, ३।११

५. यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ —वही, ३।१४

को मानने वाले चार्वाक दार्शनिकों का कथन है कि प्राणों के बिना यह शरीर अथवा इन्द्रियाँ कोई भी कार्य नहीं कर सकते।[1] शरीर की स्थिति प्राणमय है। प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर और इन्द्रिय-समूह मृत हो जाते हैं तथा प्राणवायु के रहने पर ही शरीर जीवित रहता है। अतः किन्हीं चार्वाकों के अनुसार 'प्राण' ही 'आत्मा' है।[2] प्राणात्मवादी चार्वाक दार्शनिक प्राणों को आत्मा मानते हुए शरीर, इन्द्रियादि को इस पर आश्रित मानते हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति भी अलंकार, रीति, ध्वनि, रस तथा औचित्यादि काव्य तत्त्वों को अपने में समाविष्ट किये हुए है।

चार्वाकों का प्राणात्मवाद शरीर से अत्यधिक सम्बन्धित है। शरीर के अभाव में प्राणतत्त्व का भी अभाव हो जाता है। वैदग्ध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्ति भी मुख्यतः अर्थ-विशिष्ट शब्द से सम्बन्ध रखती है। शब्दार्थ तो काव्य के शरीर ही हैं अतः वक्रोक्ति भी काव्यशरीर से ही सम्बद्ध रह जाती है। वस्तुतः आत्मा तक उसकी पहुँच नहीं है।

चार्वाक दार्शनिक प्राणों को आन्तरिक तत्त्व मानते प्रतीत होते हैं। वक्रोक्ति-जीवितकार ने वक्रोक्ति को काव्य का आन्तरिक तत्त्व भी माना है तथा बाह्य भी। इसके विषय में दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वक्रोक्ति अनिवार्यतः आन्तरिक तत्त्व है अथवा बाह्य। शब्दालंकारों को 'वर्ण-विन्यासवक्रता' के अन्तर्गत और अर्थालंकारों को 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत निरूपित करना कुन्तक की दृष्टि से नितान्त संगत है। वक्रोक्ति के उपभेदों पर दृष्टिपात करने से इस कथन की पुष्टि हो जाती है। उनके द्वारा प्रस्तुत पदपूर्वार्द्धवक्रता के आठ उपभेदों में से रूढ़िवैचित्र्यवक्रता और उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्त्व के सूचक हैं और छह उपभेद बाह्य तत्त्व के। किन्तु फिर भी यदि समग्र रूप से वक्रोक्ति के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टतः ज्ञात होता है कि उसके बाह्य पक्ष का पलड़ा उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्तितत्त्व' की यह बाह्यपरकता भामह आदि के 'अलंकारतत्त्व' और वामन के रीतितत्त्व दोनों की अपेक्षा अनेक रूपों से निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति के तीस उपभेद, इन उपभेदों में प्रायः सभी स्वीकृत काव्यतत्त्वों की समाहिति, अलंकार के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण, रस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण समादर, और ध्वनि तथा इसके भेदोपभेदों की प्रकारान्तर से स्वीकृति, ये सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक हैं कि वक्रोक्ति सिद्धान्त की यह बाह्यपरकता अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त की

---

१. प्राणात्मवादी चार्वाकः कथयति यन्न शरीरं नापि चेन्द्रियाण्यात्मा प्रत्युत तद्भिन्नाः प्राणा एवान्तरात्मा, तैर्विना शरीरस्येन्द्रियाणां वा व्यापाराभावात्; इत्येतदतिरिक्तोऽस्ति कश्चिद्यः साधनभूतै रेभिः शरीरेन्द्रियैः कर्म करोति। अत एवान्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः इति श्रुतिस्तथा 'बुभुक्षितोऽहं' पिपासितोऽहम् इत्याद्यनुभवश्च संगच्छते।

—वेदान्तसार, भावबोधिनी व्याख्या सहित, (चौखम्बा) १९६८, पृ० ५४

२. अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। —तै० उ० २।२।१

बाह्यपरकता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है और कुन्तक द्वारा यही व्यापक एवं विशिष्ट बाह्यरूपात्मिका 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा के रूप में घोषित की गई थी।

वक्रोक्ति का इतना सांगोपांग विवेचन करने के पश्चात् भी यह सिद्धान्त अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका। इसके प्रकाश, विकास और विनाश एक ही शताब्दी में हो गए। कुन्तक के कुछ ही दिनों पश्चात् ध्वनि प्रस्थापक मम्मटाचार्य ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार विशेष मानकर इसकी तुच्छता दिखलाते हुए ध्वनि की पुनः स्थापना की। यह कवि व्यापार रूप कथन प्रकार मुख्यतः अर्थ विशिष्ट शब्द से ही सम्बद्ध रह जाती है, आत्मा तक उसकी पहुँच नहीं हो पाती। चार्वाक दर्शन की पहुँच भी वस्तुतः आत्मा तक नहीं है। वेदान्तियों द्वारा वर्णित आत्मा के उत्कर्ष में शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन तो साधन मात्र हैं। वक्रोक्ति भी आत्मतत्त्व न होकर उस आत्मतत्त्व की सिद्धि में साधन मात्र है। स्वयं कुन्तक ने भी इसे स्वीकार किया है कि[1] निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण महाकवियों की वाणी केवल कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चार्वाकों के प्राणात्मवाद की भाँति वक्रोक्ति भी आत्मा की सिद्धि में साधन है, साध्य नहीं अथवा अंग है अंगी नहीं।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

काव्यात्मवाद के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों ने अलंकार, गुण (रीति), वक्रोक्ति, भोग (रस) एवं व्यंग्य (ध्वनि) को ही स्वीकार किया है।[2] म० म० पी० वी० काणे ने भी अपने 'संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास' में इन पाँच वादों अथवा सम्प्रदायों के सन्दर्भ में 'औचित्य' सिद्धान्त का नाम नहीं लिया है। यद्यपि औचित्य की गाथा का गान सभी ने गाया है तथापि संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'औचित्य' सिद्धान्त की चर्चा काव्यात्मवाद के प्रसंग में उपलब्ध नहीं होती। कारण यह कि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को रस सिद्ध काव्य का स्थिर[3] जीवित कहा है और इस मत को मानने वालों की परम्परा उपलब्ध नहीं होती। सम्प्रदाय कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके कतिपय अनुयायी हों।[4]

औचित्य काव्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य का प्राण अथवा जीवित मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य

---

१. व० जी० ४।४ पर अन्तर श्लोक ११

२. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्, तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेनेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि गुणतोऽलंकारतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण, भोगवत्त्वेनेति द्वैधम्।

—राममूर्ति त्रिपाठी, औचित्य विमर्श, पृ० १३ से उद्धृत सेतुबन्ध टीका

३. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ —औ० वि० च० श्लोक ५

४. औचित्य विमर्श, प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, —पृ० १७-१८

जगत् में भरत के काल से चली आ रही है।[1] तद्पश्चात् औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की गरिमा का अवगाहन करते हुए अनौचित्य को रसभंग का कारण तथा औचित्य को रस का परा-उपनिषत् कहा है।[2] इस प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया कि औचित्य का अपने आप में कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। वह तो काव्य के आत्मतत्त्व रस ध्वनि का सहायक मात्र है। आनन्दवर्धन ने उचित शब्द से रसविषयक औचित्य का प्रतिपादन करते हुए औचित्य संवलित रसध्वनि को काव्य का जीवित माना है।[3] औचित्य पहले किसी पदार्थ को मानकर और वस्तु उसके प्रति उचित है ऐसा बतलाता है। जिसके प्रति अन्यान्य वस्तु उचित है, वह पदार्थ काव्य की आत्मा रसध्वनि ही है। औचित्य का आश्रय रस, भावादि को छोड़कर अन्य दूसरा पदार्थ नहीं हो सकता।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से प्रादुर्भूत हो औचित्य शनैः शनैः परिवर्धित हुआ, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के विचारों से पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित हो गया तथा क्षेमेन्द्र के पूर्ण सहयोग से फलित हो काव्य के प्रत्येक अंग को इसने अपनी विशाल छाया के भीतर समेट लिया। औचित्य की इसी सर्वव्यापकता को दिखलाने के लिए म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने विभिन्न शास्त्रों का अनुगम कर एक रेखाचित्र तैयार किया है[5] जिसमें औचित्य को काव्य का सर्वव्यापी तत्त्व दिखाया है। साथ ही इस वृत्त की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या भी की है।

'औचित्य' काव्यात्मा रस का जीवित है[6] इसकी व्याख्या दर्शनानुरूप भी हो सकती है। विशिष्टाद्वैतवादियों के यहाँ जीवात्मा में अनुप्रविष्ट रहने वाला उसकी अन्तरात्मा

---

१. अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ —ना० शा० २३।६९

२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥
—ध्व० लो० ३।१४-१५ का अन्तर श्लोक

३. उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः।
—ध्व० लो० लो०, पृ० ४५

४. औचित्यवती जीवितमिति चेत्—औचित्यनिबन्धनं रसभावादिमुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्—औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वनिनात्मभूतेनेति ते स्व-वचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः।
—ध्व० लो० ३।२७ पर लोचन, पृ० ५०१

५. Kuppu Swami Shastri—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit pp. 27-31 (Madras 1945)

६. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारः क्रियतेऽधुना॥ —औ० वि० च०, श्लोक ३

अन्तर्यामी परमेश्वर है। रामानुज के अनुसार 'चित्', 'अचित्' और 'ईश्वर' यह ही तीन मूल तत्त्व हैं इनमें 'ईश्वर' तो प्रधान अंगी है और 'चित्' तथा 'अचित्' इसके दो विशेषण या अंग हैं। उनके अनुसार चित् तत्त्व ही जीवात्मा है। वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के बिना स्वयंमेव प्रकाशित होने से अजड़ है। सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुखपूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को आनन्दरूप सिद्ध करता है।[1] हृत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणु है।[2] मुण्डक और श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं।[3]

उनके अनुसार ईश्वर जीव का नियामक है अर्थात् ईश्वर की बुद्धि के अधीन इसका सब व्यापार होता है। 'ईश्वर' ही इसका धारक है और यह ईश्वर का अंगभूत भी है। जीवात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है। इसलिए इसके भोग में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं होता और एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकती है। यही जीव ज्ञाता, भोक्ता और कर्त्ता है। संसारी कार्यों के प्रति आत्मा में स्वाभाविक कर्त्तृत्व नहीं है।[4] जीव में जो स्वातन्त्र्य है वह ईश्वर प्रदत्त है। इन दोनों में सेव्यसेवक भाव है। जीव जो कुछ करता है वह ईश्वर से प्रेरित होकर ही करता है।

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध

देह तथा देही के समान जीव ब्रह्म से भिन्न है "ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव) का अधिपति हैं", "जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी 'अमृत तुम्हारी आत्मा है दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश, एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ'—आदि भेदद्वूलक श्रुतियाँ[5] जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक्, स्वतन्त्र बताती

---

१. चिदित्यात्मोच्यते, आत्मस्वरूपं 'गत्वागत्वोत्तरोत्तरम्' इत्युक्तप्रकारेण देहेन्द्रिमनःप्राण-बुद्धिभ्यो विलक्षणमजडमानन्दरूपं नित्यमव्यक्तमचिन्त्यं निरवयवं निर्विकारं ज्ञानाश्रयं ईश्वरस्य नियाम्यं (?) धार्य्यं शेषम्।......अजड़त्वं नाम ज्ञानेन विना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम्। आनन्दरूपत्वं सुखस्वरूपत्वम्, प्रबुद्धः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रतिसन्धातीति सुखरूपं भवति। —त० त्र० पृ० ४ से ९ तक

२. अणुत्वं कथमिति चेत्? हृदयप्रदेशादुत्क्रमणगमनागमनानां शास्त्रेणोक्तत्वादणुत्वं भवति। —वही, पृ० ११

३. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ —श्वेता० उ० ५।९

४. सांसारिकप्रवृत्तिषु कर्त्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तमपि तु गुणसंसर्गकृतम्। कर्तृत्वं चेश्वराधीनम्। —त० त्र०, पृ० १७

५. (क) 'स कारणं करणाधिपाधिपः' —श्वे० उप० ६।९
(ख) 'यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
—बृ० आ०, उप०, ३।६।३
(ग) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' —श्वे० उप०, १।९

हैं। जीव को अखण्ड ब्रह्म का अंश बताते हुए रामानुज कहते हैं कि चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है।

जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में रामानुज का कहना है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और भीतर से उसका नियमन करता हुआ 'अन्तर्यामी' है। इसी दृष्टि से दोनों में अभेद माना जा सकता है। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर रहता है और गुण का द्रव्य पर उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ईश्वर के ऊपर निर्भर रहता है क्योंकि जीव है अंश और ईश्वर है अंशी, जीव है नियम्य और ईश्वर है नियामक, जीव है आधेय और ईश्वर है आधार। इस प्रकार के सम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि जीव ईश्वर के ऊपर आश्रित तथा निर्भर रहता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर की शरण में गए बिना जीव का विस्तार तथा कल्याण नहीं हो सकता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार अन्तरात्मा अन्तर्यामी ईश्वर जीवात्मा में अनुप्रविष्ट होकर रहता है। यही स्थिति काव्य की जीवात्मा रस तथा रसात्मा औचित्य की भी है। जिस प्रकार विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं, इसका व्यापार ईश्वर की बुद्धि के अधीन होता है उसी प्रकार काव्यात्मा रस का नियन्त्रण भी औचित्य तत्त्व ही करता है। यद्यपि रस को काव्य की आत्मा माना गया है किन्तु वह भी स्वतन्त्र न हो औचित्य द्वारा नियन्त्रित है, इसके लिए औचित्य को परमावश्यक ठहराया गया है। औचित्य काव्य का प्राण नहीं है तथापि उस प्राण में भी प्राण डाल देने वाला उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अवश्य है।

विशिष्टाद्वैत में यह बताया गया है कि ब्रह्म तथा जीव में भेद होते हुए भी दोनों का अटूट सम्बन्ध है। वहाँ जीव और ब्रह्म में अंश और अंशी, आधेय और आधार का सम्बन्ध बताया गया है। यही सम्बन्ध रस और औचित्य में भी सिद्ध किया जा सकता है। 'रस काव्य' की 'आत्मा' है और 'औचित्य' उसका 'जीवित'। जिस प्रकार आत्मा और जीवन का अविच्छेद्य सम्बन्ध है उसी प्रकार रस एवं औचित्य का भी। 'रस' की अपेक्षा ही 'औचित्य' देखा जाता है। इन दोनों की स्थिति सापेक्ष है। औचित्य एक सम्बन्ध अथवा आधार है जिस सम्बन्ध से सभी काव्य के उपकरण रहते हैं।

डॉ० राघवन ने "Some concepts of the Alaṅkār Shāstra" में "History of Aucitya in Sanskrit Poetics" शीर्षक के अन्तर्गत औचित्य की परिभाषा बताते हुए इसे नियन्ता कहा है[1] जो विशिष्टाद्वैत के ईश्वर की ही स्थिति है। औचित्य को सामंजस्य कह[2] उन्होंने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। क्षेमेन्द्र ने

---

१. "The proper placing of things in such a manner as to suit Rasa and the avoiding of things not suitable from the essence of artistic expression, This is propriety, Aucitya."

—Some concepts of Alaṅkāra Śāstra, p. 197

२. "Auchitya is harmony and in one aspect it is proportion between the whole and the parts, between the Chief and subsidiary, between the Aṅgin and the Aṅgas." —वही, पृ० १९८

स्वयं औचित्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस काव्य का जीवित भूत औचित्य खोजने पर भी न मिले, समझना चाहिए कि उसमें प्रयुक्त अलंकार एवं गुण निरर्थक है।[1] विशिष्टाद्वैत के ईश्वर के अनुरूप औचित्य भी साहित्यशास्त्र का अतीव हृद्य एवं अन्तरंग काव्यतत्त्व है, इस बात की पुष्टि आचार्य बलदेव उपाध्याय के कथन से हो जाती है।[2] अतः जिस प्रकार ईश्वर के बिना जीवात्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं उसी प्रकार जीवन रूपी औचित्य के न रहने पर निर्गुण अनभिव्यक्त आत्मा की तरह रस का भी आस्वाद्य अस्तित्व सम्भव नहीं।

यद्यपि विशिष्टाद्वैतियों के दृष्टान्त के अनुरूप औचित्य की सुस्पष्ट व्याख्या सम्भव है तथापि कतिपय विद्वानों को यह इसलिए ग्राह्य नहीं क्योंकि क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य हैं, जो अद्वैतवादी माहेश्वर हैं। किन्तु यह मत इसलिए तर्कसंगत नहीं क्योंकि दृष्टान्त के लिए किसी भी दर्शन की बात ली जा सकती है। प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी ने भी विशिष्टाद्वैतियों के सिद्धान्त को समुचित नहीं माना। उन्हीं के शब्दों में सारा तर्क इस प्रकार है :

"क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य हैं, जो अद्वैतवादी माहेश्वर हैं, अतः विशिष्टाद्वैतियों का दृष्टान्त इस प्रसंग की पीठिका में नहीं रख सकते। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मम्मट ने बौद्ध न होते हुए भी विज्ञानवादी बौद्धों का दृष्टान्त सिद्धान्त रस विवेचन में दिया है—'स्वाकार एव गोचरीकृतः' उसी प्रकार दृष्टान्त के लिए दार्शनिकों की भी बात ली जा सकती है। इस आक्षेप के दो उत्तर हो सकते हैं—पहला यह है कि काश्मीरी शैव दार्शनिकों को बौद्ध विज्ञानवादियों पर आस्था है—अतः अभिनवगुप्त के मत के प्रसंग में उनका दृष्टान्त कोई आपत्तिकर नहीं है। दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि दृष्टान्त के लिए किसी की भी बात ली जा सकती है पर यदि दृष्टान्त और द्राष्टांतिक ही असंगत हों तो क्या होगा। विशिष्टाद्वैतवादियों का सिद्धान्त दृष्टान्त के रूप में तब उपयुक्त होगा जब सचमुच क्षेमेन्द्र ने अभिधेय रूप में औचित्य को काव्यात्मा की आत्मा कहा होता। एक ही स्थल पर उन्होंने औचित्य को 'रस जीवित' कहा है पर अन्यत्र 'रससिद्ध' काव्य का जीवित भी कहा है। इस स्थिति में इसे रस का जीवित कहा जाए या रस के जीवित का जीवित कहा जाए? यदि काव्य का जीवित कहा जाए 'औचित्य' तो इसका अर्थ होगा कि काव्य का सर्वस्व साध्य 'औचित्य' ही है। लेकिन यह स्पष्ट है कि 'औचित्य' ऐसा तत्त्व है जो सापेक्ष है···यह भिन्न वस्तु क्षेमेन्द्र के साहित्य गुरू अभिनवगुप्त के मत से 'रसभाववादी' है। हाँ, रस के लिए औचित्य नितान्त आवश्यक है।···उसकी महत्ता कोसबके समक्ष लाने के लिए आचार्य ने समीक्षक की दृष्टि से उस पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ

---

१. काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥ —औ० वि० च०, ४

२. ······पाश्चात्य साहित्य संसार में 'औचित्य' बहिरंग आलोचना के ही भीतर बताया गया है, पर भारतीय साहित्यशास्त्र का यह अतीव हृद्य एवं अन्तरंग काव्य तत्त्व है। —प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, औचित्य विमर्श, पृ० १५६

लिखा और अर्थवाद के रूप में उसे काव्य की आत्मा और काव्य की आत्मा की आत्मा कहा। वस्तुतः दोनों ही प्रयोग लाक्षणिक हैं। अतः विशिष्टाद्वैतवादियों के सिद्धान्त को दृष्टान्त रूप में रखने की कोई आवश्यकता नहीं।"[1]

जो भी हो इतना तो कहा ही जा सकता है जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत में जीव अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर करता है उसी प्रकार रस का अस्तित्व भी तभी सम्भव है जब उसमें औचित्य हो। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जैसे मधुमास अशोक को अंकुरित करता है, वैसे ही औचित्यपूर्ण होने से रुचिर रस सहृदय हृदय को प्रफुल्लित करता है।[2] अथवा जैसे मधुर, तिक्त आदि रस के उचित अनुपात में कौशल से मिलाने पर ही अपूर्व आस्वाद प्राप्त होता है, वैसे ही शृंगार आदि रसों के समुचित विधान से काव्य आस्वाद्य होता है।[3] इस प्रकार औचित्य काव्य का सर्वप्रधान उत्कर्ष तत्त्व होने के कारण आत्म स्थानीय है।

---

१. औचित्य विमर्श, पृ० १८ से २०

२. कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः॥ —औ० वि० च० १६

३. यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा विदः॥ —वही, १७

चतुर्थ अध्याय

शब्दशक्तिमीमांसा का दार्शनिक आधार

दर्शन में शब्दार्थ विवेचन

शब्दार्थ एवं इनका सम्बन्ध मुख्यतः व्याकरण का विषय है। दर्शन में भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत विवेचन हुआ है। न्याय और मीमांसादर्शन में इस पर विशेष रूप से विस्तृत विचार हुआ है। दार्शनिकों ने शब्द-प्रमाण का विशद निरूपण करते हुए शब्द की परिभाषा,[1] शब्दभेद एवं शब्दार्थ सम्बन्ध आदि प्रश्नों पर स्वमत प्रकट किया है। वहाँ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभिप्राय शब्द से अर्थ-प्रत्यायन की प्रक्रिया से है।इस विषय में न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार श्री विश्वनाथ पंचानन ने प्रकाश डालते हुए कहा है कि शाब्दबोध रूपी फल के प्रति पदज्ञानकरण अर्थात् असाधारण कारण होता है, पदार्थज्ञान द्वार अर्थात् अवान्तरव्यापार तथा शक्तिज्ञान सहकारी कारण है।[2]

शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में भी दार्शनिक एकतम नहीं हैं। मीमांसक शब्द एवं अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानते हैं। उनका तर्क है कि यदि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है, तो 'समय' जो प्रत्येक शब्द का प्रत्येक अर्थ से है—प्रत्येक व्यक्ति को गृहीत होना चाहिए।[3] वैशेषिक[4] एवं नव्यनैयायिक[5] शब्दार्थ सम्बन्ध की एकरूपता में आस्था नहीं रखते। नैयायिकों के अनुसार शब्द अनित्य है।[6] गौतम का शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में कथन है कि शब्द का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि पूरण, दाह तथा पाटन की उपपत्ति नहीं होती।[7]

---

१. आप्तोपदेशः शब्दः। —न्या० सू० १।१।७

२. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० १।८१

३. क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित्। —श्लोकवार्तिक, कारिका १३

४. सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः। —वै० सू० ७।२।२०

५. नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिक—संकेतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः। —कारिकावली, पृ० ११५

६. अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवत्। —तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ६१

७. पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः। —न्या० सू० २।१। ५३

शब्द के समान अर्थ की परिभाषा, भेद-प्रभेद, आदि का निरूपण भी दर्शन में हुआ है। 'तत्त्वचिन्तामणि' में अर्थ की परिभाषा 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की गई है अर्थात् शब्द जिस परक होता है उस भाव को अर्थ कहते हैं।

साहित्यशास्त्र में शब्दार्थ विवेचन

शब्द और अर्थ साक्षात् रूप से काव्यशास्त्र की विवेचना के विषय न होते हुए भी काव्य के लिए कम महत्त्व के नहीं हैं। शब्दार्थ की ठीक-ठीक जानकारी होने पर ही उनका रसानुरूप समुचित संयोजन सम्भव है। साथ ही शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।[१] अतः शब्द की परिभाषा तथा शब्दार्थ सम्बन्ध एवं इनके विभिन्न भेदों की विवेचना साहित्य-शास्त्रियों के लिए अत्यावश्यक है।

प्रायः सभी आलंकारिकों ने शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध एवं शब्द की अर्थ प्रत्यायिका शक्ति आदि का न्यूनाधिक रूप से निरूपण किया है। उदाहरण के लिए काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भामह को लिया जा सकता है।[२] ध्वनिकार ने भी कहा है कि प्रतीयमान अर्थ एवं उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्द की पहचान प्रत्येक महाकवि को यत्नपूर्वक करनी चाहिए।[३] इस प्रकार शब्द भी काव्यशास्त्र की विवेचना का विषय हो जाता है। आचार्य महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक'[४] में साङ्गोपाङ्ग रूप से शब्द का विवेचन किया है।

शब्दार्थ संवंध के विषय में मीमांसा[५] आदि दर्शन ग्रन्थों के मतों का उल्लेख काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।[६] संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शब्दार्थ

---

१. शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। —ध्व० लो० वृत्ति १।१, पृ० ५

२. (क) प्रतीतिरर्थेषु यतस्तं शब्दं ब्रुवते परे।
धूमभासोरपि शब्दताऽन्यानुमां प्रति॥ —का० अ० ६।७

(ख) अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवादविधिज्ञाने फले चैकस्य वः कथम्॥ —वही, ६।१८

३. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ —ध्व० लो० १।८

४. साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ३८

५. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानम्……।
—जै० सू० १।१।५ पर भाष्य, पृ० ४१

६. स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्त्व-विदा पौरुषेयापौरुषेयोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः। तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेय—पौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्। —ध्वन्यालोक, ३।३३ की वृत्ति

सम्बन्ध के विषय में दार्शनिक एवं साहित्यिक दृष्टियों से गम्भीर विचार होते रहे हैं किन्तु इसका जितना विस्तृत विवेचन दर्शनशास्त्र में हुआ है, काव्यशास्त्र में नहीं। मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी के ग्रन्थ दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

दर्शनशास्त्र में अर्थ के अनेकानेक भेद किये गए हैं। साहित्यशास्त्र में भी अर्थ के स्वरूप और भेद का विवेचन हुआ है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने काव्यात्मा रूप में व्यवस्थित सहृदयश्लाध्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किए हैं।[1]

शब्दशक्तिविवेचन पूर्वमीमांसा के शाबरभाष्य एवं कुमारिल के तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। कालान्तर में न्यायशास्त्र तथा व्याकरण में इसके सम्बन्ध में विशेष ऊहापोह हुआ है। साहित्यशास्त्र का शब्दशक्तिविवेचन प्रायः इन्हीं तीन स्रोतों से अपनी सामग्री ग्रहण करता है।

शब्दशक्तियों की संख्या के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। मीमांसक और नैयायिक शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्तियों को ही मुख्य रूप से मानते हैं किन्तु भाट्टमीमांसकों एवं कतिपय नैयायिकों ने तात्पर्यशक्ति पर भी किंचित् विचार प्रकट किए हैं। मीमांसा और न्याय को व्यंजना स्वीकार नहीं है, प्रत्युत काव्यशास्त्र व्यंजना वृत्ति मानता है। अतः व्यंजना की सिद्धि के लिए उसने अपने स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन लिया।

दर्शनशास्त्र में 'शक्ति' के लिए वृत्ति शब्द ही मुख्यतः प्रयुक्त हुआ है। वृत्तिदीपिका में शब्दार्थ के उस सम्बन्ध को वृत्ति कहा गया है जो शाब्दबोध के हेतुभूत शब्दार्थ की उपस्थिति के अनुकूल हो।[2] शक्तिवाद में गदाधरभट्ट ने भी इस विषय का विवेचन किया है।[3] न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारिका में वृत्ति को शक्ति लक्षणान्यतर सम्बन्ध के रूप में लक्षित किया गया है तथा पद से पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहा है।[4] दर्शन में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग मुख्यतः 'अभिधा' के लिए ही हुआ है।

काव्यशास्त्र में 'शक्ति' और 'वृत्ति' दोनों ही प्रयोग उपलब्ध होते हैं। प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने 'शक्ति' शब्द का प्रयोग शब्द की तीनों शक्तियों के लिए किया है।[5] 'शक्ति' के अतिरिक्त 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग भी काव्यशास्त्र में उपलब्ध होता है।[6] दर्शन की भाँति 'अभिधा' के लिए 'शक्ति' शब्द का प्रयोग भी काव्यशास्त्र में हुआहै।[7] साहित्य-

---

१. ध्व० लो० १।२
२. शब्दबोधहेतुशब्दार्थोपस्थित्यनुकूलशब्दतदर्थसम्बन्धो वृत्तिः।
—श्री कृष्णभट्ट, वृत्तिदीपिका
३. 'इदं पदमिमर्थं बोधयतु' इति, 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बौद्धव्य' इति वेच्छा; संकेतरूपा वृत्तिः। —शक्तिवाद, पृ० ५
४. शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। —कारिकावली, वृत्ति ४।८१, पृ० ११५
५. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः। —सा० द०, २।३
६. वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः। —त्रिवेणिका, पृ० १
७. शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनानिर्झराः। —वही

दर्पण में वृत्ति के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है ।[1]

चूँकि शब्दशक्तिविवेचन दर्शन से ही काव्यशास्त्र में आया अतः यहाँ इसका आवश्यकतानुसार संक्षिप्त निरूपण ही किया जाएगा ।

अभिधाशक्ति का दार्शनिक आधार

शब्दशक्तियों में 'अभिधा' की वही स्थिति है जो प्रमाणों में प्रत्यक्ष की है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने तो शब्द की एक ही शक्ति मानी है और उसका नाम 'अभिधा' दिया है ।[2] अभिधावृत्तिमातृका तथा शब्दव्यापारविचार में भी अभिधा पर मुख्य रूप से विचार हुआ है। अभिधावृत्तिमातृका में बताया गया है कि जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी अर्थों में पहले इसी मुख्यार्थ का बोध होता है ।[3] संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की सबसे पहली शक्ति का नाम अभिधा है ।[4] काव्यप्रकाश में कहा है कि जिस शक्ति के द्वारा शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ की प्रतीति हो, वह शक्ति अभिधा है और उससे युक्त शब्द वाचक ।[5] काव्यालंकार[6], एकावली[7], साहित्यदर्पण[8], काव्यानुशासन[9], रसगंगाधर[10] आदि

---

१. साहित्यदर्पणे तु वृत्तिशब्दस्थाने शक्तिशब्दो दृश्यते । —त्रिवेणिका, पृ० १

२. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीस्त्युपपादितम् ।। —व्य० वि०, १।२७

३. स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुखशब्देनाभिधीयते । —अभि० वृ० मा० पृ० १

४. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा । —सा० द० २।३

५. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते । —का० प्र०, द्वि उ० सूत्र ९

६. अर्थः पुनरभिधावान्प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः ।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरेव भेदाः ।। —का० अ० (रुद्रट) ७।१

७. यः संकेतितमर्थं साक्षाद् ब्रूते स वाचकः शब्दः । —एकावली २।१

८. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा ।
......शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम ।। —सा० द०, वृत्ति २।३

९. साक्षात्संकेतविषयो मुख्यः । —काव्यानुशासन, पृ० २७

१०. सा च पदार्थान्तरमिति केचित् । 'अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य' इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा । तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात् । अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यम्, इत्यपरे । एवमपीश्वरज्ञानादिनां विनिगमनाविरहः स्यात् ।'
—केचिदिति वैयाकरणमीमांसकादयः । अपर इति नैयायिकाः ।
—र० ग० ध० (चन्द्रिका), द्वि० आ०, पृ० १२३

सभी प्रमुख साहित्यग्रन्थों में 'अभिधा' की इससे मिलती-जुलती परिभाषा ही उपलब्ध होती है। आशाधर भट्ट ने 'त्रिवेणिका' में अभिधावृत्ति की परिभाषा देते हुए इसका कारण संकेतग्रह माना है।[१] दर्शनग्रन्थों में मीमांसा तथा न्याय में अभिधा के विषय में विस्तृत विवेचन हुआ है। वहाँ इसे अभिधा न कह 'शक्ति' नाम से अभिहित किया गया है तथा वाच्य-वाचक भाव की नियामक एक मान्यता को ही 'समय' या 'संकेत' कहा है।[२]

अभिधा के प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय यह ज्ञात करना है कि संकेतग्रह किस में होता है। शब्द सर्वप्रथम सामान्य अर्थ की प्रतीति कराता है या विशिष्ट अर्थ की। भारतीय दार्शनिकों में इस प्रश्न को लेकर कई मतसरणियाँ प्रचलित हैं। मीमांसक संकेतग्रह जाति में मानते हैं तो नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में। बौद्धों के मतानुसार संकेत 'अपोह' में होता है। वैयाकरण तथा नव्यनैयायिक शब्द का संकेत उपाधि में मानते हैं।

संकेत के विषय में काव्यशास्त्र में पाँच मतों का उल्लेख हुआ है—

१. व्यक्तिवादियों का मत
२. जातिवादियों का मत
३. जाति विशिष्ट व्यक्तिवादियों का मत
४. अपोहवादियों का मत
५. वैयाकरणों का मत

१. व्यक्तिवादियों का मत

नव्यनैयायिकों के मतानुसार संकेतग्रह व्यक्ति में ही होता है क्योंकि प्रवृति और निवृति के योग्य व्यक्ति ही है। आचार्य मम्मट[३] एवं विश्वनाथ[४] ने नैयायिकों के इस मत पर विचार करते हुए व्यक्ति में संकेतग्रह मानने का विरोध किया है। उनका कहना है कि आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता। यदि किसी प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मान भी लिया जाए तो पद के विभिन्न अर्थों का भेद प्रकट नहीं हो सकेगा क्योंकि तब एक 'गौः' रूप व्यक्ति ही 'गौः', 'शुक्लः', 'चलः' और 'डित्थः' शब्दों का अर्थ होगा। तब तो ये चारों शब्द पर्याय हो जाएँगे और इनका साथ-साथ प्रयोग न हुआ करेगा। मीमांसकों के मतानुसार भी 'पदों' से जाति का ही संकेत होता है, व्यक्ति का नहीं।[५]

---

१. वृत्तित्रयमध्ये संकेतग्रहकारणा शक्तिः। —त्रिवेणिका, पृ० ४

२. कः पुनरयं समयः ? अभिधानाभिधेयनियमनियोगः। —न्यायवार्त्तिक २. १. ५६

३. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यान्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्त्तुं न युज्यत इति, 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादिनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव सङ्केतः। —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४४

४. एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ। आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्। —सा० द०, वृत्ति, २।४

५. मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिराकृतिर्वा। —शक्तिवाद, पृ० १७३

२. जातिवादियों का मत

मीमांसकों के मतानुसार जाति ही पदार्थ है। उनके मतानुसार प्रत्येक शब्द जाति या सामान्य का ही वाचक है। 'गामानय' में 'गाम्' का अर्थ 'गोत्व' ही होता है। किन्तु जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है तथा व्यक्ति का आनयनादि होता है। काव्यप्रकाशकार ने मीमांसकों के मत का जातिरेव[1] कह विशेष रूप से उल्लेख किया है किन्तु अन्त में संकेतग्रह व्यक्ति की उपाधि में ही माना है। हेमचन्द्र,[2] तथा विश्वनाथ[3] ने मम्मट के ही मार्ग का आश्रय लिया है। मीमांसकों में मण्डनमिश्र शब्दसंकेत जाति में मानकर, फिर (उपादान) लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण करते हैं।[4]

नैयायिकों ने मण्डनमिश्र के इस मत का खण्डन किया है। अभिधा शक्ति सदा विशेषण (जाति) का ही बोध कराती है क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म का व्यापार केवल एक क्षण तक रहता है। अतः एक क्षण तक जाति का बोध कराने पर वह विशेष्य (व्यक्ति) का बोध नहीं करा पाती। इसलिए व्यक्तिबोध के लिए कोई दूसरी शक्ति माननी होगी। मम्मट के काव्य-प्रकाश में इस बात का उल्लेख हुआ है।[5] किन्तु मम्मट ने खण्डन करते हुए कहा है कि इस व्यक्त्यंश वाले अंश में लक्षणा जैसी दूसरी शक्ति का व्यापार मानना उचित नहीं।

प्रभाकर के मत में शक्तिज्ञान जाति का ही होता है किन्तु व्यक्तिवाद शाब्दबोध के विषय में वे अन्य मीमांसकों की भाँति आक्षेप, उपादान या लक्षणा नहीं मानते। उनके मतानुसार जाति से व्यक्ति का स्मरण हो जाने पर अर्थ प्रतीति हो जाती है। प्रभाकर का

---

१. सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा॥ —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४३

२. जातिरेव सङ्केतविषय इत्येके। —काव्यानुशासन, पृ० २६
तथाहि—गुणशब्दानां तावच्छुक्लादीनां पयः शङ्खबलाका······जातिरेवैकः शब्दार्थ इति। —वही, विवेक, पृ० २८

३. जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका।······व्यक्तेरूपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ। आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्। —सा० द०, वृत्ति २.४

४. गौर्जायते गौर्नश्यति इत्यादौ सर्वत्र गोत्वादिजातिशक्तेनैव गवादिपदेन लक्षणया गोत्वादिविशिष्टा व्यक्तिर्बोध्यते, व्यक्तीनां बहुत्वेनान्यलभ्यत्वेन च तत्र शक्तेर-कल्पनात् तात्पर्यनुपपत्तेरपि लक्षणायां बीजत्वात्।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० ८७

५. गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे'
इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढ़िरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता। कुर्वित्यत्र कर्म। 'प्रविश', 'पिण्डी' इत्यादौ 'गृहं' भक्षयेत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ५५ से ५७ तक

कहना है, जब कोई व्यक्ति 'गाय जाती है' कहता है तो श्रोता को कोरी निर्विकल्पक जाति का बोध नहीं होता।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने[2] मीमांसकों के मत का उल्लेख करते हुए बताया है कि अभिधा 'संकेत' अर्थात् ईश्वरीय इच्छारूप नहीं है, अपितु उससे भिन्न बोध्यबोधकभाव रूप, बोधकता रूप, बोध्यता रूप अथवा (शब्दार्थ के) तादात्म्य रूप ही है।

मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ जाति या सामान्य का ही वाचक है। उनके अनुसार गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसधान किया जा सकता है। मीमांसक इससे सहमत नहीं कि शुक्लादि गुण सभी वस्तुओं में एक ही होते हैं। उनका विचार है कि हिम, पय एवं शंख में रहने वाले शुक्लादि गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। उन्हें एक स्वीकार कर उसमें संकेतग्रह नहीं हो सकता। विभिन्न शुक्ल में विद्यमान गुणों—शुक्लत्व को जाति ही मानना चाहिए। उसी शुक्लत्व जाति में ही संकेतग्रह सम्भव है। इसी प्रकार गुड़ और चावलादि पदार्थों की पाकक्रिया में अन्तर होता है किन्तु उनमें पाकत्व जाति तो सामान्य है। ऐसे ही विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित अथवा बालक, वृद्ध और तोते के द्वारा कहे गये 'डित्थ' आदि शब्द में 'डित्थत्व' सामान्य होता है। इस प्रकार मीमांसक सभी पदार्थों का प्रवृत्तिनिमित्त 'जाति' में ही मानते हैं। आचार्य मम्मट ने इसका सुस्पष्ट विवेचन किया है।[3]

३. जातिविशिष्टव्यक्तिवादियों का मत

प्राचीन नैयायिकों के मत में संकेतग्रह न केवल जाति में और न केवल व्यक्ति में होता है, अपितु 'जातिविशिष्टव्यक्ति' में होता है। क्योंकि यदि व्यक्ति में शक्ति या संकेत माना जाये तो आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जाते हैं, और जाति में शक्ति मानी जाये तो व्यक्ति की प्रतीति नहीं हो सकती। न्यायसूत्र में इसी मत का उल्लेख करते हुए महर्षि गौतम ने कहा है कि किसी पद का अर्थ वस्तुतः किसी वस्तु की व्यक्ति, आकृति तथा जाति सभी में है।[4] नैयायिकों के मत में 'व्यक्ति' तथा 'आकृति' में कोई

---

१. प्राभाकरास्तु—जातिशक्तिज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्तेः स्मरणशाब्दबोधश्च; न तु निर्विकल्पकरूपं जातिस्मरणं, निर्विकल्पकानभ्युपगमाद्। —शक्तिवाद, पृ० १६०

२. सा च पदार्थान्तरमिति केचित्। अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात्। —रसगंगाधर (चन्द्रिका) द्वि० आनन, पृ० १२३

३. हिमपयः...शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये। —का० प्र०, अध्याय २, पृ० ४८

४. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। —न्यायसूत्र २।२।६५

विशेष भेद नहीं है।

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में कहा है कि पद का प्रयोग जाति से मुक्त (अविच्छिन्न) संकेत वाले व्यक्ति के लिए होता है और यह संकेत वाली संज्ञा नैमित्तिकी कहलाती है। यदि केवल जाति में ही संकेत माना जाए तो व्यक्ति का भान करना कठिन हो जाएगा।[१] क्योंकि शब्द, बुद्धि तथा कर्म का व्यापार केवल एक क्षण तक रहता है। अतः शक्तिग्रहण जातिविशिष्टव्यक्ति में ही मानना ठीक है। इसका विस्तृत विवेचन शब्दशक्तिप्रकाशिका में उपलब्ध होता है।[२]

मीमांसकों के जातिशक्तिवाद का सबसे अधिक खण्डन नैयायिकों ने ही किया है। आक्षेप से व्यक्ति ग्रहण करने वाले मीमांसकों के मत का पूर्णरूपेण इन्होंने खण्डन किया है।[3] काव्यप्रकाशकार ने नैयायिकों तथा बौद्धों के मत का संकेत मात्र ही किया है तथा इनके मतों को प्रस्तुत विषय के लिए अनुपयोगी समझ कर इनका विवेचन नहीं किया।[४] पण्डितराज ने रसगंगाधर[५] में नैयायिकों के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है। नैयायिकों का कथन है कि 'अभिधा' कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं अपितु ईश्वरीय इच्छा स्वरूप ही है। पुरातन नैयायिकों की भी यह धारणा है कि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध ईश्वरेच्छा ही है।[६]

---

१. जात्यवच्छिन्नसंकेतवती नैमित्तकी मता।
जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम्।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका १६, पृ० ७६

२. यन्नाम जात्यवच्छिन्नसंकेतवत् सा नैमित्तिकी संज्ञा, यथा गौचैत्रादिः। सा हि गोत्व-चैत्रत्वादिजात्यवच्छिन्नमेव गवाविकमभिधत्ते न तु गोत्वादिजातिमात्रम्, गोपदं गोत्वे संकेतितमित्याकारकग्रहाद् गामानयेत्यादौ गोत्वादिना गवादेरन्वयानुभवानुपपत्तेः, एकशक्तत्वग्रहस्यानुभावकत्वेऽतिप्रसंगात्। —वही, पृ० ८०

३. तन्मन्दम्, विनाप्याक्षेपं गामानयेत्यादितो गवादिकर्मताकत्वेनानयनादेरन्वय-बोधस्याऽनुभविकत्वात्, गौर्गच्छतीत्यादौ शुद्धेगोत्वे गतिमत्त्वाद्यन्वयस्यानुभवेना-स्पर्शात्, गोत्वत्वाद्यनुपस्थित्या च गोत्वं गच्छतीत्याद्यनुभवस्यासम्भवात्। स्वाश्रय-वृत्तित्वसम्बन्धेन गतिमत्त्वादिहेतुना गवादौ साक्षात्सम्बन्धेन गतिमत्त्वाद्याक्षेपस्य व्यभिचारिदोषेण दुःशक्यत्वाच्च। —शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० ८५

४. तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्। —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४६

५. एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव न्याय,' इत्यपि वदन्ति। —रसगंगाधर (चन्द्रिका) द्वि० आ०, पृ० १२३

६. स (शक्तिश्च) चास्माच्छब्दादयमर्थो बौद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः।
—कारिकावली, पृ० ११५

४. अपोहवादियों का मत

बौद्ध जाति में संकेतग्रह न मान अपोह में मानते हैं। इनके मतानुसार शब्द का संकेत 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' में माना जा सकता है। ये जाति में संकेतग्रह इसलिए नहीं मानते क्योंकि बौद्ध 'सामान्य' या 'जाति' जैसी वस्तु में विश्वास नहीं करते क्योंकि जाति मानने पर एक स्थिर पदार्थ की सत्ता माननी पड़ती है जो उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध है। व्यक्ति भी क्षण भंगुर अर्थात् परिवर्तनशील है अतः उसमें भी शब्द-बोध नहीं माना जा सकता। गोविन्द ठक्कुर तथा झलकीकर वामन ने अपोहवादियों के मत का उल्लेख किया है।[1] मम्मट ने बौद्धों के मत का केवल नामतः उल्लेख किया है।[2] इससे अधिक उनके विषय में लिखना प्रसंगातिरिक्त प्रतीत होता है।

५. वैयाकरणों का मत

संकेतग्रह के विषय में साहित्यिक वैयाकरणों के अनुयायी

संकेत की अवस्थिति के विषय में दार्शनिकों, वैयाकरणों तथा साहित्यिकों ने प्रभूत गहन विवेचन कर अपना-अपना मत प्रतिष्ठापित किया है। संकेतग्रह निर्धारण में आलंकारिकों ने वैयाकरणों की पर्याप्त सहायता ली है। वैयाकरणों का मत उपाधि में संकेतग्रह मानने का है। यही मत नव्य आलंकारिकों को भी अभिमत है।

व्याकरणग्रन्थों में चार प्रकार के शब्दों का व्यवहार लक्षित होता है।[3] इसी की टीका करते हुए नागेश ने उद्योत में कहा है कि अर्थ में जो प्रवृत्ति है वह निमित्त भेद से चार प्रकार की होती है।[4] अतः प्रवृत्ति के आधार पर शब्द चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। इन चार प्रकार के शब्दों से होने वाली अर्थ की

---

१. सौगतास्तु व्यक्तावानन्त्यादिदोषात् भावस्य च देशकालानुगमाभावात् तदनुगताया-मतदव्यावृत्तौ संकेतः इति। —गोविन्दठक्कुर, प्रदीप, द्वि० उ०, पृ० २५
जातेस्दृष्टत्वेन विचारासहत्वात् व्यक्तेश्च क्षणिकत्वादुभयत्रापि संकेतस्य कर्तुमशक्यत्वात् गवादिशब्दानामगवादिव्यावृत्तिरूपो अपोहोऽर्थः इति वैनाशिकसतमित्यन्यत्रापि व्याख्यातम्। —झलकीकर, बालबोधिनी, पृ० ३८

२. (क) 'अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति' —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४६
(ख) गोशब्दश्रवणात्सर्वासां गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्मात् अश्वादितो व्यावृत्ति-दर्शनाच्च अतद्व्यावृत्तिरूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम्।
—बालबोधिनी, पृ० ३८

३. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्च-तुर्थाः। —महाभाष्य, १।१।२

४. शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् प्रकारचतुष्ट्यं भवतीत्यर्थः।
—वही

प्रतीति भी निमित्त भेद से चार प्रकार की होती है। भर्तृहरि[1] इसी बात पर प्रकाश डालते हैं। पुण्यराज ने भी स्पष्टतः कहा है कि शब्द का कोई एक नियत अर्थ नहीं।[2] अतः व्यक्ति सापेक्ष होने से सभी व्यक्ति अपने संस्कारानुरूप एक ही शब्द का भिन्न अर्थ समझते हैं। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में की है। जिस प्रकार अर्थ-संग्राहक की दृष्टि से अर्थनिश्चय के सम्बन्ध में व्यक्ति-सापेक्षता है वैसे ही अर्थ-प्रयोक्ता की दृष्टि से भी व्यक्ति-सापेक्षता पर प्रकाश डालते हुए अर्थ में सर्वशक्तिमत्ता स्वीकार की है।[3] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वास्तविक अर्थबोध के लिए लोक की भाँति व्यक्ति को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

वैयाकरणों के इन्हीं संकेतग्रह विषयक मतों के आधार पर ही आचार्य भामह[4] तथा मम्मट ने संकेतित अर्थ को चार प्रकार का माना है।[5] आलंकारिकों ने इस बात को निस्संकोच स्वीकार किया है कि उनका शब्द के चार भेद मानने का आधार पतंजलि का महाभाष्य है।[6] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भी संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है।[7]

उपाधिवादी वैयाकरणों ने व्यक्ति में संकेतग्रह मानने वालों का खण्डन करते हुए कहा है कि यद्यपि अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है फिर भी आनन्त्य तथा व्यभिचार (दोष) आ जाने के कारण उसमें संकेतग्रह मानना उचित नहीं इसलिए, और 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' आदि का विषय विभाग नहीं हो सकता, इसलिए भी उपाधि में ही संकेत का ग्रहण होता है।[8]

उपाधि के भी दो भेद माने गए हैं (१) वस्तु का धर्म (२) वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से (उस अर्थ में) सन्निवेशित धर्म। वस्तु का धर्म भी दो प्रकार का होता है, एक सिद्ध

---

१. यथेन्द्रियं सन्निपतद्वैचित्र्येणोपदर्शकम्।
तथैव शब्दादर्थस्य प्रतिपत्तिरनेकधा ॥ —वाक्य० २।१३४

२. नास्ति कश्चिन्नियत एकः शब्दस्यार्थः। —वही, २।१३४ पर टीका

३. एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण चैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ॥ —वाक्य० २।१३६

४. द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधाः।
यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्थादि प्रतिजानते ॥ —का० अ० ६।२१

५. संकेतितश्चतुर्भेदो……। —का० प्र० सूत्र १०

६. संकेतितः संकेतग्रहविषयोऽर्थः चतुर्भेदश्चतुर्विधो भवति।……आदिना गुणक्रिया-यदृच्छानां ग्रहणम्। महाभाष्यकारमतमिदम्।
—वही, बालबोधिनी टीकाः पृ० ३२

७. संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च। —सा० द० २।४

८. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्त्तुं न युज्यते इति, 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः। —का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

रूप और दूसरा साध्य रूप। सिद्ध भी दो प्रकार का होता है, एक पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषता का आधान कराने का कारण। इनमें से पहला जाति होता है जैसाकि वाक्यपदीय में कहा है कि—'गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अ-गौ। गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है।'[1] काव्यशास्त्रियों ने पाणिनि के सूत्रों के आधार पर 'अ-गौः' का स्पष्टीकरण भी किया है।[2] रसगंगाधर[3] में भी वाक्यपदीय की इन्हीं पंक्तियों का स्पष्टीकरण किया गया है।

वस्तु का दूसरा विशेषाधान-हेतु सिद्ध वस्तु धर्म 'गुण' होता है। क्योंकि शुक्ल आदि के कारण सत्ता प्राप्त वस्तु भिन्नता को प्राप्त होती है।[4] महाभाष्य[5] में 'गुण' शब्द का विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है।

क्रिया शब्द[6] का भी व्याकरण ग्रंथों की सहायता से विस्तृत निरूपण आलंकारिक

---

१. उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः, सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये—'न हि गौः स्वरूपेण गौ—र्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति। —का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

२. अगौरित्यत्र 'गोरतद्धितलुकि' (४।५।९२)
इति पाणिनिसूत्रविहितः टच् प्रत्ययस्तु न। 'नमस्तत्पुरुषात्' (५।४।७१) इति सूत्रेण तन्निषेधात्। —बालबोधिनी, पृ० ३४

३. गौः सास्नादिमान् धर्मी स्वरूपेण अज्ञातगोत्वकेन धर्मिस्वरूपमात्रेण न गौः न गोव्यवहारनिर्वाहकः। नाप्यगौः नापि गोभिन्न इति व्यवहारस्य निर्वाहकः। तथा सति दूरादनभिव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाग्रहदशायां गवि गौरिति गौभिन्न इतिवा-व्यवहारः स्यात्। स्वरूपस्याविशेषाद् घटे गौरिति गवि चागौरिति वा व्यवहारः स्यादिति भावः। गोत्वाभिसम्बन्धात् गोत्ववत्तया ज्ञानात् गौर्गोशब्दव्यवहार्यः। इति। —र० ग० ध० (निर्णय सागर), पृ० १४४

४. द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।
—का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

५. तथापि शुक्लादिगुणस्य सम्बन्धः कदाचित् अपैत्यपि न तु गौत्वादेरिति जातिगुणयोर्भेदः इत्याहुः। अत एव 'वोतो गुणवचनात्' (४।१।४४) इति सूत्रे महाभाष्ये गुणलक्षणमुक्तम् 'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते। आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥' इति अत्रेदमवगन्तव्यम् 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति वक्ष्यमाणमहाभाष्योक्तेर्जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तं धर्ममात्रं गुण इति पर्यवस्यति।—एवमेवोक्तम् 'वोतो गुणवचनात्' इति सूत्रे तत्त्वबोधिन्यामपि 'संज्ञाजातिक्रियाशब्दान् हित्वान्ये गुणवाचिनः। —बालबोधिनी, पृ० ३४-३५

६. साध्यः पूर्वापरीभूतावयः क्रियारूपः। —का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

ग्रन्थों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।[1]

डित्थ आदि (किसी व्यक्ति विशेष के वाचकरूढ़ि) शब्दों का अन्त्य बुद्धि से गृहीत होने वाला क्रमभेद से रहित (पद स्फोट रूप) स्वरूप वक्ता की स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थों में (उसके वाचक) उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है।[2]

आचार्य मम्मट के विचार वैयाकरणों की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु अन्य विद्वान वैयाकरणों के मत का विश्लेषण करने में एक मत नहीं।[3] पण्डितराज इनमें से कुछ मतों का निरूपण करते हैं।[4]

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने संकेतग्रह व्यक्ति में न मान व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में मानते हुए इस चतुर्विध विभाग की सम्पुष्टि में महाभाष्यकार पतंजलि मुनि की सम्मति प्रमाण रूप से उपस्थित की है।[5] महाभाष्यकार का मत अभिप्रेत होने से ही उन्होंने 'जातिरेव' वाले मीमांसकों के मत का खण्डन किया है।[6]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि संकेतग्रह निर्धारण में आलंकारिक वैयाकरणों से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। अतः व्यक्ति की उपाधि में संकेतग्रह के मत को उन्होंने निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. धातुवाच्य इति यावत्। तथा च पचादीनां धातूनां क्रियानां शक्तिः। यदुक्तं वाक्यपदीये भर्तृहरिणा "यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥ इति॥......उक्तं च क्रियाया द्वैविध्यं वैयाकरणभूषणे 'साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना...। तथा च क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकताच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा साध्यत्वम्। यथा पचति पक्ष्यति अपाक्षीदित्यादौ। एतदेव चासत्त्वभूतत्वम्। अत एव 'असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते' इति भर्तृहरिणाप्युक्तम्। —बालबोधिनी, पृ० ३५

२. डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति।
—का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

३. LIterary Criticism in Ancient India pp. 114-5

४. यादृच्छिकस्तु वक्रा स्वेच्छया डित्थादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवेशितो धर्मः। स च 'परम्परया व्यक्तिगतश्चरमवर्णाभिव्यङ्ग्योऽखण्डः स्फोटः' इत्येके। 'आनुपूर्व्यवच्छिन्नो वर्णसमुदायः' इत्यपरे। 'केवला व्यक्तिरेव' इतीतरे। तत्राद्यमतद्वये विशेषणज्ञानाद्विशिष्टप्रत्ययः। तृतीयमते च निर्विकल्पकात्मकः प्रत्ययः। तदित्थं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शनं व्यवस्थितम्। —र० ग० ध०, पृ० १४५

५. 'गौः शुक्लश्चलो डित्थ' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः।
—का० प्र०, सूत्र १० की वृत्ति

६. महाभाष्यकारोक्तपक्ष एव ग्रन्थकृदभिप्रेतः। —बालबोधिनी, पृ० ३६

लक्षणा शक्ति

काव्य में 'लक्षणा' की सत्ता सभी काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं की। महिमभट्ट प्रभृति आचार्यों ने तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानी है।[१] मुकुलभट्ट,[२] कुन्तक[३] तथा रत्नेश्वर[४] ने इसका अन्तर्भाव अभिधा में कर दिया हैं। दर्शनग्रन्थों में भी जिनमें लक्षणा का सर्वथा अभाव माना गया है प्रकरणपंचिका (९वीं शती) को लिया जा सकता है।[५] इसमें मलेच्छों के मत के रूप में लक्षणा की अमान्यता कही गई है। शब्दशक्ति-प्रकाशिका की टीका (१७३२ ई०) में चर्चित मत विशेष को भी इसी कोटि में लिया जा सकता है।[६]

वैसे तो लक्षणा का नामतः उल्लेख न्याय[७] तथा वैशेषिक[८] सूत्रों में उपलब्ध हो जाता है परन्तु इस शक्ति पर प्रारम्भ में ही पुष्कल विचार मीमांसकों के ही कार्यों में उपलब्ध होते हैं। लक्षणा की चर्चा मीमांसक जैमिनी से ही उपलब्ध होती है।[९] मीमांसा के पश्चात् न्यायदर्शन में लक्षणा पर पर्याप्त विचार हुआ है। अतः संक्षेप में इन दार्शनिक मतों को ही पहले लिया जाता है।

मीमांसक और लक्षणा

मीमांसकों की यह दृढ़ धारणा है कि लक्षणा का उपयोग तभी सम्भव है जब अभिधा से कार्य चला लेने की कोई भी स्थिति संभव न हो।[१०] मीमांसा सूत्रों में भक्ति[११],

---

१. व्य० वि०, १।२७
तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति।
—लो०, पृ० १४

२. एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च। —अभिधावृत्तिमातृका, पृ० ४

३. वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। —वक्रोक्तिजीवित, पृ० ५१

४. शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिरभिधा। सा च त्रिधा—मुख्या, गौणी लक्षणा च।
—रत्नदर्पण टीका (सरस्वतीकण्ठाभरण) पृ० १८६

५. मुख्यमर्थमविदित्वा लाक्षणिकमपि अर्थं श्रौतमिव मन्यते। मलेच्छा इव यववराहाद्यर्थम्। मुख्यार्थविवेकिनां तु परीक्षकाणां लाक्षणिकत्वधीरितः। —प्रकरणपंचिका

६. शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० १८३-८४

७. सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।
—न्यायसूत्र २।२।६१

८. संदिग्धस्तूपचारः। —वै० सू० ३।२।१३

९. स्याच्छ्रुति लक्षणे नियतत्वात्। —मी० सू० ६।३।३३

१०. अगत्या लक्षणावृत्तिः समभिव्याहृतैर्भवेत्। —तन्त्रवार्तिक, पृ० ७२८

११. 'भक्तिरसन्निधावन्याय्या'। —मी० सू० पृ० ११३९

लक्षणा[1] तथा गुण[2] शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'गुण' या 'गौण' शब्द का लक्षक के लिए तथा 'गुण' शब्द का लक्ष्यार्थ के लिए बहुशः प्रयोग मिलता है।[3] आचार्य शबर स्वामी ने मुख्य तथा गौणार्थ में भी अन्तर स्पष्ट किया है।[4]

तन्त्रवार्तिक में मीमांसक-शिरोमणि कुमारिल ने लक्षणा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। यद्यपि शाबरभाष्य में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शब्द से जो परार्थ प्राप्ति होती है, उसमें भी शब्द की वृत्ति होती है।[5] वहाँ गौणी वृत्ति[6] और लक्षणा का संकेत भी उपलब्ध होता है[7] तथापि कुमारिल आदि मीमांसकों ने पर शब्द से परार्थ की प्राप्ति में दो भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ मानी हैं—लक्षणा तथा गौणी। इन्होंने लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों का स्वरूप निरूपण भी किया है।[8] भाष्यकार ने कहा है 'विरोधाल्लक्षणया कल्पनीयम्'[9] और 'सादृश्याच्च परशब्दः परत्रवर्तते'[10] अर्थात् सामीप्य विरोध जैसे सादृश्य भिन्न सम्बन्धों को निमित्त बनाकर जहाँ भिन्न अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ लक्षणा और जहाँ सादृश्यवश परार्थ वाचक शब्द से एक भिन्न अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ गौणी वृत्ति होती है। लोचनकार[11] अभिनवगुप्त ने भी गौणी तथा लक्षणा का अन्तर इसी आधार पर बताया है।

नैयायिक एवं लक्षणा

प्राचीन न्यायग्रन्थों में लक्षणा का स्वतन्त्र विवेचन नहीं हुआ। गौतमन्यायसूत्र में लक्षणा का पर्याय 'उपचार' शब्द मिलता है।[12] वृत्तिकार[13] ने 'व्यक्तिः लक्षणाबोधः'

---

१. श्रुतिलक्षणे नियतत्वात्। —मी० सू०, ३।३।३३, पृ० ३३६
२. 'गुणेत्वन्याय कल्पना' —वही, ३।५।१५
३. मी० सू० ३।५।१५
४. अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु। —मी० सू० ३।२।१
५. 'परशब्दस्य परत्र वृत्तौ' —शाबरभाष्य, पृ० १६०५
६. सादृश्याच्च परशब्दः परत्रवर्तते' —वही, पृ० १५४६
७. 'विरोधाल्लक्षणया कल्पनीयः' —वही, पृ० ६६६
८. (क) अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
(ख) लक्षयमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता। —तन्त्रवार्तिक, पृ० ३५४
९. शाबरभाष्य, पृ० ६६६
१०. वही, पृ० १६०५
११. ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति। केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते-सिंहो बटुरिति। अर्थोवाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद् गौणस्य भेदः।···सर्वत्र सैव व्यापिका। —लोचन (ध्वन्यालोक), पृ० १६०
१२. व्यक्त्याकृतिजातिसंनिधावुपचारात्संशयः। —न्यायसूत्र २।२।५८
१३. न्यायवृत्तिः, पृ० २१६

कहकर स्पष्ट ही लक्षणा का प्रयोग किया है।

नव्यन्यायधारा के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय (१३वां शतक) ने 'लक्षणा' का हर पक्ष से पुष्कल विचार उपस्थित किया है। इनके अनुसार लक्षणा के तीन रूप माने जा सकते हैं।[1] इनमें प्रथम दो मतों को उपाध्याय ने प्राचीनों का मत कहा है।

मीमांसकों तथा नैयायिकों द्वारा निरूपित लक्षणा में अन्तर है। मीमांसक गौणी तथा लक्षणा को भिन्न मानने हैं जबकि नैयायिक सादृश्य स्वरूप गौणी को ही लक्षणा कहते हैं।[2] मीमांसक लक्षणा को प्रतीति अथवा ज्ञानस्वरूप मानते हैं और नैयायिक इसे सम्बन्धात्मा कहते हैं। नैयायिक लक्षणा को केवल पद की वृत्ति मानते हैं[3] जबकि मीमांसक पद के साथ-साथ उसे वाक्य की भी वृत्ति मानते हैं।[4]

साहित्यशास्त्र एवं लक्षणा

लक्षणा स्वरूप निरूपण के प्रसंग में साहित्यशास्त्री मीमांसा एवं न्यायदर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस दिशा में साहित्यशास्त्र का कोई नया प्रयास नहीं है। लक्षणा के क्षेत्र में साहित्यकार की देन केवल लक्षणाप्रभेद निरूपण में है।

आचार्य वामन (७वीं शती उतरार्द्ध) ने[5] रूपक स्थल में गौणी तथा वक्रोक्ति के प्रसंग में लक्षणा वृत्ति की चर्चा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मीमांसकों से प्रभावित हैं तभी तो इन्होंने लक्षणा एवं गौणी इन दोनों वृत्तियों की पृथक्-पृथक् चर्चा की है।

लोचनकार ने 'भक्ति' के निर्वचन में[6] सम्बन्ध को लक्षणा का स्वरूप नहीं, निमित्त

---

१. (क) शब्दात्परम्परया अशक्यासदृशान्वयपरोपस्थितिरूपा।
(ख) शक्यसम्बन्धादशक्यसदृशान्वयपरोपस्थितिरूपा।
(ग) अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिहेतुः। स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणेति परमार्थः। उपस्थितिहेतुर्हि वृत्तिः शक्तिवत्।
—लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ० ११५ से उद्धृत, तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ६७८-६७६

२. 'सिंहो यमितिवत्सादृश्यात्मा गौण्यपि लक्षणा'
—न्यायप्रदीप, कारिका ६२वीं, पृ० ३३

३. 'लक्षणा च पदवृत्तिः।' —तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ७१८

४. वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः।
—(चित्सुखी में उद्धृत, पृ० १४५), लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ० १२२ से उद्धृत

५. यथा च गौणस्यार्थस्यालंकारत्वम्, तथा लाक्षणिकस्थायीतिदर्शयितुमाह—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्, तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।८, पृ० १३०

६. भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। —लोचन (ध्वन्यालोक), पृ० ३०-३१

कहा है। मीमांसकों ने लक्षणा को ज्ञानस्वरूपा कहा है। आचार्य मम्मट,[1] भोजराज[2] तथा जयदेव[3] ने भी लक्षणा को ज्ञानस्वरूपा ही माना है जो स्पष्टतः मीमांसकों का प्रभाव है। एकावलीकार का लक्षणा निरूपण भी मीमांसकों से प्रभावित प्रतीत होता है।[4] साहित्य-मीमांसा पर तो मीमांसकों का इतना प्रभाव लक्षित होता है कि इन्होंने लक्षणा[5] एवं गौणी का पृथक्-पृथक् लक्षण किया है। साहित्यदर्पण की लक्षणा भी ज्ञानवादी धारा की ही जान पड़ती है।[6]

मीमांसक सादृश्यसापेक्ष अर्थ प्रतिपादन शक्ति को गौणी कहते हैं किन्तु अप्पय-दीक्षित इसे भी लक्षणा कहते हैं।[7] अतः गौणी एव लक्षणा को भिन्न न मानने वाले नैयायिकों से यह प्रभावित प्रतीत होते हैं। पण्डितराज ने भी लक्षणा का वही स्वरूप स्वीकार किया है जो नैयायिकों को मान्य है।[8]

साहित्यशास्त्र में निरूपित लक्षणा के निमित्त एवं प्रयोजन का आधार भी मीमांसा एवं न्यायदर्शन ही है। मीमांसकों के आद्याचार्य जैमिनी ने गौणी वृत्ति के निमित्तों की चर्चा अपने मीमांसा सूत्र[9] में की है। वार्तिककार ने भी इन निमित्तों पर विचार करते हुए कहा है कि 'अभिधान शक्ति स्वाभाविक होती है और लक्षणा भी सम्बन्ध से अधिक निमित्त की अपेक्षा नहीं करती।'[10] इन्होंने निर्निमित्त लक्षणा की

---

१. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया॥' —का० प्र०, २।९

२. लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, टिप्पणी २

३. आभिमुख्यात् सन्निधानात्तथाऽऽकारप्रतीतितः॥८॥
कार्यकारणभावात् सा वाच्यवाचकभावतः। —चन्द्रालोक ९।८

४. मुख्यार्थानुपपत्तौ तद्योगे रूढितोऽथवापि फलात्।
अन्योऽर्थो यदि लक्ष्यो भवति तदालक्षणाऽभिमता॥ —एकावली, २।५

५. अभिधेयविनाभूतं स्पृशन्ती लक्षणोच्यते। —साहित्य मीमांसा, पृ० २

६. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ —सा० द०, २।५

७. 'सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्यप्रतिपादकत्वम्।' —वृत्तिवार्तिक, पृ० १८

८. शक्य सम्बन्धो लक्षणा।
तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्य स्वीकारात्।...'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्।
—रसगंगाधर (चन्द्रिका), प० १४३-५०

९. तत्सिद्धिः जातिसारूप्यप्रशंसालिंगभूमानः गुणाश्रयाः। —मी० सू० १।४।१२

१०. अभिधानशक्तिः स्वाभाविकी। लक्षणातु न सम्बन्धादधिकं निमित्तमपेक्षते।
—तन्त्रवार्तिक, पृ० ६८३

कल्पना को अनुचित कहा है ।[1] इस प्रकार भट्टपाद ने लक्षणा एवं गौणी दोनों के निमित्तों पर प्रकाश डाला है ।

प्राभाकर मतानुयायियों में से प्रकरणपंचिकाकार शालिकनाथ के अनुसार लक्षणा का उन्मेष तब होता है जब वाच्यार्थ का विधेयार्थ से सम्बन्ध नहीं बन पाता ।[2] शाबर-भाष्य में यह कहा गया है कि लक्षणा में शब्द का बाधित होना भी आवश्यक है ।[3]

जिस प्रकार आचार्य जैमिनी ने गौणी के निमित्तों की चर्चा की, उसी प्रकार महर्षि गौतम ने लक्षणा के निमित्तों की चर्चा करते हुए,[4] इसकी संख्या दस मानी है । श्री गंगेश उपाध्याय ने लक्षणा के निमित्त पर पर्याप्त विचार किया है ।[5] उन्होंने लक्षणा का बीज 'तात्पर्यानुपपत्ति' को माना है । मुक्तावलीकार[6] तथा न्यायप्रदीपकार[7] ने 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज कहा है तथा 'अन्वयानुपपत्ति का खण्डन किया है ।

मीमांसादर्शन में लक्षणा के तीनों कारणों—मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध एवं रूढ़ि और प्रयोजन की चर्चा मिलती है परन्तु न्यायशास्त्र में केवल सम्बन्ध तथा बाध की चर्चा उपलब्ध होती है ।

साहित्यशास्त्र में लक्षणा के तीनों निमित्तों का स्पष्ट निरूपण सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने किया है । लक्षणा को ज्ञानरूपा मानने वाले काव्यशास्त्री लक्षणा के तीन निमित्तों की चर्चा करते हैं तथा इसे सम्बन्ध स्वरूप मानने वाले लक्षणा के दो निमित्तों की चर्चा करते हैं । पण्डितराज ने लक्षणा के दो निमित्तों की चर्चा नैयायिकों की भाषा में ही की है ।[8]

लक्षणा के भेद

लक्षणा के भेदों के सम्बन्ध में भी आरम्भिक प्रयास जैमिनीयसूत्रों में ही उपलब्ध

---

१. 'न च निर्निमित्ता लक्षणाऽवकल्पते ।' —तन्त्रवार्तिक, पृ० १००२

२. वाच्यस्यार्थस्यवाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः । —प्रकरणपंचिका, वाक्यार्थमातृकावृत्ति, पृ० १३

३. यदि तु तेन लक्षितेन प्रयोजनं स्यात्, शक्यते तेन लक्षयितुम् ।······लक्षणायां च शब्दो वाध्येत । —शाबरभाष्य, पृ० १८००

४. सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्च-कटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः । —न्यायसूत्र २।२।६१

५. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ६६०-६५

६. 'लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः' —कारिकावली, पृ० १२१

७. लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः । अन्वयानुपपत्तेः सा प्राचीनानां मते स्थिता । —न्यायप्रदीप, पृ० ३३

८. रसगंगाधर (चन्द्रिका), पृ० १४६-५०

होता है। वहाँ अमुख्य वृत्ति के दो रूप—गौणी[१] एवं लक्षणा[२] उपलब्ध होते हैं। मीमांसा में 'प्रयोजनवती'[३], 'निरूढ़ा'[४], 'गौणी'[५], 'लक्षणा'[६], 'लक्षित लक्षणा'[७] एवं 'अजहत्स्वार्था'[८] का संकेत मिलता है। मीमांसा में लक्षणा के यही भेद मुख्य रूप से उपलब्ध होते हैं। गागाभट्टकृत भाट्टचिन्तामणि में लक्षणा विभाजन के प्रसंग में जहल्लक्षणा एवं अजहल्लक्षणा का स्पष्टतः नामोल्लेख उपलब्ध होता है।[९] वहाँ बताया गया है कि वेदान्ती लक्षणा का एक तीसरा भेद भी मानते हैं जिसे वे जहदजहल्लक्षणा कहते हैं[१०] और लक्षित लक्षणा का अन्तर्भाव[११] भी वे जहल्लक्षणा में ही मानते हैं।

वेदान्त में भी 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषद् महावाक्यों के प्रसंग में लक्षणा की चर्चा हुई है। वहाँ लक्षणा के एक नवीन भेद 'भागलक्षणा' का नाम भी मिलता है।[१२] इसी को ही बाद में जाकर नैयायिकों ने 'जहदजहल्लक्षणा' नाम दिया। वेदान्तपरिभाषाकार[१३] ने लक्षणा दो प्रकार की मानी है—केवल लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा। मीमांसक एवं वेदान्ती वाक्य की लक्षणा भी मानते हैं[१४] किन्तु नैयायिक वाक्य की लक्षणा को लक्षणा नहीं मानते।[१५]

न्यायशास्त्र और लक्षणाभेद

प्राचीन न्याय में लक्षणा के भेदों पर कोई विचार उपलब्ध नहीं होता। नव्य-नैयायिक जगदीश भट्टाचार्य ने लक्षणा के भेदों की चर्चा करते हुए कहा है कि जहत्स्वार्था,

---

१. 'अहीनो वा प्रकरणाद्गौणग्रहणः' —मी० सू०, पृ० ८६२
२. स्याच्छ्रुतिलक्षणे नियतत्वात्' —वही, ६।३।३३
३. 'यदि तु तेन लक्षितेन प्रयोजनं स्यात्।' —शाबरभाष्य, पृ० १८८०
४. 'निरूढ़ालक्षणाः काश्चित्' —तन्त्रवार्तिक, पृ० ६८३
५. 'तत्र गुणेन परशब्दः परत्र वर्तते' —टुप्टीका, पृ० १६८
६. यजतौ लक्षणया स्यात्। —शाबरभाष्य, पृ० १६२७
७. सैषा लक्षितलक्षणा स्यात्। —वही, पृ० १६६९
८. स्वार्थं जहत्कथं गमयेत्। —वही, पृ० १६२५
९. सा च लक्षणा द्वेधा, ऽजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था च। —गागाभट्ट, भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७
१०. तत्त्वमसीत्यादौ जहदजहल्लक्षणा च तृतीयेति वेदान्तिनः। —वही, पृ० ५८
११. लक्षितलक्षणाया अप्यत्रैवान्तर्भावः। —वही, पृ० ५७
१२. ···इयमेय भागलक्षणेत्युच्यते॥ —वे० सा०, पृ० १०
१३. लक्षणा च द्विविधा—केवल लक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। —वेदान्तपरिभाषा, पृ० १९९
१४. लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। —वही, पृ० २१७
१५. वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणापि नास्ति। —कारिकावली, पृ० १२२

अजहत्स्वार्था, निरूढ़ा, आधुनिकी आदि कई प्रकार की लक्षणाएँ हो सकती हैं।[१] गदाधर भट्टाचार्य ने 'व्युत्पत्तिवाद' में 'स्वारसिकी'[२] नामक एक और भेद भी कहा है।

साहित्यशास्त्र एवं लक्षणाभेद

मीमांसा, न्याय तथा वेदान्त दार्शनिकों की अजहत्स्वार्था का मुख्य नाम साहित्यिकों ने उपादान लक्षणा दिया है।[३] उपादान लक्षणा को ही वे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं।[४] इसका स्पष्ट संकेत भाट्टचिन्तामणि में भी हुआ है।[५] मम्मट ने मीमांसकों के उपादान लक्षणा के उदाहरण 'गौरनुबन्ध्य' का कड़ा खण्डन किया है।[६] कुछ मीमांसकों ने 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' इत्यादि स्थल में उपादान लक्षणा द्वारा रात्रि भोजन की प्रतीति मानी है। आचार्य मम्मट ने 'रात्रि-भोजन' की प्रतीति लक्षणा से नहीं मानी।[७]

अप्पयदीक्षित ने वृत्तिवार्तिक में फल लक्षणा के जिन सात भेदों[८] की चर्चा की है वही भेद मीमांसा, वेदान्त एवं न्यायदर्शन में वर्णित हैं।

---

१. जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थानिरूढाधुनिकादयः।
लक्षणा विविधास्ताभिर्लक्षकं स्यादनेकधा ॥२७॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० १७

२. 'स्वारसिकी लक्षणाग्रहस्थलानुरोधेनावश्यं कल्पनीयतया'

—व्युत्पत्तिवाद, पृ० १४४

३. मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मानोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥ —सा० द० २।६

४. इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते। —वही, वृत्ति

५. स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका, अजहत्स्वार्था ।······इयमेवोपादानलक्षणे-त्यालङ्कारिकाः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७

६. 'गौरनुबन्ध्य' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढ़िरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते; यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षमेत्यादि च।

—का० प्र०, २।१० की वृत्ति

७. 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेः अथोपत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। —का० प्र० २।१० की वृत्ति

८. (फल लक्षणा यथा)—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। सारोपा साध्यवसाया च। शुद्धा च गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फल लक्षणा।

—वृत्तिवार्तिक, पृ० १९

लक्षण-लक्षणा

शुद्धा लक्षणा में केवल लक्षण-लक्षणा के सम्बन्ध में मम्मट ने नैयायिकों एवं मीमांसकों की प्रतीति को ध्यान में रखकर विचार किया है।[1] आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के इस कथन का विरोध किया है कि लक्षणा वृत्ति से जो लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है, वह वाच्यार्थ से सर्वथा अपने आपको भिन्न रखे हुए है।[2] मुकुल के इस मत का खण्डन ही एक प्रकार से नैयायिकों एवं मीमांसकों की धारणा का खण्डन है।

चन्द्रालोककार[3] ने लक्षणा के पूर्ववर्ती आलंकारिकों में सबसे अधिक प्रभेदों की चर्चा की है। पहले-पहल पूर्ववर्ती आलंकारिकों के समान इन्होंने भी परम्परा एवं प्रयोजन की दृष्टि से लक्षणा के दो प्रभेद स्थिर किये हैं—निरूढ़ा एवं प्रयोजनवती। फिर इन दोनों के अवान्तर भेद किये हैं। आधार के भेद से लक्षणा का विचार करते हुए इन्होंने कहा है कि लक्षणा शब्द (पद वाक्य) पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक और लिंग सब में होती है। यहाँ वैयाकरण, नैयायिक एवं मीमांसक—सबके मतानुरूप लक्षणा की चर्चा की गई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षणा के प्रभेदांश पर विस्तृत विचार नहीं किया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनका लक्षणा विभाजन काव्यप्रकाश से साम्य रखता है।

दार्शनिकों की भाँति साहित्यिक आचार्य भी पदगत एवं वाक्यगत लक्षणा मानते हैं। अतः ये भी पदार्थ एवं वाक्यार्थ को लक्ष्य मानते हैं। इनमें विलक्षणता यह है कि यहाँ वाक्य अनन्वित दोनों प्रकार के पदों को लेकर कहा जाता है। अतः द्विविध वाक्य का विषय भी दार्शनिकों से भिन्न होगा। इस प्रकार सभी विचारकों में कुछ न कुछ नवीनता उपलब्ध होती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा भेद निरूपण के प्रसंग में दार्शनिकों के लक्षणा भेदों को तो आत्मसात् किया ही साथ ही अनेक नवीन भेदों का निरूपण भी किया जिनका दर्शन ग्रन्थों में सर्वथा अभाव है। विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं।[4]

अतः लक्षणा शक्ति दर्शन की लक्षणा से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है।

---

१. 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। —का० प्र० २।१० की वृत्ति

२. उभयरूपा चेयं शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिषतौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः। —का० प्र० २।१० की वृत्ति

३. लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्धसाध्यसाध्याङ्भेदतः॥ —चन्द्रालोक ६।२-८

४. एवमशीतिप्रकारा लक्षणा। —सा० द०, पृ० ३६

तात्पर्यवृत्ति

वाक्यार्थ शैली का विवेचन मीमांसा में विशेष रूप से किया गया है इसलिए मीमांसा को 'वाक्यशास्त्र' कहा जाता है। मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाए जाते हैं जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य मत हैं। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के मानने वाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद' के मानने वाले हैं।

अन्विताभिधानवाद

अन्विताभिधानवादियों[1] के मतानुसार वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर आकांक्षित, आसन्न तथा योग्य होने के कारण सर्वप्रथम अन्वित होते हैं, तदनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ ही पदार्थ है। प्रभाकर भट्ट के मतानुसार 'वाक्यार्थ तो अनेक होते हैं। वैसे एक ही प्रकार के वही पद अनेक वाक्यों में पाये जाते हैं, फिर भी उनका भिन्न-भिन्न वाक्यों में उपादान होता है। अतः सबसे पहले श्रोता पदों का सामान्य अर्थ लेता है, तदनन्तर किसी विशेष वाक्य के प्रकरण में वह उस सामान्य अर्थ का दूसरे प्रकरणों में व्यवच्छेद (निराकरण) कर लेता है। इस प्रकार वह किसी एक विशिष्ट अर्थ में बुद्धि को स्थिर कर लेता है।'[2]

अभिहितान्वयवाद

अभिहितान्वयवादियों के अनुसार शब्द पहले अपने वाच्यार्थ को अभिहित करते हैं, तदनन्तर अन्वित होकर वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं। अभिहितान्वयवादी का कहना है कि कोई भी कार्य देखने पर हम उसके समीपस्थ पूर्ववर्ती पदार्थ को तब तक कारण मान लेते हैं, जब तक कोई बलवान बाधक उस मान्यता को खण्डित न कर दे।[3] वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान होने से पूर्व पदार्थ की स्मृति होती है। अतः पदार्थ स्मृति ही वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु है। साथ ही पदार्थ स्मरण मात्र से वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, अपितु उसके

---

१. पदान्याकांक्षितासन्नयोग्यार्थान्तरसंगतान्।
स्वार्थानभिदधन्तीह वाक्यं वाक्यार्थगोचरम्। —तत्त्वबिन्दु, पृ० ६१

२. तत्रानैकान्तिकानेकवाक्यार्थोपलपवे सति।
अन्योन्यात्मव्यवच्छेदादेकत्र स्थाप्यते मतिः।।
—ध्वनि सम्प्रदाय ओर उसके सिद्धान्त, पृ० १६७ से उद्धृत न्यायरत्नमाला

३. एवं तावदौत्सर्गिको न्यायो यदसति बलवद्बाधकोपनिपाते सहकारिणि कार्ये च प्रत्यासन्नं हि कारणम्। सति तद्भावभाविते तथा चार्थस्मृतिः पदात्।
—(प्रभाकर मित्र) ध्वनि सम्प्रदाय ओर उसके सिद्धान्त, पृ० १६८ से उद्धृत न्यायरत्नमाला

लिए पदों के अन्वय से घटित पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक है। अतः आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति से युक्त मानसी पदार्थों के स्मरण को ही वाक्यार्थ ज्ञान का कारण मानते हैं।[1]

वाक्यार्थ ज्ञान में भाट्टमीमांसक लक्षणा शक्ति मानते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नमाला में अन्विताभिधानवादियों का खण्डन करते हुए कहा है कि यद्यपि एक ही वाक्य में अनेक पद पाए जाते हैं, तथापि संनिधि, आकांक्षा तथा योग्यता के द्वारा हम वाक्य के पदों में सम्बन्ध ग्रहण कर लेते हैं। वाक्य में प्रयुक्त पदों का अन्वय आकांक्षा, योग्यता तथा संनिधि के कारण होता है।[2] सम्बन्ध होने के अनन्तर वाक्यार्थज्ञान होता है। वाक्य या पद दोनों ही अकेले, साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा वाक्यार्थबुद्धि उत्पन्न नहीं करते। सबसे पहले पद के स्वरूप के द्वारा पदार्थ अभिहित होते हैं, तब वे वाक्यार्थ को लक्षित करते हैं।[3] किन्तु यह लक्षणा शुद्धा लक्षणा से भिन्न है। यदि इसे अलग से शक्ति माना जाए तो अभिधा, लक्षणा, गौणी और पदार्थान्वय—ये चार शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। इस गौरव से बचने के लिए ही इसे लक्षणा माना गया है।[4] लक्षणा से इसका अन्तर बनाए रखने के लिए ही संभवतः कतिपय मीमांसकों ने इसे तात्पर्यवृत्ति कह दिया है।

साहित्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति मीमांसकों की ही देन है। यहाँ अधिकांश आचार्य इसके पक्षपाती हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में तात्पर्यवृत्ति की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए अभिहितान्वयवादियों[5] तथा अन्विताभिधानवादियों[6] का नामोल्लेख किया है। आचार्य विश्वनाथ ने भी तात्पर्यवृति निरूपण[7] करते हुए मीमांसकों के

---

१. तदभूषामेव (मानसीनां) स्वार्थस्मृतीनामाकांक्षायोग्यतासत्ति सहकारिणीनां कारणत्वं वाक्यार्थप्रत्ययं प्रत्यध्वस्यामः। —वही

२. सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वैरूपलक्षणलाभतः।
आनन्त्येप्यन्वितानां स्यात् सम्बन्धग्रहणं मम॥ —न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थप्रकरण

३. तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यते साविति सिद्धमेतत्। —वही

४. एवं च न चेदियं पदप्रवृतिर्लक्षणालक्षणमन्वेति, भवतु तर्हि चतुर्थी, दृष्टत्वात्। अस्तु वा लक्षणैव। —तत्त्वबिन्दुः, पृ० १५६-५७

५. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्॥६॥
आकांक्षायोग्यतासंनिधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।
—का० प्र०, २।६ की वृत्ति,

६. वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः'। —का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ३७

७. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥२०॥
अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरमाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः, तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। —सा० द०, २।२०

अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद की चर्चा की है।

आचार्य अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ध्वनिवादियों को भाट्टमीमांसकों का अभिहितान्वयवादी मत ही अभीष्ट है। टीकाकारों ने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है।[1] आगे जाकर कतिपय ध्वनिवादियों ने तात्पर्यवृत्ति का निषेध भी किया। प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने तात्पर्यवृत्ति का व्यंजना में ही अन्तर्भाव कर तात्पर्यार्थ को व्यंग्यार्थ से अभिन्न घोषित किया है।[2] भट्टलोल्लट का 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' तात्पर्यवृत्ति को अभिधा का अंग मानता है। महिमभट्ट तात्पर्यार्थ को अनुमान प्रमाण द्वारा गृहीत मानते हैं। जो भी हो विद्वान 'तात्पर्य शक्ति' को शब्दशक्तियों के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।

व्यंजना शक्ति

शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्तियों के विषय में तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे दर्शन से काव्य में अवतरित हुई किन्तु यह बात काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति व्यंजना के विषय में चरितार्थ नहीं होती। काव्य में व्यंजना की स्थापना यद्यपि काव्यशास्त्रियों की मौलिक देन है तथापि व्यंजना के स्वरूप की सिद्धि दर्शन की सहायता के बिना सम्भव न हो सकी। व्यंजना विरोधी दार्शनिक मतों का खण्डन करने पर ही काव्य में व्यंजना की स्थापना सम्भव हुई। एक पृथक् शब्दशक्ति के रूप में व्यंजना का समर्थन सभी काव्यशास्त्रियों ने न कर इसका अन्तर्भाव तात्पर्य, अभिधा, लक्षणा, अनुमान, अर्थापत्ति आदि में करने का प्रयत्न किया है। यह भी वस्तुतः दर्शन के प्रभाव वशात् ही है। व्यंजना विरोधी दार्शनिक मतों का संक्षिप्त निरूपण ही यहाँ अपेक्षित है।

१. तात्पर्यवादी एवं व्यंजना

मीमांसक व्यंग्यार्थ को भी यावत् कार्यप्रसारी एवं अपरिमित अर्थ के बोधक तात्पर्य से ही बोध्य मानते हैं। पूर्वमीमांसकों द्वारा उद्भावित यह मत काव्यशास्त्र में आचार्य धनंजय[3] तथा धनिक[4] द्वारा अनुमोदित है। आचार्य धनिक का कथन है कि दार्शनिकों तथा आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत अभिधा (तात्पर्य शक्ति, लक्षणा शक्ति) के द्वारा ही समस्त श्रूयमाण पदार्थ या अश्रूयमाण पदार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिए व्यंजना

---

१. 'इत्यन्तग्रंथेनोपपादितस्याभिनवगुप्ताचार्यसंमतपक्षस्य बहुवचनश्रीमत्पदाचार्यपदैः स्वसंमतत्वमुक्तमिति टीकाकारैः सर्वैरुक्तमिति दिक्।' —बालबोधिनी, पृ० २७

२. तात्पर्यार्थोऽपि व्यंग्यार्थ एव, न पुनः पृथग्भूतः। —प्रतापरुद्रीय०, पृ० २९

३. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥ —द० रू० ४।३७

४. न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्व नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्तेः। —वही, अवलोक टीका

जैसी अलग से शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयास है। इसी बात को पुष्ट करते हुए धनिक ने[1] कहा है कि किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति होना असम्भव है, काव्य के प्रयोजन पर ही जाकर वह विश्रान्त होता है। उनका कहना है कि तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होता है वहाँ तक फैला रहता है, इसलिए वह इतना ही है, इससे अधिक नहीं, ऐसा माप-तौल सम्भव नहीं। अतः व्यंग्य तात्पर्य में अन्तर्निविष्ट हो जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कुमारिल भट्ट प्रभृति मीमांसकों के तात्पर्य के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध मानने वाले पक्ष को प्रस्तुत किया है।[2] श्लोकवार्तिक[3] के वाक्याधिकरण में इस मत के विषय में कहा गया है कि जैसे पाक के उत्पादन में काष्ठों का ज्वाला रूप अवान्तर व्यापार होता है, उसी प्रकार और तथाकथित व्यंग्यार्थ का बोध तात्पर्य शक्ति द्वारा हो सकता है। पदों से वाक्यार्थ बोध होने में पदार्थ बोध अवान्तर व्यापार मात्र है। आचार्य आनन्दवर्धन ने वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय का खण्डन किया है।[4]

---

१. तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत् कार्य प्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रताम्।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥ —द० रू० ४।३७ पर अवलोक

२. ······प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिकृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद् व्यपदिश्यते? यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः। तत्परत्वाद् वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनी वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः, किन्तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तस्मात् तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः। —ध्व० लो०, पृ० २५३

३. वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ —श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण

४. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीति रसस्यैवेति कैश्चिद् विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या ताभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादान-कारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भ-स्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम्। तेषां तथा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थ बुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यंग्योर्न्यायः। न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धि-र्दूरीभवति। वाच्यावभासाविनाभावने तस्य प्रकाशनात्।
—ध्व० लो० ३।२३ पर वृत्ति, पृ० २५७

अन्वय मात्र का बोध कराने में परिक्षीण हो जाने से[1] तात्पर्य शक्ति ध्वन्यर्थ की बोधक नहीं हो सकती क्योंकि वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ, लक्ष्यार्थ से भिन्न चतुर्थ कक्षा में[2] जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह प्रतीति संसर्गमात्र बोधक अभिहितान्वयवाद की द्वितीय कक्षा की तात्पर्य शक्ति से नहीं हो सकती।[3]

२. अभिधावादी और व्यंजना

व्यंजनाविरोधी दूसरा मत नैमित्तिकानुसार निमित्त की कल्पना करने वाले अभिधावादी मीमांसकों का है।[4] 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पयन्तेत्त इस मत का अभिप्राय है कि व्यंजनावादी जिस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह भी शब्द से ही प्रतीत होता है। शब्द के अतिरिक्त उसका कोई और निमित्त उपलब्ध होता ही नहीं। इसलिए शब्द को ही उसका निमित्त मानना होगा। शब्द तथा व्यंग्यार्थ का बोध्यबोधक भाव रूप निमित्त-नैमित्तिक भाव, बिना शक्ति के सम्भव नहीं और शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। इसलिए शब्द से व्यंग्यार्थ की जो प्रतीति होती है, वह भी शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा ही होती है। इन्होंने[5] बाण के दीर्घदीर्घतर व्यापार की तरह दीर्घ-दीर्घ होने वाले अभिधा व्यापार से ध्वन्यर्थ का बोध माना है। यह द्वितीय व्यंजना विरोधी मत अतिप्राचीन मीमांसकों का है।

---

१. न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्।
—ध्व० लो० १।४ पर लो०, पृ० ५६
अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेष-स्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽपि अपदार्थ एव वाक्यार्थः।
—का० प्र० ५।४७ पर वृत्ति, पृ० २२७

२. चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। —ध्व० लो० १।४ पर लोचन, पृ० ५७
तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जन-प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।
—वही, लोचन, पृ० ६०

३. एवमभिहितान्वयवादिनामिदमनपह्नवनीयम्। —लोचन, पृ० ६२
यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रति-पादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्, न तु रस्यमानतासारे रसे…।
—लोचन, पृ० ८५

४. यदप्युच्यते 'नैमित्तकानुसारेण निमित्तानि' कल्प्यन्ते इति —का० प्र०, पृ० २२९

५. योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधा-व्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति। —ध्व० लो० १।४ पर लो०, पृ० ६२
ये त्वभिधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति। —लोचन, पृ० २२
'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च। —का० प्र०, पृ० २३०

मीमांसक होने के कारण मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में अभिधा तथा लक्षणा का ही प्रतिपादन किया है और अन्त में लक्षणा का भी अभिधा में अन्तर्भाव करके एक ही अभिधावृत्ति का प्रतिपादन किया है।

शब्द के अभिधा व्यापार से ही व्यंग्यार्थ का बोध मानने वाले मीमांसकों का खण्डन भी काव्यशास्त्र में हुआ है।[1] अभिधा से प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उस अर्थ में संकेतग्रह नहीं है।[2] शब्द-बुद्धि-कर्मणा-विरम्य-व्यापाराभावः' इस सिद्धान्त से अनुसार 'दीर्घदीर्घतरो अभिधाव्यापार वाला मत भी खण्डित हो जाता है।[3]

३. लक्षणावादी और व्यंजना

लक्षणावादी व्यंजना का अंतर्भाव लक्षणा में करते हैं। लक्षणावादियों का परिचय सर्वप्रथम हमें ध्वन्यालोक में मिलता है जहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति में करने का प्रयास किया है। संस्कृत अलंकारशास्त्र के ग्रंथों का अनुशीलन करने पर दो ही ऐसे आचार्य उपलब्ध होते हैं, जिन्होंने व्यंजना का समावेश उपचार या भक्ति के अन्तर्गत किया है। ये दो आचार्य हैं आचार्य मुकुलभट्ट तथा राजानक कुन्तक। मुकुलभट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्ति-मातृका' में लक्षणा के अन्तर्गत ही उन समस्त उदाहरणों को विन्यस्त किया है, जिनमें किसी न किसी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है। मुकुलभट्ट वस्तु रूप, अलंकार रूप तथा रस रूप तीनों प्रकार की व्यंजना का समावेश लक्षणा में करते हैं। उनके मतानुसार[4] समस्त ध्वनिप्रपंच लक्षणा में अन्तर्भावित हो जाता है। मुकुलभट्ट की भाँति कुन्तक भी अभिधा जैसी एक ही शक्ति मानते हैं। एकावलीकार विद्याधर ने स्पष्ट बताया है कि कुन्तक ने भक्ति के अन्तर्गत समस्त ध्वनि को अन्तर्भावित माना है।[5]

लक्षणावादियों के इस मत का ध्वनिकार, लोचनकार तथा काव्य-प्रकाशकार ने

---

१. तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्नकारकत्वं, ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे। एवं च निमित्तस्य नियत-कत्वन्तु निमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्ति-कानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम्। —का० प्र०, पृ० २२६

२. नाभिधा, समयाभावात्। —का० प्र० सू० २४

३. सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्द-कर्म-बुद्धयादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। —लोचन, पृ० ६२

योऽव्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधा-व्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेको सावििति कुतः ? भिन्न विषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। —वही

४. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मी-लयितुमिदमत्रोक्तम्। —अभिधावृत्तिमातृका, पृ० २१

५. एतेन यत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्। —एकावली, पृ० ५१

विशेष खण्डन किया है तथा व्यंजना के क्षेत्र को लक्षणा से सर्वथा भिन्न बताया है। मम्मट ने इस विषय में न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र की सहायता ली है। उनका कहना है कि जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं, तो वह पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय है। किन्तु उस विषय के ज्ञान से या प्रत्यक्ष से जो फल उत्पन्न होता है, वह उस पदार्थ से भिन्न वस्तु है। इसी फल को मीमांसक लोग 'प्रकटता' या 'ज्ञातता' कहते हैं।[1] तार्किक इसे 'संवित्ति' या 'अनुव्यवसाय' के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए 'मैं घट को देखता हूँ।' इसमें घट ज्ञान का विषय है। उसका ज्ञान होने पर 'मैंने घड़े को जान लिया' यह उस घट ज्ञान का फल है तथा ज्ञातता कहलाता है। घड़े को जान लेने पर, 'मैं घड़े को जानता हूँ' इस प्रकार का पर्यालोचन 'संवित्ति' या 'अनुव्यवसाय' है।[2] यह 'प्रकटता' रूप या 'संवित्तिरूप' ज्ञान का फल उस ज्ञात होने वाले विषय से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार जब लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है तो लक्ष्यार्थ उसका विषय ही है, फल नहीं, फल तो प्रतीयमान अर्थ ही है।[3] 'प्रकटता' या 'संवित्ति' जिस प्रकार सदैव ज्ञान होने के पश्चात् ही होती है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ की भी प्रतीति लक्ष्यार्थ प्रतीति के पश्चात् ही होती है, साथ-साथ नहीं।

४. अनुमितिवादी एवं व्यंजना

तृतीय ध्वनि विरोधी मत में श्री शंकुक तथा महिमभट्ट प्रभृति उन आचार्यों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान रूप द्विविध अनुमान के द्वारा व्यंजना को अनुमेय मान लिया है। श्री शंकुक के मत का निरूपण तो रसाध्याय में उनके अनुमितिवाद के अन्तर्गत किया ही जा चुका है। महिमभट्ट के अनुमान में ही सब प्रकार की ध्वनियों का अन्तर्भाव करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' की रचना कर[4] ध्वनि का विरोध करते हुए कहा है कि वाक्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, यदि असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हो तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध हो जाय, अतः

---

१. घटज्ञानान्तरं 'ज्ञातो घटः' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन् घटे ज्ञाततापरनाम्नी प्रकटता जायते इति अध्वरमीमांसकमीमांसा।

—बालबोधिनी (का० प्र०), पृ० ६१

२. सति च घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति प्रत्ययरूपा अनुव्यवसायापरपर्यायासंवित्ति-र्घटज्ञानात् जायते इति तार्किकतर्कः। —बालबोधिनी (का० प्र०), पृ० ६२

३. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्। —का० प्र०, सूत्र २६, पृ० ७६

४. (क) व्यक्तिविवेक १।१

(ख) तदेवं वाच्य-प्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्।

—वही, पृ० ६३

(ग) शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यंजत्वमनयोः समस्तीस्त्युपपादितम्॥ —वही, १।२७

व्यंग्य-व्यंजक भाव भी व्याप्ति रूप नियत सम्बन्ध के रहने पर हो सकता है।[1] महिमभट्ट के अनुसार जहाँ वाच्य या वाच्य से अनुमित अर्थ किसी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करता है वहाँ काव्यानुमिति होती है।[2] इस प्रकार परार्थानुमान[3] अथवा स्वार्थानुमान से त्रिविध व्यंग्यार्थ को अनुमेय माना गया है।

श्री शंकुक, महिमभट्ट आदि द्वारा प्रतिपादित व्यंग्य-व्यंजक भाव के स्थान पर लिंग-लिंगी भाव सम्बन्ध से रसादि को अनुमेय मानने का खण्डन काव्यशास्त्रियों ने किया है। 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि वस्तुध्वनि स्थल में व्यभिचार, असिद्ध, बाधित रूप हेत्वाभास[4] होने के कारण 'भ्रमण निषेध' रूप व्यंग्यार्थ अनुमेय नहीं हो सकता। यही बात अलंकार ध्वनि के स्थल में भी है।[5] अतः रसादि त्रिविध अर्थ व्यंग्य ही है, अनुमेय नहीं।[6] इसी बात को स्पष्ट करते हुए जयरथ ने कहा कि लिंग और लिंगी में सम्बन्ध का निश्चय तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही होता है। सम्बन्ध के निश्चय होने से ही साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा व्यभिचार हो जाने से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इनमें कृतकत्व

---

१. ननु वाच्यादसम्बद्धं वावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद व्यंग्यव्यंजकभावोऽप्रतिवन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन, च त्रिरसाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति।
—का० प्र०, ५।४७ की वृत्ति,

२. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥ —व्यक्तिविवेक, १।२५

३. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्। —व्यक्ति वि०, १।२५ की वृत्ति, पृ० १०५

४. अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरी तीरे···एव विधादर्थादेवंविधोऽर्थ— उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्।
—का० प्र०, ५।४७ की वृत्ति,
'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशाब्दापि व्यंजकशक्तिमूलैव।
—अवलोक, द० रू०, पृ० २३७

५. तथालंकारेष्वपि 'लावण्यकान्ति इत्यादिषु' चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दमित्याद्युपमालंकारप्रतिपत्तिर्व्यात्तकत्वनिबन्धनीति। —वही, पृ० २३८

६. (क) न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र, व्यंग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति। — ध्व० लो० ३।३३ पर वृत्ति, पृ० २७९

(ख) प्रदीपालोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि व्यंग्य-व्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यंग्यव्यञ्जकाभावस्य लिङ्गलिङ्गिभावो व्यापक इति कथं तादात्म्यम्।
—वही, लो०, पृ० ४८५

(ग) यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमारव्यत्, तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावाद्-विचारिताभिधानम्। तदेतत् कुशाग्रधिषणणैः क्षोदनीयमतिगहनमिति नेह प्रतन्यते।
—अ० स०, पृ० १५-१६

और अनित्यत्व में तादात्मय है तथा वह्नि एवं धूम में तदुत्पत्ति। वाच्य तथा प्रतीयमान में तो न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति। क्योंकि 'निःशेषच्युत' यहाँ पर विधि से निषेध या निषेध से विधि प्रतीत होती है। यहाँ निषेध और विधि में विरोध होने से प्रतीयमान का वाच्य के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव न तो भाव रूप होता है और न भाव ही अभाव रूप। ऐसे तो उनमें तदुत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अभाव के विषय में अन्य जनकत्व अनुपपन्न है। निःशेषच्युत चंदन आदि विशेषण वहाँ नायिकान्तिक गमन रूप अर्थ के अनुमापक भी नहीं माने जा सकते, क्योंकि स्नान से भी चन्दन-च्यवन आदि होने से वे अनैकान्तिक हैं।[1]

अनुमान में व्यंजना का अन्तर्भाव करना वस्तुतः नैयायिकों का ही प्रभाव है। साहित्यिकों द्वारा स्वीकृत व्यंजना का तिरस्कार करते हुए नैयायिकों का कथन है कि 'गंगा में घोष है' इत्यादि वाक्यों में 'गंगा' पद से 'तट' अर्थ लक्षणा द्वारा एवं उसमें विद्यमान शीतलता एवं पवित्रता की प्रतीति व्यंजना से मानना उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा का मूल 'तात्पर्य की संगति' न होना है। अतः तात्पर्य ज्ञान पर्यन्त लक्षणा शक्ति का ही कार्य माना जायेगा। इसी प्रकार उसकी प्रतीति भी लक्षणा द्वारा ही हो जायेगी।[2] अर्थशक्तिमूला व्यंजना के स्थानों में जहाँ विधि से निषेध की अथवा निषेध से विधि की प्रतीति होती है, उन स्थलों में भी नैयायिक व्यंजना मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। इनके अनुसार ऐसे स्थलों में अन्य अर्थ की प्रतीति अनुमान के माध्यम से होती है।[3]

अर्थापत्ति एवं व्यंजना

जिससे अर्थ अर्थात् उपपादक की आपत्ति अर्थात् कल्पना की जाय, उसे अर्थापत्ति

---

१. इह लिङ्गलिङ्गिनोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव तावत्प्रतिबंधो निश्चीयते। तन्निश्चयेनैव च साध्यसिद्धिः। अन्यथा हि साध्यसिद्धिर्न स्याद् व्यभिचारात्। तत्र तादात्म्यं यथा कृतकत्वानित्यत्वयोः। तदुत्पत्तिर्यथा वह्निधूमयोः। वाच्य-प्रतीयमानयोः पुनस्ता-दात्म्य-तदुत्पत्ति न स्तः। तथाहि 'निःशेष च्युते' त्यत्र विधिना निषेधो निषेधेन वा विधि प्रतीयते। न तस्य वाच्येन सह तादात्म्यम्। विरुद्धत्वात्। नह्याभावो भावात्मा भावोऽप्यभावात्मा। नापि तदुत्पत्तिः। अभावस्य जन्यजनकत्वानुपपत्तेः नापि निःशेष-च्युत —चन्दनादीनां विशेषगानां तदन्तिकगमनानुमापकत्वं युक्तम्। तेषां स्नानादा-वपि सद्भावादनैकान्तिकत्वात्। —अलंकार सर्वस्व, विमर्शिनी, पृ० १५

२. 'गंगायां घोषः' इत्यादौ तु शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीरप्रतीतिर्जहल्लक्षणयैव निर्वहति; तत्र शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीराऽधिकरणघोषतात्पर्येण प्रयुक्तवाक्यात् तथाविध तीररूपार्थस्य बोधे तत्तात्पर्यानुपपत्त्यात्मक बीजसत्त्वादिति अतो लक्षणान्तर्भूता सा। —तर्ककिरणावली, पृ० १२९

३. शब्दशक्तिमूला अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिना अन्यथासिद्धा। — तर्कदीपिका, पृ० १२९-३०

प्रमाण कहते हैं। यथा 'पीनश्चैत्रोदिवा नात्ति'[1] यहाँ दिवा में अभुक्त चैत्र का पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न होने से रात्रि भोजन रूप अर्थ की कल्पना करता है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति के भेद से अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है। दृष्टार्थापत्ति में दृष्ट उपपाद्य[2] से उपपादक की कल्पना होती है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में दृष्ट पीनत्व रूप उपपाद्य से उपपादक की कल्पना श्रुतार्थापत्ति में श्रुत उपपाद्य से उपपादक की कल्पना की जाती है। जैसे 'जीवन् चैत्रो गृहे नास्ति' यहाँ श्रुत जीविततत्व रूप उपपाद्य से बहिः सत्त्व रूप उपपादक की आपत्ति होती है। श्रुतार्थापत्ति पुनः दो प्रकार की होती है : अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति, जैसे 'द्वारम्' से 'पिधेहि' की कल्पना और अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्।' यहाँ क्षणिक 'ज्योतिष्टोम याग से स्वर्गसाधनत्व की अनुपत्ति से मध्यमवर्ती अपूर्व की कल्पना की जाती है।[3] अर्थापत्ति का उपर्युक्त व्याख्यान ही सम्मत होने के कारण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्'[4], मम्मट के इस कथन का भी पूर्वोक्त मार्ग से ही व्याख्यान करना चाहिए न कि श्रुतार्थापत्ति में शब्द की और अर्थापत्ति में अर्थ की कल्पना रूप व्याख्यान।[5] क्योंकि मीमांसा दर्शन के अनुसार अर्थ (उपपादक) की कल्पना तो उभयत्र होती ही है।

मीमांसकों का कहना है कि जैसे 'पीनो देवदत्तोदिवा न भुंक्ते' यहाँ रात्रि भोजन अर्थापत्ति से बोध्य है, वैसे ही 'निःशेषच्युत'[6] इत्यादि स्थलों में 'नायकान्तिकगमनरूप' विध्यादि निःशेषच्युत चन्दनादि की अनुपपत्ति से अर्थापत्ति के द्वारा ही बोध्य है न कि वह ध्वन्यमान है।

---

१. 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसयोर्न ध्वनिप्रसङ्गः।
—ध्व० लो० ३।२८ का० पर लो०, पृ० २९५

२. तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनामर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्।
—वेदान्त परिभाषा, अर्थापत्ति परि० पृ० २४६

३. स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक ज्योतिष्टोमयागगततयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते। —वही, पृ० २५३

४. का० प्र०, द्वितीय उल्लास, कारिका १० पर वृत्ति

५. वही, बालबोधिनी टीका, पृ० ४५
अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।
—मी० सू० १।१।५ पर वृत्ति

६. निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो—
नेत्रे दूरमञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्याधमस्यान्तिकम्।
—का० प्र० प्रथम उल्लास, श्लोक २

धनंजय ने अर्थापत्ति में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए[1] कहा है कि जिस प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य का देवदत्तविषयक रात्रिभक्षण रूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाणवेद्य है, ठीक वैसे ही रस भी अर्थापत्ति के द्वारा काव्योपात्त वाक्यों से प्रतीत हो जायेगा, यह मत मानना ठीक नहीं। अर्थापत्ति वहाँ ही होगी, जहाँ अर्थ ठीक नहीं बैठता हो। काव्योपात्त शब्दों का वाच्यार्थ तो ठीक बैठ ही जाता है। अतः वहाँ अर्थात् की आपत्ति नहीं करनी पड़ती। रसादि की चर्वणा के पूर्व वहाँ अनुपपद्यमानार्थत्व होता ही नहीं। रसादि की प्रतीति में, अर्थज्ञान ठीक नहीं बैठने पर अर्थापत्ति हो सकती है।

इस प्रकार तात्पर्य, अभिधा, लक्षणा, अनुमान तथा अर्थापत्ति में व्यंजना के अन्तर्भाव करने वाले दार्शनिक मतों का खण्डन कर आनन्दवर्धन प्रभृति दार्शनिकों ने व्यंजना नामक एक नवीन वृत्ति को स्वीकार तो कर लिया किन्तु काव्यशास्त्र में इस नई वृत्ति की स्थापना से आचार्यों में ध्वनि सिद्धान्त के प्रति प्रबल विद्रोह उठ खड़ा हुआ। प्रसिद्ध तार्किक जयन्तभट्ट[2] ने व्यंजना का प्रबल विरोध करते हुए व्यंजना के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन का 'पण्डितं मन्यः' कहकर उपहास किया। उन्होंने ध्वनि के विरोध में उग्रतापूर्वक कहा कि वाक्यार्थ विवेचन का प्रसंग आनन्दवर्धन जैसे आलोचकों तथा कवियों को शोभा नहीं देता। शब्दार्थ विचार का साक्षात् सम्बन्ध तार्किकों एवं मीमांसकों से जुड़ा है। अतः आनन्दवर्धन प्रभृति कवियों को इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहिए। शब्दार्थ विवेचन के अधिकारी तो दार्शनिक एवं शाब्दिक ही हैं।

जयन्तभट्ट जैसे दार्शनिक क्षेत्र के विद्वानों की भाँति महिमभट्ट जैसे शास्त्रज्ञ भी व्यंजना का उन्मूलन करने पर तुले थे। इतना होने पर भी आनन्दवर्धन ने सभी विद्याओं के मूल शब्दशास्त्र में ही व्यंजना को ढूँढ़ ही निकाला।[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यंजना विरोधी दार्शनिक मतों का खण्डन करने पर ही काव्यशास्त्री व्यंजना को फलीभूत करने में समर्थ हो सके।

---

१. न चासावर्थापत्तिजन्या—अनुपपद्यमानार्थपेक्षाभावात्।
—दशरूपक, अवलोक, पृ० २३८

२. एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितंमन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्॥
× × ×
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥
—पण्डित सूर्यनारायण शुक्ल सम्पादित, जयन्तभट्ट न्यायमंजरी, पृ० ४५

३. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानां, ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थ-दर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। —ध्वन्यालोक, २।१३ वृत्ति

ध्वनिसिद्धान्त एवं वैयाकरणों का स्फोटवाद

संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ध्वनिसिद्धान्त का आधार भारतीय व्याकरण दर्शन है। संस्कृत काव्यालोचकों को जब भी यह भान हुआ कि व्याकरण में उनकी समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान किया गया है तो उन्होंने सहर्ष न केवल उनके निष्कर्षों को ही अपितु उनकी परिभाषाओं को भी ग्रहण कर लिया। 'ध्वनि' शब्द जिसका प्रयोग वैयाकरणों ने स्फोट सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त किया काव्यालोचन के क्षेत्र में स्थानान्तरित हो गया।[1]

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने अपने गम्भीर, सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन द्वारा 'स्फोट' को एक पृथक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित कर व्याकरण को ही दर्शन के क्षेत्र में पहुँचा दिया। स्फोट के व्याख्यान ने व्याकरण को दर्शन के अतिउच्च धरातल 'वेदान्त तत्त्व' के साथ समन्वित कर दिया है। स्फोट ही वह तत्त्व है जिसकी प्रतिष्ठा कर वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के चरम स्रोत को ढूंढ़ निकाला। इसी कारण स्फोट की विवेचना वस्तुतः दर्शन की विवेचना हो जाती है। कौंडभट्ट ने इस बात का समर्थन करते हुए ब्रह्म को ही स्फोट कहा है।[2] उनका कहना है कि ब्रह्म ही शब्दतत्त्व रूप एवं अक्षर रूप है।[3] अतः अक्षर, शब्द, स्फोट सब ब्रह्म रूप होने से ब्रह्म की भाँति एक एवं अखंड हैं।

एक सामान्य द्रष्टा के अनुसार महान् वैयाकरण भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धान्त एवं आलंकारिकों के ध्वनि सिद्धान्त पृथक् एवं असम्बन्धित हो सकते हैं किन्तु वाक्यपदीय एवं ध्वन्यालोक के गहन अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं क्योंकि दोनों की ही समस्या शब्दार्थ का विश्लेषण है तथा आनन्दवर्धन भर्तृहरि की मान्यताओं के आधार पर ध्वन्यालोक में कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।[4]

ध्वनि सिद्धान्त का आधार वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से ही परिवर्धित हुआ है। आनन्दवर्धन[5] एवं उनके अनुयायी मम्मट ने वैयाकरणों के इस ऋण को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

लोचन में अभिनवगुप्त ने व्याकरण दर्शन को ध्वनि का आधार मानते हुए वाक्य-

---

१. Dhvanyāloka and its Crities, p. 32-3

२. निष्कर्षे तु ब्रह्मैव स्फोट इति भावः।

—वैयाकरणभूषण ७२वीं कारिका की टीका

३. इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरञ्जनम्।
ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः॥

—वही, ७२वीं कारिका

४. R. S. Nagar, Indebtedness of Anandavardhana to. Bhartṛhari, Indological Studies, Vol. II, No. 2, p. 80

५. Mukherji, R. R., Literary Criticism in ancient India, pp. 377-8

पदीय के अनेक उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। व्याकरण में[1] बताया गया है कि शब्द की उपलब्धि श्रोत्र के माध्यम से होती है। श्रोत्र एक इन्द्रिय है जो कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश रूप है। जिस क्रम से वर्ण श्रूयमाण होते हैं उसी क्रम से स्फोट रूप नित्य शब्द की भी अभिव्यक्ति होती है। 'स्फोट' को पूर्व पूर्व-वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से जो अन्त्य वर्ण की बुद्धि होती है, उसके द्वारा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार स्फोट रूप नित्य शब्द के अभिव्यंजक होने के कारण वर्ण 'ध्वनि' शब्द से कहे जाते हैं। लोचन[2] में अभिनवगुप्त ने इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि जो व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है वह घण्टादि के शब्द के स्थान पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण-दर्शन में उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले घण्टानुरणन रूप शब्द ध्वनि कहे जाते हैं। इसकी पुष्टि रूप में उन्होंने भर्तृहरि की कारिका[3] को उद्धृत किया है। कौमुदी में इसे और भी स्पष्ट किया गया है।[4] इस प्रकार वैयाकरणों की ध्वनि को अनुरणनरूपता के आधार पर आलंकारिकों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप ढाल लिया।

'ध्वनि' और 'नाद' का स्पष्टीकरण भी व्याकरण की भाँति ही काव्यशास्त्र में भी उपलब्ध होता है। घण्टादि के समान अनुरणनरूपोपलक्षित व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' नाम से व्यवहृत है तथा श्रूयमाण 'नाद' शब्द वाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यंजित करने वाले वर्ण 'ध्वनि' शब्द से कहे जाते हैं।[5] इस कथन का स्पष्टीकरण भी

---

१. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यं प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।
— महाभाष्य, अध्याय २

२. तेन 'उपज्ञोपक्रमम्' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्। श्रूयमाणेष्विति। श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः। श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः।
—लोचन, पृ० १३८

३. यथाह भगवान् भर्तृहरिः—
यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजयन्ते।
स स्फोटः शब्दाश्शब्दा ध्वन्योऽन्यैरुदाहृताः।। इति —वही, पृ० १३८-३९

४. वर्णानामन्त्यो यो वर्णः तद्विषयबुद्धया स स्फोटो नितरां व्यक्ततरेण रूपेण गृह्यते।
—कौमुदी, पृ० २४१

५. एवं घण्टादिनिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः।
—लोचन, पृ० १३९

अभिनवगुप्त ने भर्तृहरि की कारिका[1] से किया है। वाक्यपदीय की दो अन्य कारिकाएँ[2] इसे और भी स्पष्ट करती हैं। स्फोट सिद्धान्त के प्रसंग में ही वैयाकरणों ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है।

'ध्वनि' और 'स्फोट में भेद की मीमांसा से भर्तृहरि ने 'ध्वनि' को 'नाद' कहा है। उनका कहना है कि नाद में पूर्व और क्रम होता है किन्तु स्फोट में यह नहीं होता क्योंकि वह एक और नित्य है। उसमें जो क्रम का भान होता है वह नादाभिव्यक्तिगत क्रम के कारण। इसे स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब का उदाहरण दिया है।[3] स्फोट और ध्वनि के बोध[4] के विषय में पुण्यराज ने भी विचार किया है। स्फोट नित्य है उसमें क्रम नहीं। ध्वनि के पौर्वापर्य के कारण स्फोट भी क्रमयुक्त और विभिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः न उसमें क्रम है न भेद।[5]

वैयाकरणों के अनुसार शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो रूप हैं। दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है। इसी कारण स्फोट और ध्वनि, शब्द और अर्थ इकट्ठे रहते हैं। स्फोट यदि शब्द है तो ध्वनि शब्द का गुण। पतंजलि ने 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) सूत्र की व्याख्या में स्फोट और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट किया है। स्फोट नित्य है उसमें अल्पता, महत्ता आदि की स्थिति नहीं है। ध्वनि शब्द का गुण होने से शब्द का व्यंजक है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है। स्फोट और ध्वनि में व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध है।[6] व्यंजक ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती। स्फोट उतना ही होता है। लघुता, वृद्धि, अल्पता आदि ध्वनि के कारण होती है।[7]

---

१. यथाह भगवान् स एव—
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। इति —लोचन, पृ० १३९-४०

२. यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ।। —वाक्य० १।८२
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।। —वाक्य० १।८४

३. नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ।।
प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ।। —वाक्य० १।४८-९

४. स्फोट रूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः ।। —वही, १।८१

५. वही, १।४८

६. ग्रहणग्राहकयोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ।। —वाक्य० १।९७

७. स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः। —महाभाष्य १।१।७०

ध्वनि और स्फोट एक ही शब्द के दो रूप हैं।[1] भर्तृहरि इसे और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार तेज की ग्राह्य और ग्राहक दो शक्तियाँ होती हैं उसी प्रकार शब्द की भी दो शक्तियाँ हैं।[2] भर्तृहरि के यही भाव ध्वन्यालोक में प्रतिबिम्बित होते हैं जब आनन्दवर्धन कहते हैं कि व्यंजकत्व मार्ग से ही अर्थ-अर्थान्तर का द्योतन करता है।[3]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त 'व्यंग्यव्यंजकभाव'[4] शब्द भी व्याकरण से ही काव्यशास्त्र में आया है। स्फोट के व्यंजक को 'ध्वनि' संज्ञा से अभिहित करने वाले वैयाकरणों के भावों को अभिव्यक्त करते हुए काव्यालोचकों ने भर्तृहरि के कथन को भी उद्धृत किया है।

व्यंजकत्व रूप व्यापार को ध्वनि कहने की प्रवृत्ति का आधार भी व्याकरण है। वैयाकरणों के अनुसार जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं उनकी अभिव्यक्ति में द्रुत, विलम्बित आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है।[5] अर्थात् हम कभी धीरे-धीरे, कभी शीघ्र-शीघ्र उच्चारण करते हैं। इस प्रकार शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं होता। अभिनवगुप्त ने अपने इस तथ्य के समर्थन में वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत की है।[6]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जब वैयाकरणों ने 'व्यंजकत्व' को ध्वनि माना तब आलंकारिकों ने उसी समानता पर व्यंजक शब्द और अर्थ को 'ध्वनि' कहा। यहाँ तक कि ध्वनि को लेकर व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ को ध्वनि कहने की प्रथा चल पड़ी।

व्याकरण ग्रन्थों में शब्द तत्त्व को[7] अत्यन्त सूक्ष्म, अर्थ-तत्त्व से अभिन्न, एक,

---

१. ध्वनिस्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥ —महाभाष्य १।१।७०

२. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च दे शक्ति तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते॥ —वाक्य० ५।१५

३. व्यञ्जकत्वमार्गे यदाऽर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते—स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते।
—ध्वन्यालोक ३।३३ की वृत्ति

४. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥ —वही, ४।५

५. तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारण-व्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः। —लोचन, पृ० १४०

६. यदाह स एव—
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ —लोचन, पृ० १४०

७. सूक्ष्मामार्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च पूतां नानारूपामात्मनि संनिविष्टाम्।
—हेलाराज, वाक्यपदीय १।१

सर्वदा सर्वत्र प्रवाहित होने वाला तथा अन्तरात्मा में प्रविष्ट माना गया है। उसे कतिपय आचार्य पृथक् भी मानते हैं। शब्दतत्त्व की सूक्ष्मता के कारण ही हेलाराज ने वाक्तत्त्व को सूक्ष्म और नित्य कहा है। वह इन्द्रियों की शक्ति से परे है। उसका साक्षात्कार साक्षात्कृतधर्मा (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही कर सकते हैं।[1]

वैयाकरणों के शब्द तत्त्व की भाँति ध्वनि तत्त्व भी सूक्ष्म है। प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त स्त्रियों में लावण्य की भाँति विशेष भासित होता है।[2] जिस प्रकार शब्द तत्त्व का साक्षात्कार सभी को नहीं होता केवल मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं उसी प्रकार ध्वन्यर्थ का बोध भी सभी को नहीं होता वह अर्थ तो 'सहृदयश्लाघ्यः' है।[3] वह अर्थ शब्दार्थशासन के ज्ञान मात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्य-मर्मज्ञों को ही विदित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने भर्तृहरि के[4] शब्द-तत्त्व में निहित अर्थतत्त्व के भावों को लेकर शब्दशक्ति व्यंजना के माध्यम से ध्वनि सिद्धान्त को विकसित किया है। प्रतीयमान अर्थ के प्रसंग में उन्होंने शब्द विशेष में अर्न्तनिहित अर्थ पर बल देते हुए कहा है प्रतीयमान अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द, इन दोनों को भलीभाँति पहचानने का प्रयत्न महाकवि को करना चाहिए।[5]

ध्वनितत्त्व को एक अखण्ड तत्त्व[6] कह आनन्दवर्धन ने भर्तृहरि[7] के भावों को हीं प्रतिबिम्बित किया प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के संलक्ष्यक्रम ध्वनि[8] में क्रम की कल्पना का आधार भी वाक्यपदीय से ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रियों का ध्वनि सिद्धान्त पूर्णरूपेण

---

१. यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति।
—वही, १।५

२. ध्वन्यालोक १।४

३. योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। —ध्वन्यालोक १।२

४. प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ —वाक्यपदीय, २।३२

५. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ —ध्वन्यालोक, १।८

६. प्राधान्यं च ज्ञप्तौ यद्यपि न चकास्ति, 'बुद्धौ तत्तवावभासिन्याम्' इति तु नयेनाखण्ड-चर्वणाविश्रान्तेः। —संपा० एस० कुप्पुस्वामीशास्त्री, ध्व० लो०, पृ० १८९

७. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ —वाक्य० १।७३

८. असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥ —ध्व० लो०, २।२
येषामपि स्वरूपविशेष प्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावीक्रमः। —वही, ३।३३ की वृत्ति

वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त पर आधारित है। उन्हीं परिपक्वबुद्धि वालों के मन में चिरप्रसुप्त सत्काव्य के इस तत्त्व को आनन्दवर्धन ने सहृदयजनों के उदय लाभ के लिए व्याख्यान किया।[1] अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः इसका सम्पूर्ण श्रेय भर्तृहरि को दिया है।[2]

अतः भारतीय दार्शनिकों के मतों का खण्डन कर आलंकारिकों ने 'व्यंजना' नामक जिस नवीन शब्द-शक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए अथक परिश्रम किया उस व्यापार कीों की उद्भावना वैयाकरणों ने पहले से ही की थी। इसी कल्पना के आधार पर आलंकारिक ने व्यंजना का अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया।[3]

परमलघुमंजूषा आदि व्याकरण ग्रन्थों में व्यंजना का निरूपण हुआ है।[4] वैयाकरणों का व्यंजना को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक था क्योंकि इसके बिना स्फोट का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं हो सकता।[5] द्योतक प्रकृतिमूलक निपात भी स्वेच्छा से अर्थ प्रकट नहीं कर सकते, यह तो केवल अपने निकटवर्ती प्रयुक्त पद के वाचकत्व को व्यक्त करते हैं। कर्मप्रवचनीय इत्यादि निपात तत्त्व वैयाकरणों को उनमें अन्तर्निहित व्यंजना-शक्ति की स्वीकृति को विस्तृत करने के लिए बाध्य करते हैं।[6] जब वैयाकरण कर्मप्रवचनीय को व्यंग्य तत्त्व स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि अपने निकटवर्ती शब्द के साथ जुड़कर कारक प्रत्यय अर्थ का प्रकाशन करते हैं तो उनके इस कथन का आधार निश्चित रूप से व्यंजना ही है।[7]

---

१. सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त—
कल्पं मनस्सु परिपक्वाधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो—
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः। —ध्वन्यालोक लो०, पृ० ६०२

२. भर्तृहरिणेदं कृतम्—यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति। —लोचन, पृ० ६०२-३

३. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १६-२०

४. ननु व्यञ्जना कः पदार्थ? उच्यते मुख्यार्थबाधनिरपेक्ष बोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना। —परमलघुमंजूषा, पृ० ६३

५. The Science of language is compelled to recognise the existence of the function of Vyañjanā, because without this function, the revelation of the intellectual leaven sphota remains in-explicable.
—Indian Aesthetic & Science of language, p. 133

६. अत एव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता। द्योतकत्वं च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति। वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः। —परमलघुमंजूषा, पृ० ६४

७. (क) When the science of language takes a Karmapravacaniya as a suggestive unit and says that it brings in to revelation the capacity to express a relation inherent in a case suffix, attached

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रियों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'ध्वनि' सिद्धान्त एवं व्यंजना शक्ति का आधार व्याकरण दर्शन ही है। वहीं से प्रेरणा एवं सहायता पाकर अलंकारशास्त्र में ये सिद्धान्त विकसित, फलीभूत एवं प्रसिद्ध हुए।

---

to a word employed near it, it definitely rests its observation on the existence of Vyañjanā.

—Indian Aesthetics & Science of Language, pp. 133-34

(ख) एषा च शब्दतदर्थपदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु सर्वत्र, तथैवानुभवात्। वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानं च व्यङ्ग्यविशेषबोधे सहकारीति न सर्वत्र तदपेक्षेत्यन्यत्र विस्तरः।

—प० ल० म०, पृ० ६४

पंचम अध्याय

अलंकार-निरूपण का दार्शनिक आधार

अलंकार वर्गीकरण के दार्शनिक आधार

अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलंकारों की संख्या बहुत ही कम थी। नाट्यशास्त्र में हमें केवल चार अलंकारों का परिचय मिलता है। धीरे-धीरे अलंकारों में विकास होता चला गया तथा एक सीमा पर आकर यह वृद्धि इतनी अधिक हो गई कि आलंकारिकों को सभी अलंकारों को एक निश्चित वर्ग में विभक्त करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने अलंकारों को शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया है।[1] दण्डी ने भी इसी वर्गीकरण का अनुसरण किया है क्योंकि उन्होंने दूसरे परिच्छेद में अर्थालंकारों का तथा तीसरे में यमक आदि शब्दालंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। आगे चलकर सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने अलंकारों को शब्द, अर्थ और उभय—इन तीन वर्गों में विभाजित कर[2] इसे बाह्य आभ्यान्तर और बाह्याभ्यान्तर अलंकार की संज्ञा दी है।

अलंकार वर्गीकरण के सिद्धान्त

भोज के समय तक अलंकारों का त्रिवर्ग में विभाजन तो हो गया किन्तु इस त्रिवर्ग में विभाजन का नियामक तत्त्व विकसित न हुआ था यद्यपि वामन के शब्दगुण तथा अर्थगुण को निश्चित करने के आधार ने आश्रयाश्रयिभाव का संकेत अवश्य कर दिया था।[3]

अलंकार वर्गीकरण के दो प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं। एक है आश्रयाश्रयिभाव तथा दूसरा है अन्वयव्यतिरेकभाव। ये दोनों ही दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। अतः यहाँ यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आश्रयाश्रयिभाव तथा अन्वयव्यतिरेकभाव का दर्शन में क्या स्वरूप है।

---

१. रुपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्।। —का० अ० १।१४

२. शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान्कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान्बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति।। —स० क० भ० २।१

३. डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ० १५६

आश्रियाश्रयिभाव का दर्शन में स्वरूप

आश्रयाश्रयिभाव का विवेचन लगभग सभी दर्शन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है। न्यायदर्शन में विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा हुई है। उदाहरण के लिए घड़ा तथा उसके रूप को लिया जा सकता है। रूप जब तक रहेगा, घड़े के आश्रित होकर ही रहेगा, अन्यथा नहीं। नैयायिकों ने निम्नलिखित जोड़ों को अयुतसिद्ध कहा है—(क) अवयव और अवयवी (ख) गुण और गुणी, (ग) क्रिया और क्रियावान्, (घ) जाति और व्यक्ति, (ङ) नित्यद्रव्य और विशेष।[1] इनमें से प्रत्येक में समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल,तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन ये नौ द्रव्य माने गए हैं।[2] गुणों का आश्रय द्रव्य होता है। जिसमें 'गन्ध' हो वह 'पृथिवी', जिसमें शीत स्पर्श हो वह 'जल' इत्यादि।

सांख्यदर्शन में भी आश्रयाश्रयिभाव का निरूपण हुआ है।[3] इसी प्रकार अन्य दर्शन ग्रन्थों में भी आश्रयाश्रयिभाव के विषय में पर्याप्त निरूपण हुआ है किन्तु उन सबका विवरण यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। अतः अब यहाँ संक्षेप में अन्वयव्यतिरेकभाव के दार्शनिक स्वरूप पर प्रकाश डाला जाएगा।

अन्वयव्यतिरेकभाव का दर्शन में स्वरूप

दर्शन में अन्वयव्यतिरेकभाव का विवेचन 'अनुमान' प्रकरण के अन्तर्गत हुआ है। अनुमान के 'स्वार्थ' और 'परार्थ' दो भेद हैं। स्वयं अपने ज्ञान का हेतु भूत अनुमान स्वार्थानुमान कहलाता है।[4] और जो कोई धूम से स्वयं अग्नि का अनुमान करके दूसरे को बोध कराने के लिए पंचावयव अनुमान वाक्य का प्रयोग करता है वह परार्थानुमान होता है। जैसे (क) यह पर्वत अग्निमान है, (ख) धूम युक्त होने से, (ग) जो जो धूमयुक्त होता

---

१. 'तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ।।'
यथा अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयवादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयवादयः यथा तन्तुनाशे सति पटः।
—केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ० ३

२. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।
—वै० सू० १।१।५

३. (क) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ।। —सा० का० १०
(ख) कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषतः। —वही, का० १६

४. तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थं परार्थं चेति। स्वार्थं स्वप्रतिप्रत्तिहेतुः।
—तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ७९

है वह वह वह्नि युक्त भी होता है, (घ) जैसे रसोई घर, (ङ) यह पर्वत भी उसी प्रकार का है।[1]

यहाँ पर्वत का अग्निमत्व साध्य है, धूमवत्वहेतु है। और वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। अन्वय तथा व्यतिरेक से व्याप्तियुक्त होने से। जैसे कि जहाँ जहाँ धूमवत्व होता है वहाँ वहाँ अग्निमत्व होता है जैसे महानस। यह अन्वय व्याप्ति हुई। महानस में धूम और अग्नि के सद्भाव होने से। इसी प्रकार जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है जैसे महाह्लद में। यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। महाह्लद में धूम और अग्नि के व्यतिरेक होने से।[2]

काव्यशास्त्र में आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक आचार्य

आचार्य उद्भट ने अलंकार वर्गीकरण की ओर अपना प्रथम प्रयास किया। किस अलंकार को शब्द का अलकार तथा किस अलंकार को अर्थ का अलंकार माना जाए इसके लिए उन्होंने आश्रयाश्रयिभाव को आधार माना, ऐसा जयरथ का कथन है। काव्यप्रकाश के सारबोधिनी टीकाकार उद्भट को अन्वयव्यतिरेकवाद का समर्थक बताते हैं।[3] किन्तु अन्वयव्यतिरेकवाद न केवल इनके अनुसार युक्तिविरोध ही है अपितु प्राचीन आचार्यों के मत के विपरीत भी है।[4]

उद्भट के पश्चात् आश्रयाश्रयिभाव के समर्थकों में रुय्यक का नाम आता है। रुय्यक के अनुसार जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है, वह उसका अलंकार होता है।[5] यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और यदि शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार होगा। लौकिक आभूषणों

---

१. यत्तु कश्चिद् धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात् यो यो धूमवान् ससोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथा चायं, तस्मात्तथेति।
—तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ८०

२. अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथाहि यत्र यत्र धूमवत्वं तत्राग्निमत्वं यथा महानसे इत्यन्वय-व्याप्तिः। महानसे धूमान्योरन्वयसद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्लदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्लादे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्। —(आचार्य विश्वेश्वर) तर्कभाषा, पृ० ८०-८१

३. सारबोधिनीकारास्तु—'उद्भटाचार्यमते अप्येवमिति दर्शयति योऽलंकार इति।'
—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ७६८

४. अन्वयव्यतिरेकपक्षे न परं युक्तिविरोधः, उद्भटादिपूर्वाचार्यविरोधोऽपि।
—रुय्यक के अलंकार सर्वस्व पर समुद्रबन्ध की टीका, पृ० २५१

५. ......यो अलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार......। —अ० स०, पृ० १२४

के सम्बन्ध में भी यह बात चरितार्थ होती है।[१] विमर्शिनीकार, ने 'लोकवद्' की व्याख्या करते हुए यही मन्तव्य प्रकट किया है।[२] रुय्यक ने यह स्पष्ट कहा है कि अन्वयव्यतिरेक केवल कार्यता के प्रयोजक हो सकते हैं शब्दादि की अलंकारता का नियामक केवल आश्रयाश्रयिभाव ही है और यदि अन्वयव्यतिरेक को शब्दादि की अलंकारता का प्रयोजक माना जाए तो श्रौतोपमा आदि को भी शब्दालंकार मानना पड़ेगा।[३]

सौन्दर्यविधान के तत्त्व पर आश्रित होने के कारण जयरथ इसे उपस्कार्योपस्कारक-भी कहते हैं। यदि किसी शब्द द्वारा शब्द का उपस्करण होता है तो शब्दालंकार, अर्थ का उपस्करण होता है तो अर्थालंकार कहलाएगा।[४]

परवर्ती अन्य आलंकारिकों में विद्याधर[५] तथा विद्यानाथ[६] आश्रयाश्रयिभाव को मानते हैं। अप्पयदीक्षित भी इसी सिद्धान्त के समर्थक आचार्य हैं।[७] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी आश्रयाश्रयिभाव का समर्थन करते हुए अन्वयव्यतिरेकभाव का खण्डन किया है। उनके मतानुसार अन्वयव्यतिरेकभाव से आश्रय का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे तो केवल हेतु का ही ज्ञान होता है और उस हेतु का अपने कार्य के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का। दण्डादि में घट की सत्ता नहीं होती किन्तु शब्द तथा अर्थ में अलंकार की सत्ता रहती है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा यह नहीं

---

१. (क) अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः।
(ख) आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।

—अ० स०, पृ० १२४

२. लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते। यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः।

—अलंकार विमर्शिनी, पृ० २५७

३. लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकार निबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ। न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। —अ० स०, पृ० २५६-५७

४. आश्रयाश्रयिभावेनेति। उपस्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः। तेन योऽलंकारो यदुपस्कारः स तदलंकार इति पिण्डार्थः। —वि०, पृ० २५७

५. Thus in deciding whether a particular अलंकार is a शब्दालंकार or an अर्थालंकार, the author seems to resort to 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तस्यालंकारः' of old writers on poetics.

—एकावली, पृ० ५०६

६. आश्रयाश्रयिभावेनालंकार्यालंकारभावो लोकवत् काव्येऽपि संमतः। चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां चाश्रयभेदाद्भेदव्यपदेशः। संघटनाश्रया गुणाः, शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः। —प्रतापरुद्रीय, पृ० २२६-२७

७. अलंकारमीमांसा, पृ० १६८

कहा जा सकता कि अमुक अलंकार का आधार शब्द है अथवा नहीं।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आलंकारिकों का अलंकार वर्गीकरण में आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त दर्शन से केवल शाब्दिक साम्य रखता है।

काव्यशास्त्र में अन्वयव्यतिरेक भाव के समर्थक आचार्य

दर्शन के अन्वयव्यतिरेकभाव के समर्थकों में आचार्य मम्मट का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। उनका कहना है कि यदि किसी शब्द विशेष के रहने पर अलंकार-विशेष रहे और न रहने पर न रहे तो अन्वयव्यतिरेकभाव से नियन्त्रित होने के नाते उसे शब्दालंकार कहा जाएगा, अन्यथा अर्थालंकार।[2] उनके अनुसार न केवल अलंकार अपितु दोष तथा गुण के भी शब्दार्थोभय विभाग का आधार अन्वयव्यतिरेकभाव ही है।[3] अन्वय-व्यतिरेकवादी के अनुसार तो आश्रयाश्रयिभाव भी अन्ततः अन्वयव्यतिरेकभाव पर ही आधारित है।[4]

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अलंकार विभाजन के दोनों सिद्धान्तों आश्रयाश्रयिभाव तथा अन्वयव्यतिरेकभाव का आधार भारतीय दर्शन ही है। इनमें से आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त तो दर्शन से केवल शाब्दिक साम्य रखता है जबकि अन्वय-व्यतिरेकभाव का सिद्धान्त शाब्दिक तथा आर्थिक दोनों रूपों में दर्शन से प्रभावित प्रतीत होता है।

दार्शनिक प्रक्रिया से अनुप्राणित अलंकार

काव्यशास्त्र के अनेक अलंकार भारतीय दर्शन की शब्दावली एवं प्रक्रिया से अनुप्राणित प्रतीत होते हैं। उनमें से कतिपय अलंकारों के केवल दर्शन से प्रभावित अंशों का ही अकारादि क्रम से संक्षिप्त निरूपण निम्न प्रकार से किया जाता है।

---

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु। न तु आश्रयत्वावगमः। स पुनस्तद्वृत्तिज्ञानत्वाधीनः।

—अलंकारमीमांसा, पृ० १६७ से उद्धृत, रसगंगाधर, पृ० ४०२

२. योऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।

—अलंकारमीमांसा, पृ० १६६ से उद्धृत, का० प्र०, पृ० ४२७

३. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।

—का० प्र०, नवम उल्लास, पृ० ४२३

४. योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

—अलंकारमीमांसा, पृ० १६६ से उद्धृत, का० प्र०

अर्थान्तरन्यास अलंकार

अर्थान्तरन्यास अलंकार के मूल में निहित भाव के विषय में आलंकारिकों में तीन मत प्रचलित हैं। कोई इस अलंकार को सामान्य-विशेष भाव पर आधारित मानते हैं, कोई साध्यसाधनभाव से इसका निरूपण करते हैं तो अन्य समर्थ्य-समर्थक भाव को इसका आधार मानते हैं। इन तीन आधारों में से प्रथम दो सामान्यविशेषभाव तथा साध्यसाधन-भाव की चर्चा दर्शनग्रन्थों में हुई है। वैशेषिक दर्शन में वर्णित सात पदार्थों में सामान्य और विशेष का विशिष्ट स्थान है। वहाँ सामान्य उसे कहा गया है जो प्रध्वंस का प्रतियोगी न हो तथा अनेक पदार्थों में समवेत हो।[१] तथा विशेष वह है जो समवाय सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य से रहित हो।[२]

साध्यसाधनभाव की चर्चा भी दर्शन में विशेष रूप से न्याय दर्शन में अनुमान के प्रकरण में विस्तृत रूप से हुई है।

आलंकारिकों द्वारा निरूपित अर्थान्तरन्यास अलंकार दार्शनिकों के सामान्य-विशेष-भाव अथवा साध्यसाधनभाव पर आधारित है। इस अलंकार के उद्भावक आचार्य भामह है।[३] भामह ने इसमें सामान्यविशेषभाव का स्पष्ट संकेत नहीं किया। दण्डी ने साध्यसाधनभाव से इस अलंकार का निरूपण किया है।[४] तदनन्तर वामन ने यह स्पष्ट कर दिया कि हेतु का उपन्यास इस अलंकार के लिए आवश्यक नहीं।[५] रुद्रट ने सर्वप्रथम सामान्य-विशेषभाव के द्वारा इस अलंकार का उल्लेख किया है।[६] मम्मट[७] ने अर्थान्तर-न्यास में सामान्य-विशेषभाव एवं समर्थ्यसमर्थकभाव दोनों की चर्चा की है। रुय्यक ने सामान्यविशेष के साथ कार्यकारणभाव को भी 'अर्थान्तरन्यास' माना है।[८]

---

१. सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम्। —स० द० सं० पृ० ४०७

२. विशेषो नामान्योन्याभावविरोधिसामान्यरहितः समवेतः। —वही

३. उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥ —का० अ० (भामह) २।७१

४. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुतः। —काव्यादर्श २।१६९

५. उक्तसिद्धयै उक्ततस्यार्थस्य सिद्धयर्थं वस्तुनो वाक्यार्थान्तिरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। वस्तुग्रहणात्पदार्थस्य हेतोर्न्यसनं नार्थान्तरन्यासः।
— का० अ० सू० वृ० ४।३।२१ की वृत्ति

६. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्धयै।
यत्सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः॥ —का० अ० (रुद्रट) ८।७९

७. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ —का० प्र० १०।१०९

८. सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।
—अ० स० पृ० १३९

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के अर्थान्तरन्यास अलंकार का आधार दर्शन ही है। दोनों में अन्तर यह है कि दर्शन का सामान्यविशेषभाव तथा साध्यसाधन-भाव एक सत्य एवं नीरस कथन मात्र ही होता है जबकि अर्थान्तरन्यास अलंकार कवि-कल्पना से ओतप्रोत एवं चमत्कार सम्पन्न है।

अर्थापत्ति अलंकार

भारतीय दर्शन में 'अर्थापत्ति' का एक पृथक् प्रमाण के रूप में विवेचन प्रभाकर, कुमारिलभट्ट तथा वेदान्ती दार्शनिकों ने किया है। वैसे खण्डन-मण्डन के रूप में इसकी चर्चा प्रायः सभी दर्शन ग्रन्थों में हुई है। वहाँ प्रामाणिक अर्थ की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहा गया है।[1] जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस प्रसंग में यदि देवदत्त कभी नहीं खाता तो मोटा नहीं रह पाता, इसलिए यह कल्पना की जाती है कि वह रात में खाता है। अर्थापत्ति के दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति नाम से दो भेदों की चर्चा भी वहाँ हुई है।[2]

काव्यशास्त्र में दर्शन के अर्थापत्ति प्रमाण को अलंकार के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस अलंकार का निरूपण सरस्वतीकण्ठाभरण[3], अलंकारसर्वस्व[4], एकावली[5], साहित्यदर्पण[6] तथा कुवलयानन्द[7] आदि में हुआ है। कुवलयानन्द में काव्यार्थापत्ति नामक एक पृथक् अलंकार का निरूपण भी हुआ है।[8] अप्पयदीक्षित का कथन है कि इस अलंकार के साथ काव्य शब्द जोड़कर इसे काव्यार्थापत्ति इसलिए कहा

---

१. अन्यथानुपपत्त्या यदुपपादककल्पनम्।
तदर्थापत्तिरित्येवं लक्षणं भाष्यभाषितम्। —मानमेयोदय, पृ० ११८

२. सा पुनर्द्वयी दृष्टार्थापत्तिः श्रुत्यार्थापत्तिश्च इति। —वही, पृ० १२९
अर्थापत्तिप्रभावेण सर्वं संभवतीति चेत्।
हन्तैवं सर्ववस्तूनामदृष्ट्या नासंशये ॥ —वही, पृ० १२८
यत्र त्वपरिपूर्णस्य वाक्यस्यान्वयसिद्धये।
शब्दोऽध्याह्रियते तत्र श्रुतार्थापत्तिरिष्यते। —वही, पृ० १२९

३. प्रत्यक्षादिप्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरं च गमयत्यर्थापत्तिं वदन्ति ताम्। —स० क० भ० ३।५२

४. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः। —अ० स०, पृ० १९६

५. दण्डापूपिकया यत् स्यादेवार्थान्तरापतनम्।
अर्थापत्तिरियं सा कथितालंकारपारगैर्द्वेधा ॥ —एकावली, ८।५५

६. दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते। —सा० द० १०।८३

७. निर्णेतु शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि।
अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थितिः ॥ —कुवलयानन्द, ११४वां अलंकार

८. कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्। —कुवलयानन्द, ५९वां अलंकार

गया है कि मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण की व्यावृत्ति हो जाए।[1] इन सब आलंकारिकों की परिभाषाओं का अध्ययन करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे समक्ष आते हैं —

(क) दर्शन तथा काव्य दोनों में अर्थापत्ति समान भाव को व्यक्त करती है अर्थात् दोनों में ही एक वाक्य में उपपत्ति लाने के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाती है।[2]

(ख) दर्शन में 'श्रुतार्थापत्ति' एवं दृष्टार्थापत्ति नाम से अर्थापत्ति के जो दो भेद माने गये हैं उनका उल्लेख विद्याधर,[3] रुय्यक[4] तथा विश्वनाथ[5] ने स्वग्रन्थों में प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ का आपतन तथा अप्राकरणिक से प्राकरिणक अर्थ का आपतन संज्ञा से किया है।

(ग) दर्शन की जिन विधाओं ने अर्थापत्ति को एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया उन्होंने इसका अन्तर्भाव अनुमान में कर दिया है।[6] किन्तु अलंकार-ग्रन्थों में इसे अनुमान से पृथक् सिद्ध किया है।[7]

(घ) दर्शन की अर्थापत्ति तर्कपूर्ण शुष्क वाक्य के अतिरिक्त कुछ नहीं जबकि काव्य की अर्थापत्ति चमत्कारपूर्ण एवं कवि प्रतिभा की उपज है।

अनुमानालंकार

'अनुमान' दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। लिंग अर्थात् हेतु से लिंगी अर्थात् साध्य

---

१. तान्त्रिकाभिमतार्थापत्तिव्यावर्तनाय काव्येति विशेषणम्। —कुवलयानन्द, वृत्ति

२. प्रमाणप्रतीतस्यार्थस्यान्यथाकरणानुपपत्तिज्ञानेन प्रसूतं ज्ञानमर्थापत्तिः......यदर्थान्तरं गमयति तामर्थापत्तिं वदन्तीति। अर्थान्तरगतिरेवार्थापत्तिरिति व्यक्तम्। —स० क० भ० ३।५२ की टीका

३. इयं च द्वेधा। प्राकरणिकादप्राकरणिकस्यार्थादापतने तावदेका। अप्राकरणिकात् प्राकरणिकस्यार्थादापतने तु द्वितीया। —एकावली, ८।५५ की वृत्ति

४. इयं च द्विधा। प्राकरणिकादप्राकरणिकस्यार्थापतनमेकः प्रकारः। अप्राकरणिकात्प्राकरिणकस्यार्थपतने द्वितीयः प्रकारः। —अ० स०, पृ० १९७

५. अत्र च क्वचित्प्राकणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरिणकार्थात्प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ। —सा० द० १०।८३ की वृत्ति

६. नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तर्कभाषा, अर्थापत्ति प्रकरण, पृ० ११५

७. (क) न चेदमनुमानम्। समन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्। असम्बन्धे चानुमानानुत्थानात्। अर्थापत्तिश्च वाक्यविदां न्याय इति तज्जातीयत्वेनेहाभिधानम्। —अ० स०, पृ० १९७

(ख) नेयमनुमानम्। समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्। असम्बन्धेन तु तस्यानुत्थानात्। —एकावली ८।५५ की वृत्ति

(ग) न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्। —सा० द० १०।८३ की वृत्ति

का परामर्श ही 'अनुमान' का लक्षण है[1] जो थोड़े-बहुत अन्तर के साथ दर्शन की प्रायः सभी विधाओं को मान्य है। काव्य में भी साध्यसाधन के रूप में विवेच्य विषय का निरूपण पाया जाता है। जहाँ उसी में चमत्कार हो उसे अनुमान अलंकार की संज्ञा दी गई है जो अन्वर्थ है।

अनुमान का अलंकार के रूप में विवेचन प्रथम आलंकारिक भामह से ही उपलब्ध होता है।[2] तदनन्तर रुद्रट[3], भोज[4], रुय्यक[5], विद्याधर[6], मम्मट[7] तथा विश्वनाथ[8] आदि ने इसका विवेचन विशेष रूप से किया है।

इनके लक्षणों को देखकर हठात् यह कहा जा सकता है कि इन पर अनुमान की दार्शनिक परिभाषाओं का प्रभाव है। भोज ने तो अनुमानालंकार के जो तीन भेद पूर्ववत्, शेषवत्, एवं सामान्यतोदृष्ट[9] माने हैं वह दर्शन के अनुमान के ही तीन भेद हैं।[10]

अनुमान प्रमाण के विवेचन एवं अनुमान अलंकार निरूपण में मौलिक अन्तर यह है कि :

(क) प्रमाण लोक एवं शास्त्र में उपयोगी है, अलंकार केवल काव्य में।

(ख) दर्शन में अनुमान यथार्थ-ज्ञान का सम्यक् प्रमाण है पर काव्य में इससे काव्य-चमत्कार की सृष्टि होती है।

(ग) वह कवि की कल्पना-शक्ति का उद्गार मात्र है, प्रमाण नहीं।

---

१. (अ) लिङ्गलिङ्गिनो संबद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसंबध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते। —वात्स्यायन भाष्य, न्या० सू० १।१।५

(ब) व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम्। —मानमेयोदय, पृ० २५

२. त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमान च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चाऽपरं विदुः। —का० अ० (भामह) ५।११

३. वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम्॥ —रुद्रट, का० अ० ७।५६

४. लिङ्गाद्यल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते।
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतश्च यत्॥ —स० क० भ० ३।४७

५. साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्। —अ० स०, पृ० १८४

६. अनुमतमनुमानमिदं यत्र स्तः साध्यसाधने कथिते। —एकावली ८।९, पृ० ३०२

७. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः। —का० प्र० १०।११७

८. अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। —सा० द० १०।६३

९. स० क० भ० ३।४७

१०. (अ) प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु॥ —सा० का० ५

(ख) अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च॥
—न्या० सू० १।१।५

अभाव अलंकार

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, तब वह वस्तु नहीं है, इस प्रकार उस वस्तु के 'अभाव' का ज्ञान हमें होता है। अतएव 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' नामक एक ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण को मीमांसक मानते हैं, जिसके द्वारा किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो।[1] न्यायदर्शन[2] में ऐतिह्य का शब्द के अन्तर्गत तथा अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है। जहाँ जब कोई वस्तु पहले विद्यमान हो और पीछे न रहे तो उसको अभाव कहा जाता है। अभाव की यही परिभाषा सभी कोटि के दार्शनिकों को स्वीकार्य है। न्याय-दर्शन में वर्णित सात पदार्थों में 'अभाव' अन्तिम पदार्थ है।[3] वहाँ अभाव के चार भेद माने गये हैं। ये हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव[4]। मीमांसकों की भाँति वेदान्तियों ने भी 'अभाव' की सत्ता एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार की है।[5]

अभाव का अलंकार रूप में उल्लेख सर्वप्रथम भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है। उन्होंने अभाव की परिभाषा का निरूपण न करते हुए प्रागभाव आदि चार भेदों का उल्लेख किया है।[6] अभाव के यही चार भेद दर्शनग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भोज के पश्चात् अप्पयदीक्षित ने अनुपलब्धि नामक अलंकार का निरूपण किया है। भोज की भाँति इन्होंने भी इसकी परिभाषा नहीं दी अपितु उदाहरण के माध्यम से ही इसका स्पष्टीकरण किया है।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन की प्रचलित परिभाषा को छोड़

---

१. प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥ —श्रीषड्दर्शनसमुच्चयः, कारिका, ७६

२. शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः।
—न्यायसूत्र २।२।२

३. असत्यर्थेनाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः। —वही, २।२।६

४. द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥
—कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड, का० २

५. अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते। —वही, का० १२

६. अभावः प्रागभावादिभेदेनेह चतुर्विधः
घटाभावादिभेदात्तु तस्य संख्या न विद्यते। —स० क० भ० ३।१५

७. अनुपलब्धिर्यथा—
स्फुटमसदवलग्नं तन्वि निश्चिन्वते ते
तदनुपलभमानास्तर्कयन्तोऽपि लोकाः।
कुचगिरिवरयुग्मं यद्विनाधारमास्ते
तदिह मकरकेतोरिन्द्रजालं प्रतीमः ॥ —कुवलयानन्द, ११५वां अलंकार

अपनी ओर से कोई अन्य परिभाषा देने की आवश्यकता का इन्होंने अनुभव नहीं किया।

काव्य तथा दर्शन के अभाव में मूल अन्तर यह है कि काव्य का अभाव काल्पनिक अभाव है जबकि दर्शन का अभाव वास्तविकता पर आधारित होता है। दर्शन का अभाव एक तर्कपूर्ण तथ्य के रूप में हमारे समक्ष आता है जबकि काव्य का अभाव वर्णन में और अधिक चमत्कार उत्पन्न कर देता है। अतः साम्य होते हुए भी दोनों में अन्तर है।

असंगति अलंकार

दर्शन में कारण-कार्य भाव की चर्चा अनेकत्र हुई है। वेदान्त दर्शन में जिस ब्रह्म को सत्य, ज्ञान, अनन्त आदि (शब्दों) से कहा गया है, उसे जगत् की योनि बताया गया है।[1] ब्रह्म सगुणरूपेण जगत् का कर्त्ता है, जगत् के अणु-अणु में समाया हुआ है। यह धर्म जड़ प्रकृति का नहीं हो सकता।[2] आचार्य काशकृत्स्न भी प्रलयकाल में सम्पूर्ण विश्व के ब्रह्म में अवस्थान करने की बात कहते हैं।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही इस जगत् का परम कारण है और अन्त में यह सृष्टि, जीव और प्राण सभी उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से जड़ प्रकृति का स्रष्टा चेतन ब्रह्म है साथ ही कारण स्वरूप चेतन ब्रह्म तथा कार्य स्वरूप इस जगत् की अलग अलग स्थान पर उपलब्धि की प्रतीति होती है। यह बात बड़ी असंगत सी लगती है फिर भी दर्शन में ऐसा निरूपण उपलब्ध होता है।

कारणकार्यभाव पर आश्रित असंगति अलंकार का निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। इनके अनुसार जहाँ स्पष्टतः एक ही काल में कार्य कहीं और कारण कहीं वर्णित हो, वहाँ असंगति अलंकार होता है।[4] असंगति अलंकार की यही परिभाषा मम्मट[5], रुय्यक[6], जयदेव[7], विश्वनाथ[8] आदि आलंकारिकों को भी मान्य है।

असंगति अलंकार दर्शन में वर्णित तत्त्वों से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि दर्शन में ब्रह्म को सृष्टि का कारण एक तथ्य माना गया है

---

१. शास्त्रयोनित्वात्। —ब्रह्मसूत्र, १।१।३

२. (क) तत्तु समन्वयात्। —वही, १।१।४
(ख) अन्नस्तद्धर्मोपदेशात्। —वही, १।१।२०

३. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। —वही, १।४।२२

४. विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम्॥ —का० अलं० (रुद्रट) ९।४८

५. भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः। —का० प्र० १०।१२४

६. तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः। —अ० स०, पृ० १६३

७. आख्याने भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसङ्गतिः।
त्वद्भक्तानां नमत्यङ्गं भङ्गमेति भवक्लमः॥ —चन्द्रालोक ५।७९

८. कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः। —सा० द० १०।६९

जबकि काव्य में कवि चमत्कारोत्पत्ति के लिए जानबूझकर कारण तथा कार्य की एकत्र स्थिति वर्णित नहीं करता। अतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन से प्रेरणा पाकर ही आलंकारिकों ने इस अलंकार को काव्यशास्त्र में स्थान प्रदान किया।

उत्प्रेक्षा अलंकार

दर्शन में ज्ञान के चार भेदों की चर्चा हुई है। वे हैं सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य। संशय में दो या उससे अधिक कोटियाँ रहती हैं, परन्तु रहती सब समान हैं।[1]

उत्प्रेक्षा अलंकार के मूल में दर्शन का संशय ज्ञान ही निहित है। इसी को आधार मानकर भामह से लेकर जगन्नाथ पर्यन्त सभी आलंकारिकों ने इसका निरूपण किया है। उद्‌भट ने उत्प्रेक्षा का बीज सम्भावना माना है।[2] रुय्यक इसे अध्यवसायगर्भ मानते हैं।[3] अध्यवसाय में विषय का निगीर्ण तथा विषयी का निश्चय होता है किन्तु उत्प्रेक्षा में दोनों ही नहीं हैं।[4] विषय निगीर्ण न होने से भी यदि अध्यवसाय माना जा सकता है तो रूपक को भी अध्यवसाय गर्भ मानना होगा। अध्यवसाय लक्षणा का एक भेद है। किन्तु उत्प्रेक्षा के विधेयांश में लक्षणा नहीं होती। अतः इस अलंकार को साध्य अध्यवसाय ही माना जा सकता है पण्डितराज का ऐसा अभिमत है।[5] जयरथ[6] का भी यही कहना है। उत्प्रेक्षा अलंकार के काव्य तथा दर्शन में निहित तत्त्व के विषय में निम्नलिखित बातें हमारे समक्ष आती हैं:

दर्शन में संशय ज्ञान की सभी कोटियाँ समबल होती हैं किन्तु उत्प्रेक्षा अलंकार में उत्कटैककोटिक संशय विवक्षित है तथा कवि-प्रतिभा से उत्पन्न होता है। उत्प्रेक्षा में संशय आहार्य होता है। इसमें कवि अथवा कवि कल्पित वक्ता को प्रस्तुत का यथार्थज्ञान अवश्य रहता है। वक्रोक्तिजीवितकार सादृश्य को उत्प्रेक्षा के मूल के मानते हैं। उनके अनुसार सादृश्य के दो प्रकार होते हैं वास्तविक तथा काल्पनिक। वास्तविक सादृश्य से उपमा होती है तथा काल्पनिक से उत्प्रेक्षा।[7]

---

१. संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। —व्यासभाष्य, १।३०

२. लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा॥ —का० अ० सा० सं०, तृ० वर्ग, पृ० ३३४

३. अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। —अ० स०, पृ० ६९

४. अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः। तस्य विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति विषयोपादानात्, निश्चयाभावाच्च। —अ० र०, पृ० ४७

५. किं च नूनं मुखं चन्द्र इत्यादौ कुत्राध्यवसायः, विषयस्य जागरूकत्वात्। + + साध्याध्यवसाने मानाभावात्। अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः।
—रसगंगाधर (चन्द्रिका), द्वितीयानन, पृ० ६९३

६. अत एव चात्र क्वचिद् विषयानुपादानम्। —वि० पृ० ६९-७०

७. द्विविधं सादृश्यं सम्भवति वास्तविकं काल्पनिकं च। तत्र वास्तवमुपमादिविषयम्। काल्पनिकमिहाश्रीयते। —व० जी०, तृतीय उन्मेष, पृ० ४२४

अतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन के तथ्यों को ग्रहण कर आलंकारिकों ने उत्प्रेक्षा अलंकार को अलंकारशास्त्र की शर्तों एवं उपयोगिता के अनुरूप ढाल लिया है।

उदाहरण अलंकार

दर्शन[1] में साध्य के सदृश धर्मवाला होने से उन दोनों के धर्म की चर्चा करने को उदाहरण कहा गया है। वहाँ उदाहरण देने के प्रकारों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।[2]

उदाहरण अलंकार का निरूपण प्रमुखतया पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है। उन्होंने सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिए, उसके एकदेश का वर्णन करके, सामान्यपदार्थ और इसके एकदेश का शब्द से उत्तम अङ्गाङ्गिभाव को 'उदाहरण' कहा है।[3] उदाहरण अलंकार में भी 'अर्थान्तरन्यास' की भाँति सामान्य-विशेषभाव प्रतीत अवश्य होता है किन्तु अर्थान्तरन्यास में उस भाव का बोधक कोई पद वहाँ नहीं रहता अतः उससे पृथक् करने के लिए उदाहरणालंकार में उक्त भाव का शब्द द्वारा अवगत होना आवश्यक माना गया है।[4] उदाहरण अलंकार 'दृष्टान्त' से भी भिन्न है। उदाहरण में भावसाम्य प्रायः वाच्य रहता है और दृष्टान्त में व्यंग्य।

उदाहरण अलंकार में भी दर्शन की भाँति यथा, इव आदि समानता बोधक शब्दों का प्रयोग होता है। दोनों में ही तथ्य की पुष्टि के लिए उदाहरण दिए जाते हैं किन्तु दर्शन के उदाहरण लोकसिद्ध तथा व्यावहारिक होते हैं, तथा काव्य के व्यावहारिक एवं कविकल्पित दोनों ही। काव्य में चमत्कार का अंश भी इसे दर्शन से पृथक् कर देता है।

उपमा अलंकार

उपमा प्राचीनतम अलंकारों में से एक है। सादृश्य का भाव बताने के लिए वेदों में 'उपमा' शब्द का प्रयोग मिलता है। मैत्र्युपनिषद में उपमा को अलंकार केरूप में माना गया है तथा इसके अनेक भेदों का भी निरूपण वहाँ हुआ है।[5]

सादृश्य-तत्त्व दर्शन के समान काव्यशास्त्र का भी प्रसिद्ध तत्त्व है। औपम्य के द्वारा कवि एक वस्तु से स्वरूपतः समान दूसरी वस्तु का बिम्ब उपस्थित कर देता है।

---

१. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। —न्यायदर्शन १।३६

२. तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्। —वही, १।३७

३. सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोखयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्। —रसगंगाधर (चन्द्रिका), भाग २, पृ० ४०९

४. अर्थान्तरन्यासवरिणायोच्यमान इति। वचनं च इव-यथा-निदर्शनदृष्टान्तादिशब्दैः काव्येषु स्फुटम्। न च इवयथाशब्दयोः सादृश्यवचनयोरवयवावयविभावे विशेष-सामान्यात्मके नास्ति वृत्तिरिति वाच्यम्। —वही, पृ० वही

५. अलंकार-मीमांसा, पृ० २१२-१३

रुद्रट ने इसी बात को ध्यान में रखकर औपम्य की परिभाषा प्रस्तुत की है।[१] अप्पय-दीक्षित की उपमा विषयक उक्तियाँ दार्शनिक भावों को व्यक्त करती हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म-ज्ञान से जैसे विचित्र विश्व का ज्ञान होता है, ठीक वैसे ही उपमा के ज्ञान से भी सारे अलंकारों का ज्ञान हो जाता है।[२] उन्होंने यह भी कहा है कि उपमा ही एकमात्र नटी है जो विभिन्न विचित्र भूमिकाओं में काव्यरूपी मंच पर नृत्य करती है एवं काव्यरसिकों का मनोरंजन करती है।[३] वेदान्त के अनुसार भी प्रपंच का मूल माया है और ज्ञान वस्तुतः ब्रह्म ही है।[४] अप्पयदीक्षित ने उपमा के ज्ञान को ब्रह्म बताया। उनकी परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली उक्तियों से लगता है कि जहाँ वह प्रपंच सृष्टि की बात कहते हैं वहाँ पर उपमा को माया के समान बताना चाहते हैं और जहाँ ज्ञान की बात करते हैं वहाँ उसे ब्रह्म के समान।

उपमा अलंकार का निरूपण भरत से लेकर जगन्नाथ पर्यन्त सभी आलंकारिकों ने किया है। सभी परिभाषाएँ शब्दभेद से एक ही भाव को व्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए भरत[५] तथा जगन्नाथ[६] की परिभाषा ली जाती है।

दो वस्तुओं की समानधर्मता दार्शनिक विषय है। सांख्य में व्यक्त और अव्यक्त तथा महत् और अहंकार की समान धर्मता के समान अन्य दर्शनों में भी समान धर्मता का प्रतिपादन किया गया है। उपमा भी इसी सरणि पर लौकिक सामर्थ्य का विवेचन करती है।

अतः उपमा निरूपण की प्रक्रिया दर्शन की प्रक्रिया से साम्य रखती है।

उपमान अलंकार

'उपमान' का एक पृथक् प्रमाण के रूप में विवेचन न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन में उपलब्ध होता है। दर्शन की अन्य विधाएँ 'उपमान' को एक पृथक् प्रमाण न मान इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द में दिखाती हैं। उपमान की परिभाषा के

---

१. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्। —का० अलं० ८।१

२. तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसंहिता सा॥ चित्रमीमांसा, पृ० ३५

३. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ —वही, पृ० ३३

४. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। —विवेकचूड़ामणि, पृ० ८२

५. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥ —ना० शा० १७।४४

६. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।
—रसगंगाधर (चन्द्रिका), द्वितीयानन, पृ० १९५

विषय में भी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। मीमांसक[1] सादृश्य के आधार पर प्रकृत से अप्रकृत विषय के ज्ञान को उपमान कहते हैं तो नैयायिकों[2] का अप्रकृत के द्वारा प्रकृत का ज्ञान ही 'उपमान' है।

'उपमान' का एक अलंकार के रूप में विवेचन सर्वप्रथम भोज ने किया है। उन्होंने 'उपमान' के दो भेद भी माने हैं जिनमें से एक भेद न्याय की उपमान की परिभाषा के अनुरूप है तो दूसरा मीमांसादर्शन की उपमान की परिभाषा के अनुरूप।[3] मीमांसकों के मत का उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख भी किया है।[4] भोज के पश्चात् अप्पयदीक्षित ने उपमान अलंकार का निरूपण किया है। दीक्षित महोदय ने उपमान अलंकार की परिभाषा न देकर दो उदाहरणों के माध्यम से इस अलंकार का स्पष्टीकरण किया है। इनमें पहला उदाहरण मीमांसादर्शन के मत को प्रकट करता है[5] तथा दूसरा उदाहरण न्यायदर्शन के मत को।[6] इस कथन का संकेत उन्होंने स्वयं वृत्ति में किया है।[7]

यद्यपि काव्य का उपमान दर्शन के उपमान से पर्याप्त साम्य रखता है किन्तु मौलिक अन्तर यह है कि काव्य का उपमान 'यथा गौस्तथा गवयः' सदृश नीरस कथन मात्र न होकर सरस एवं चमत्कारपूर्ण होता है।

ऐतिह्य अलंकार

ऐतिह्य की प्रमाण रूप में चर्चा पौराणिक दार्शनिकों ने की है। ऐतिह्य का उल्लेख कुमारिल ने किया है[8] किन्तु अन्य मीमांसकों की भाँति उन्होंने भी इसे स्वीकार नहीं किया।

---

१. दृश्यमानार्थसादृश्यात् स्मर्यमाणार्थगोचरम्।
असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं ह्युपमितिर्मता ॥ —मानमेयोदय, पृ० १०८

२. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। —न्यायसूत्र १।१।६

३. सदृशात्सदृशज्ञानमुपमानं द्विधेह तत्।
स्यादेकमनुभूतेऽर्थेऽननुभूते द्वितीयकम् ॥ —स० क० भ० ३।५०

४. इह मीमांसका वर्णयन्ति। उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। अस्यार्थः। सादृश्यं सादृश्यज्ञानम्। ज्ञायमानसादृश्यमिति यावत्। —वही, वृत्ति

५. उपमानं यथा—
तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषमात्र मण्डले।
यस्तन्वि तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥ —कुवलयानन्द ११०वां अलंकार

६. अत्र मन्मथमिवातिसुन्दरं दानवारिमिव दिव्यतेजसम्।
शैलराजमिव धैर्यशालिनं वेद्भि वेङ्कटपतिं महीपतिम् ॥ —वही

७. पूर्वोदाहरणे उपमामूलभूतमतिदेशवाक्यं दर्शितम्। अत्रातिदेशवाक्यार्थसादृश्यप्रत्यक्ष-रूपमुपमानं फलेन सह दर्शितमिति विशेषः। —वही, वृत्ति

८. ये तु संभवमैतिह्यमिति मानान्तरं विदुः।
तेऽनुमाने च शाब्दे च चोरवृत्तिमुपाश्रिताः। —मानमेयोदय, पृ० १४३

दर्शन की भाँति काव्य का ऐतिह्य भी अधिक मान्यता न प्राप्त कर सका। अलंकार के रूप में इसका निरूपण केवल कुवलयानन्द में ही हुआ है। यहाँ भी इसकी परिभाषा उपलब्ध नहीं होती अपितु उपलब्ध उदाहरण[1] एवं वृत्ति[2] के माध्यम से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य तथा दर्शन दोनों में ही ऐतिह्य प्रवाद मात्र प्रतीत होता है। दोनों में ही सत्यता का अनुमान एक सीमा तक नहीं लगाया जा सकता फिर भी काव्य में निहित चमत्कार का तत्त्व इसे दर्शन के नीरस वाक्य से पृथक् कर देता है।

काव्यलिंग अलंकार

लिंग शब्द की व्युत्पत्ति 'लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' की गई है। दर्शन में लिंग की चर्चा अनुमान के प्रसंग में हुई है। वहाँ लिंग के परामर्श को अनुमान कहा गया है।[3] लिंग का स्पष्टीकरण विविध दर्शनग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[4] सभी दर्शन-ग्रन्थों में प्रमुख रूप से व्याप्ति बल से अर्थ के बोधक को लिंग कहा गया है।[5] पर्वतादि पर धूम को देखकर जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है इस साहचर्य नियम या व्याप्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष वह्नि का ज्ञान होता है। अतः धुआँ वह्नि का लिंग कहलायेगा।

कार्यकारणभावमूलक काव्यलिंग अलंकार के प्रणेता उद्भट हैं। उद्भट ने काव्यलिंग की परिभाषा जहाँ एक वस्तु श्रुतिगोचर होकर दूसरी वस्तु का स्मरण अथवा अनुभव कराए वहाँ काव्यलिंग होता है की है।[6] आचार्य दण्डी इस अलंकार का अन्तर्भाव हेतु अलंकार में करते हैं।[7] मम्मट आदि सभी प्रमुख आलंकारिकों ने काव्यलिंग को ही हेतु अलंकार भी कहा है। मम्मट के अनुसार काव्यलिंग वह अलंकार है जहाँ वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में हेतु कहा जाता है।[8] काव्यलिंग की यही परिभाषा थोड़े-बहुत अन्तर के

---

१. कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ —कुवलयानन्द, ११७वां अलंकार

२. अत्र लौकिकी गाथेयमित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यरूपता दर्शिता।
—वही, वृत्ति

३. लिङ्गपरामर्शोनुमानम्। —तर्कभाषा (अनुमानप्रकरण), पृ० ७१

४. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ —न्या० सू० १।१।१६

५. व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्। —तर्कभाषा, पृ० ७२

६. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्यते काव्यलिङ्ग तदुच्यते ॥ —का० अ० सा० सं०, पृ० ४१०

७. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ॥ —काव्यादर्श २।२३५

८. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता। —का० प्र० १०।११४

साथ रुय्यक[1], जयदेव[2], विद्याधर[3], विश्वनाथ[4] तथा अप्पयदीक्षित[5] को भी मान्य है।

काव्य तथा दर्शन दोनों में ही 'लिंग' शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु तार्किक हेतु में लोकप्रसिद्ध वस्तु की सिद्धि करने के लिए ऐसे हेतु का जो पक्ष धर्म में है अन्वय-व्यतिरेक के अनुसरण की क्षमता है। साथ ही इसका प्रयोग नीरसता भी उत्पन्न कर देता है। यह स्थिति काव्य के हेतु में नहीं होती, कारण इस काव्ययी हेतु का विषय सभी लोगों के लिए अत्यन्त सरस तथा हृदयसंवादी होता है। अतः लौकिक हेतु से विलक्षणता स्पष्ट करने के लिए ही 'काव्यलिंग' में 'काव्य' विशेषण लगा दिया गया है।[6] उद्भट ने अपनी परिभाषा में वर्णित 'स्मृतेरनुभवस्यैवेति' के द्वारा तार्किकों के हेतु व्यापार को माना है।[7]

अतः स्पष्ट है कि दार्शनिकों के 'लिंग' को ग्रहण कर आलंकारिकों ने उसे एक नया रूप प्रदान कर दिया है।

जाति अलंकार

जो नित्य होकर अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहे उसे दर्शन में 'जाति' कहा गया है। न्यायदर्शन में जाति की परिभाषा साधर्म्य तथा वैधर्म्य का प्रत्यवस्थान की गई है।[8]

---

१. हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम्। —अं० स०, पृ० १८१

२. स्यात्काव्यलिङ्ग वागर्थो नूतनार्थसमर्पकः।
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः। —चन्द्रालोक, ५।३८, पृ० १४०

३. वाक्यार्थो यदि हेतुर्भवति पदार्थो विशेषणद्वारा।
द्विविधं कथयन्ति तदालंकारं काव्यलिङ्गमिति। —एकावली २।४६

४. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गः निगद्यते।
—विमलाव्याख्या, सा० द०, अ० १०, पृ० ३४७

५. समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्‌गं समर्थनम्।
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चितेऽस्ति त्रिलोचनः। —कुवलयानन्द ६०वां अलंकार

६. यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनोपनिबध्यमाना वैरस्यभावहन्ति न तथा काव्यहेतुः अतिशयेन सर्वेषां जनानां यौऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थस्तन्निष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात्। अतः काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम्।
—का० अ० सार० सं०, षष्ठ वर्ग, ७।७४ की वृत्ति

७. तार्किकाणां च हेतुव्यापारे द्वैविध्यम्। केचित्खलु तार्किका व्याप्तिग्रहणकाले यदनुभूतं व्यापकं वह्न्यादि वस्तु धूमादेर्व्याप्यस्य तत्स्मरणमात्रे धूमादिहेतुदर्शनप्रबुद्धसंस्काराणां पुरुषाणां हेतुव्यापारं मन्यन्ते अपरे तु वह्न्यादीनां पर्वतादिधर्मविशेषसम्बन्धस्य पूर्वमगृहीतस्य धूमादि हेतुव्यापारसामर्थ्येन इदानीमवसेयत्वाल्लिङ्गसामर्थ्याल्लिङ्गयनुभवस्यैवोत्पत्तिमाहुः। तदिदमुक्तम्-स्मृतेरनुभवस्यैवेति।
—वही, पृ० ४१६

८. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। —न्यायदर्शन, १।२।१८

बौद्ध तथा जैन जाति को नहीं मानते।

काव्यशास्त्र में जाति अलंकार का निरूपण केवल रुद्रट ने किया है। उन्होंने जाति सामान्य की परिभाषा भिन्न क्रिया और गुण वाले अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है, को जाति कहा है।[1] रुद्रट द्वारा प्रस्तुत जाति अलंकार की परिभाषा[2] तथा दर्शन की जाति में इतना ही साम्य है कि दोनों की जाति नित्य है तथा व्यक्ति अथवा पदार्थ के समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। अलंकार में निहित चमत्कार का तत्त्व इसे दर्शन से पृथक् कर देता है।

दृष्टान्त अलंकार

भारतीय दर्शन में अनुमान के प्रसंग में दृष्टान्त की चर्चा हुई है। न्यायदर्शन में वर्णित षोडश पदार्थों में दृष्टान्त का स्थान पाँचवाँ है। वहाँ उस अर्थ को 'दृष्टान्त' कहा गया है जिसके विषय में साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ पुरुषों को एक सा ज्ञान हो जिसको दोनों एक रूप में मानते हों।[3]

काव्य में 'दृष्टान्त' अलंकार की गणना वाक्यौपमाश्रय वर्ग के अर्थालंकारों में की गई है। इस अलंकार के उद्भावक आचार्य भामह हैं। उन्होंने इसे शुद्ध दृष्टान्त नाम दिया है।[4] उद्भट ने इसे काव्य दृष्टान्त[5] सम्भवतः इसलिए कहा था ताकि न्याय की अनुमान प्रक्रिया में समाविष्ट दृष्टान्त से भेद स्पष्ट रहे। वामन को छोड़कर परवर्ती सभी आलंकारिकों ने 'काव्य' शब्द का पुछल्ला हटाकर इस अलंकार को स्वीकार किया है।

रुय्यक ने धर्मी के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है उसे दृष्टान्त अलंकार कहा है।[6] मम्मट का लक्षण भी यही सूचित करता है।[7]

---

१. अथ जातिः—
भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥ —का० अ०, रुद्रट ७।६

२. अथ जातिः—
संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथा जातिः॥ —वही, ७।३०

३. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। —न्यायसूत्र १।१।२५

४. यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्यसाधने।
तमाहुः शुद्धदृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा। —का० अ० (भामह) ५।५८

५. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते॥
—का० अ० सार० संग्रह, षष्ठ वर्ग, पृ० ४१७

६. तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः। —अ० स०, पृ० ९६

७. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्। —का० प्र० १०।१०२

विश्वनाथ[1], अप्पयदीक्षित[2] आदि परवर्ती आलंकारिकों ने भी प्रायः मम्मट और रुय्यक का अनुसरण किया है। प्रस्तुत विवरण के आधार पर दर्शन तथा काव्य के दृष्टान्त में निम्नलिखित साम्य और वैषम्य दृष्टिगोचर होता है :

साम्य

(क) काव्य और दर्शन दोनों दृष्टान्तों में प्रसंगवश कही बात को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए उस बात से मिलती-जुलती बात कह दी जाती है। इन दोनों बातों में ऐसा ही मेल होता है जैसा बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब में।

(ख) दोनों में साम्यबोधक शब्द का प्रयोग नहीं होता।

(ग) दर्शन में दृष्टान्त के साधर्म्य तथा वैधर्म्य नामक दो भेद माने गए हैं।[3] मम्मट[4] तथा विश्वनाथ[5] आदि आलंकारिकों ने भी दृष्टान्त अलंकार के यही दो भेद माने हैं।

वैषम्य

दृष्टान्तालंकार में दो स्वाधीन तथा पृथक्-पृथक् वाक्य रहते हैं जिनका सार होता हैं चमत्कार। जबकि तर्कशास्त्र का दृष्टान्त नपी-तुली, तर्कपूर्ण एवं कर्कश सामग्री को लेकर चलता हैं। वहाँ दृष्टान्त में दो पृथक् वाक्यों का होना आवश्यक नहीं।

परिणाम अलंकार

परिणाम का विवेचन दर्शन की लगभग सभी विधाओं ने किया है। जैनों ने स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद में प्रत्येक पदार्थ को परिणामी कहा है, यह सत् का स्वभाव है। सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस् का परिणाम है।[6] वेदान्तदर्शन में ब्रह्म को जगत् का स्वाभाविक परिणाम माना गया है।

काव्य में परिणामालंकार के उद्भावक रुय्यक ने इसका लक्षण 'आरोपित किया

---

१. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। —सा० द० १०।५०

२. चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः।
त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान्॥
—कुवलयानन्द, १८वां अलंकार

३. स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा तस्यैव महाह्रद इति। —तर्कभाषा, पृ० २३७-३८

४. एष साधर्म्येण। वैधर्म्येण तु—। —का० प्र०, १०।१०२ वृत्ति

५. अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा। —सा० द० १०।५०

६. अविवेक्यादेरिसद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥ —सां० का० १४

जाने वाला—अर्थात् उपमान यदि प्रस्तुतकार्योपयोगी हो तो 'परिणाम' होता है, की है।[१] जयदेव[२], विश्वनाथ[३], अप्पयदीक्षित[४], तथा पण्डितराज[५] प्रभृति आचार्यों की परिभाषाएँ भी इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं।

काव्य तथा दर्शन दोनों परिणामों में विषय पर विषयी के रूप तथा व्यवहार दोनों का परिणाम होता है। अन्तर यह है कि दर्शन के परिणाम में विषयी अपना स्वरूप ही खो बैठता है जैसे दूध का दही के परिणाम में दूध का अस्तित्व सर्वथा विनिष्ट हो जाता है किन्तु काव्य के परिणाम में विषयी का अस्तित्व भी रहता है, वह पूर्णरूपेण विषय में विलीन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त काव्य का परिणाम आहार्य एवं चमत्कारिक भी होता है। यही दोनों में साम्य और वैषम्य है।

परिसंख्या अलंकार

'परिसंख्या' शब्द मीमांसा दर्शन की देन है। मीमांसा दर्शन में यह तीसरी विधि है। इसका अर्थ है अनेक कार्यों में एक की स्वीकृति और अन्यों का निषेध[६] अर्थात् परिसंख्या विधि के द्वारा एक वस्तु का विधान किया जाता है और अन्य संभाव्य वस्तुओं का निषेध।

परिसंख्या अलंकार का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने करते हुए जहाँ गुण, क्रिया, जाति रूप वस्तु कहीं तो तुल्य विद्यमान अर्थात् अन्य स्थानों पर भी विद्यमान कही जाती है, और कहीं पर उनका अभाव होता है उसे परिसंख्या कहा है।[७] तदनन्तर इन्हीं भावों को व्यक्त करती हुए परिभाषाएँ मम्मट[८], रुय्यक[९], तथा विश्वनाथ[१०] प्रभृति आलंकारिकों

---

१. आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। —अ० स०, पृ० ५१

२. परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ। —चन्द्रालोक, ५।२२

३. विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा॥ —सा० द० १०।३४

४. परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।
प्रसन्नेन दृगाब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा॥ —कुवलयानन्द, छठा अलंकार

५. विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः।
—र० ग० ध० (चन्द्रिका), द्वि० आ०, पृ० ५३२

६. एकस्मिन्प्रधाने नियतप्राप्तस्याङ्गद्वयस्यैकस्मिन्नङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वयसंबंधस्य वाऽन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसङ्ख्याविधिः। यथा गृहमधीये आज्यभागौ यजतीति। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१

७. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचितुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ —का० अलं०, ७।७९

८. किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥ —का० प्र० १०।११९

९. एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। —अ० स०, पृ० १६३

१०. प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्।
तादृगन्यव्यपोषश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा परिसंख्या॥ —सा० द० १०।८१

ने दी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने परिसंख्या की परिभाषा[1] देते हुए पूर्वतंत्र[2] की परिभाषा को भी उद्धृत किया है। 'पूर्वतन्त्र' से वहाँ अभिप्राय पूर्वमीमांसा से है तथा 'यदाहुः' से वार्तिककार।[3]

मीमांसादर्शन की परिसंख्या को अलंकाररूप में ग्रहण कर आचार्यों ने इसका अर्थविस्तार कर दिया है। यहाँ काल्पनिक विधि और निषेध का चमत्कार ही प्रमुख हो गया है जबकि मीमांसादर्शन में नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से विधि-निषेध को प्रमुखता मिलती है। परिसंख्या अलंकार में कवि कल्पना को सपंख उड़ने का पर्याप्त अवसर मिलता है। इस दृष्टि से यह अलंकार कवि को अभिव्यक्ति स्वच्छन्दता की छूट देता है।

प्रत्यक्ष अलंकार

प्रमाणों की संख्या के विषय में दार्शनिक एकमत नहीं हैं। प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसकी सत्ता चार्वाक से लेकर वेदान्त पर्यन्त सभी कोटि के दार्शनिकों ने स्वीकार की है। तर्कभाषा में साक्षात्कारिप्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहा गया है।[4] सांख्यकारिका में भी इससे मिलती-जुलती परिभाषा ही उपलब्ध होती है।[5] थोड़े-बहुत अन्तर के साथ प्रत्यक्ष की यह परिभाषा दर्शन की सभी विधाओं को मान्य है।

प्रत्यक्ष अलंकार के उद्भावक आचार्य भामह ने दार्शनिक आधार पर इसका विवेचन किया है।[6] बौद्धदर्शन में कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। वे केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। भामह ने बौद्धों के इसी मत को चार कारिकाओं में प्रस्तुत किया है।[7] भामह के अनन्तर इस अलंकार का विवेचन केवल अप्पयदीक्षित ने

---

१. सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्तिः परिसंख्या ॥
—रस० गं० ध०, काव्यमाला, पृ० ४८२

२. पूर्वतन्त्रे तु नियमपरिसंख्ययोर्भेदेन परिभाषणम्। यदाहुः
विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ॥ —वही, पृ० ४८३

३. पूर्वतन्त्रे पूर्वमीमांसायां। यदादुर्वार्तिककाराः। —वही, नागेशभट्ट कृत टीका

४. साक्षात्कारिप्रभाकरणं प्रत्यक्षम्। —तर्कभाषा, पृ० ४६

५. सां० का० ५

६. सत्त्वादयः प्रमाणाम्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
असाधारणसामान्यविषयत्वं तयोः किल ॥ —का० अ० ५।५

७. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन्।
कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रतिजानते ॥६॥
समारोपः किलैतावान् सदर्थालम्बनं च तत्।
जात्याद्यपोहे वृत्तिः क्व क्व विशेषः कुतश्च सः ॥७॥
तदपोहेषु च तथा सिद्धा सा बुद्धिगोचरा।
अवस्तुकं चेद्वितथं प्रत्यक्षं तत्त्ववृत्ति हि ॥८॥
ग्राह्यग्राहकभेदेन विज्ञानांशो मतो यदि।
विज्ञानमत्र सादृश्याद्विशेषोऽस्य विकल्पना ॥९॥ —का० अ० (भामह), ५।६ से ९

किया है। उन्होंने प्रत्यक्षालंकार का स्पष्टीकरण दो उदाहरणों के माध्यम से किया है।[१] ये दोनों ही उदारहण दर्शन में प्रत्यक्ष की सर्वसंम्मत परिभाषा को व्यक्त करते हैं।

काव्य तथा दर्शन के प्रत्यक्ष में मूल अन्तर यह है कि काव्य में जगत् में अविमद्यान वस्तुओं का भी कविप्रतिभा के द्वारा चमत्कारपूर्ण प्रत्यक्ष होता है जबकि दर्शन का प्रत्यक्ष इन्द्रियसन्निकर्ष से ही सम्भव होता है।

भाविक अलंकार

योगदर्शन के विभूतिपाद में ऐसा वर्णन मिलता है कि धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्थापरिणामों में संयम से योगियों को भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है।[२]

योगदर्शन के इन्हीं भावों पर आधारित अलंकार भाविक है। इस अलंकार की प्रतिस्थापना भामह ने की। भामह ने इसे प्रबन्धगत अलंकार मानते हुए भूत तथा भविष्य काल में होने वाले पदार्थों के प्रत्यक्ष के समान वर्णन को भाविक अलंकार कहा है।[३] तदनन्तर दण्डी,[४] उद्भट,[५] मम्मट[६], रुय्यक[७], अप्पयदीक्षित[८] आदि आलंकारिकों की

---

१. प्रमाणालंकारे प्रत्यक्षं यथा—
क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः॥
यथावा
किं तावत्सरसि सरोजमेतदाराहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्वोकैर्वकसहवासिनां परोक्षैः॥
पूर्वत्र परोक्षमात्रम्, इह तु विशेषदर्शन जन्य संशयोत्तरप्रत्यक्षमिति भेदः।
—कुवलयानन्द, १०८वां अलंकार

२. परिणामत्रयसंयमादतीनानागतज्ञानम्। —योगदर्शन, ३।१६

३. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रवन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ —का० अ० ३।५३

४. तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः॥ —काव्यादर्श २।३६४

५. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्॥
—का० अ० सा० सं०, षष्ठ वर्ग, पृ० ४०७

६. प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः तद्भाविकम्।
—का० प्र० १०।१७३

७. अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। —अ० स०, पृ० २२३

८. भाविकं भूतमाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।
—कुवलयानन्द, ९४ अलंकार

परिभाषाएँ भी भामह की परिभाषा का अनुसरण करती हैं। विश्वनाथ ने अद्‌भुत पदार्थ के प्रत्यक्षवत् अनुभव को भाविक अलंकार माना है।[1]

आलंकारिकों द्वारा प्रयुक्त 'प्रबन्धगत' तथा 'अद्‌भुत पदार्थ' इसे दर्शन से पृथक् कर देते हैं। साथ ही दर्शन के 'परिणाम' का अलंकार में अभाव है तथा कवि-कल्पना एवं चमत्कार का आधान है।

भ्रान्ति अलंकार

दर्शन में वर्णित ज्ञान की चार कोटियों में मिथ्या ज्ञान भी एक है। योगदर्शन में मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय ज्ञान को 'भ्रान्ति' कहा है।[2] थोड़े-बहुत अन्तर के साथ भ्रान्ति की यही परिभाषा सभी दर्शन विधाओं को मान्य है।

विषय की विषयता भ्रान्ति से छिप जाती है, अतः शोभाकर तथा जयरथ की दृष्टि से भ्रान्तिमान में आरोप नहीं अध्यवसाय होता है।[3] इस अलंकार के दो नाम प्रचलित हैं। भोज[4] तथा हेमचन्द[5] प्रभृति आलंकारिक 'भ्रान्तिमान' के स्थान पर 'भ्रान्ति' ही अधिक पसन्द करते हैं। इन दोनों ने दर्शनानुरूप विपर्यय ज्ञान को ही भ्रान्ति कहा है। रुय्यक भी सादृश्य के कारण एक वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति को भ्रान्ति कहते हैं।[6]

काव्य तथा दर्शन की 'भ्रान्ति' में परिभाषा साम्य होने पर भी दोनों में अन्तर है। दर्शन की भ्राँति स्वारसिक है, स्वाभाविक है, कविप्रतिभा की सृष्टि नहीं, अतः इसे भ्रान्ति अलंकार मानना समीचीन नहीं।[7] आलंकारिकों ने स्मरण से इसे भिन्न माना है।[8] दार्शनिक सादृष्य के स्मरण को ही भ्रान्ति के मूल में स्वीकार करते हैं। शोभाकर प्रभृति आचार्य सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतरमूलक दोनों प्रकार की भ्रान्ति में एक सी प्रतीति

---

१. अद्‌भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्‌भाविकमुदाहृतम्॥ —सा० द० १०।६३

२. भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। —व्यासभाष्य, योगसूत्र १।३०

३. ......अध्यवसायमूल एव भ्रमः।...न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति। शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरुपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयात्।
—अ० र०, पृ० ५३-५४

४. भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानं द्विधा सापि प्रयुज्यते।
अतत्त्वे तत्त्वरूपा च तत्त्वे चातत्त्वरूपिणी॥ —स० क० भ० ३।३५

५. विपर्ययो भ्रान्तिः। सदृशदर्शनाद् विपर्ययज्ञानं भ्रान्तिः।
—काव्यानुशासन अ० ६, पृ० ३४१

६. सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्। —अ० स०, पृ० ५५

७. (क) सादृश्येऽपि कविप्रतिभोत्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्येति।
—वि० पृ० ५८

(ख) साम्यादतस्मिंस्तद्‌बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। —सा० द० १०।३६

८. नायं स्मरणम्। तत्तदांशस्पर्शिज्ञानरूपतया स्मरणस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्।
—एकावली, वृत्ति ८।६

मानते हैं।[1] जो भी हो इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भ्रान्ति अलंकार का जन्म दर्शन की भ्रान्ति से हुआ है।

रूपक अलंकार

सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान रूपक अलंकार भी दर्शन से प्रेरणा पाकर उद्भावित हुआ प्रतीत होता है। दर्शनग्रन्थों में अनेकत्र अभेद की भावना के दर्शन होते हैं। चार्वाक दर्शन के देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवादादि को अभेद सादृश्य के अन्तर्गत लिया जा सकता है। अद्वैत वेदान्ती जीवात्मा और परमात्मा में तादात्म्य मानते हैं। इसी बात को श्रुति ने 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों से वर्णित किया है। तादात्म्य अथवा अभेद की भावना योगदर्शन में भी दृष्टिगोचर होती है। वहाँ बताया गया है कि बुद्धि की विषयाकार वृत्तियाँ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हैं, वही पुरुष की वृत्ति कही जाती है।[2]

'रूपक' प्राचीनतम अलंकारों में से एक है। भामह ने उपमान द्वारा उपमेय तत्त्व की गुण साम्य के आधार पर रूपण की प्रक्रिया को रूपक कहा है।[3] दण्डी[4], रुद्रट[5], मम्मट[6], रुय्यक[7], जयदेव[8], विद्याधर[9], विश्वनाथ[10], अप्पयदीक्षित[11] प्रभृति सभी प्रमुख आलंकारिकों ने रूपकालंकार को अभेदप्रधान ही सिद्ध किया है।

रूपकालंकार का आधार तादात्म्य होने पर भी यह दर्शन से कई अर्थों में भिन्न है। दर्शन का 'तादात्म्य' काल्पनिक न होकर विभिन्न दार्शनिकों की चिन्तन शक्ति की सत्यता है। साथ ही वहाँ तादात्म्य का आधार भ्रान्ति भी हो सकती है किन्तु रूपकालंकार का

---

१. सादृश्यहेत्वन्तरयोभ्र मेषु न लेशतः क्वापि विशेषबुद्धिः। —अ० र० पृ० ५३

२. व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। —व्यासभाष्य १।४

३. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रुप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः। —का० अ०, २।२१

४. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः। —काव्यादर्श २।६६

५. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥ —का० अलं० ८।३८

६. तद्रूपकमभेदयो उपमानोपमेययोः। —का० प्र० १०।९३

७. अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रुपकम्। —अ० स०, पृ० ४३

८. यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयीभित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥ —चन्द्रालोक, ५।१८

९. प्रथमं निरूपयामस्तत्राप्यारोपगर्भितास्तावत्।
तद्रूपकमारोपे यत्रापह्नूयते न तद्विषयः। —एकावली, ८।६

१०. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। —सा० द० १०।२८

११. विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकं तस्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः॥ —कुवलयानन्द, ५वां अलंकार

अभेदारोप अथवा तादात्म्य किसी प्रयोजन विशेष से किया जाता है अतः भ्रान्ति की यहाँ सम्भावना नहीं ।[1] काव्य का भेदारोप चमत्कारयुक्त होने पर ही अलंकार माना जायेगा । दर्शन के 'अहं ब्रह्मास्मि' एव 'तत्त्वमसि' महावाक्यों में चमत्काराभाव के कारण रूपकालंकार नहीं हो सकता ।

विभावना अलंकार

भारतीय दर्शन में कार्य-कारण भाव की विशद चर्चा हुई है । कारण के अनुरूप ही कार्य का अनुमान लगाया जाता है । इस विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है ।[2] बौद्ध दार्शनिक असत्कारणवाद को मानते हैं ।[3] उनके सिद्धान्तानुसार जगत् की उत्पत्ति से पूर्व कार्य अथवा कारण कुछ भी नहीं था, केवल शून्य ही था । इसके पश्चात् अर्थक्रियाकारि-गुण वाला किंचिद् समय रहने वाला कार्य उत्पन्न हुआ अतः उसकी भी स्वरूपतः सत्ता नहीं है । वेदान्तियों के मतानुसार[4] यह कार्यरूप जगत् ब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न हुआ है । अतएव न तो सत् है न असत् और न ही सदसद् क्योंकि इससे विरोध उत्पन्न होता है । इनके मतानुसार उपादान और उपादेय का तादात्म्य कल्पित है ।

दार्शनिकों के इन्हीं भावों से लिप्त अलंकार विभावना है । इस अलंकार के प्रणेता प्रथमालंकारिक भामह हैं ।[5] दण्डी ने इसकी परिभाषा[6] जहाँ पर प्रसिद्ध कारण का अभाव बताकर कुछ कविकल्पित कारण का अनुसंधान किया जाए अथवा किसी भी कारण के ज्ञायमान न होने से कार्य के स्वाभाविकत्व का अनुमान किया जाए, उसे विभावना कहा है । उद्भट[7], रुद्रट[8], भोज[9], मम्मट[10], रुय्यक[11], विद्याधर[12], विश्वनाथ[13], अप्पय-

---

१. स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या । —वि० पृ० ४४
२. कार्यात् कारणमात्रं गम्यते । सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः ।
—सां० त० कौ०, पृ० ६४
३. केचिदाहुः—'असतः सत् जायते' इति । —वही
४. 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तु सत्' इत्यपरे । —सां० त० कौ०, पृ० ६४
५. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति । —का० अ० २।७०
६. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।। —काव्यादर्श २।१९९
७. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना । ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ।
—का० अ० सार० सं०, द्वितीय वर्ग, पृ० ३३२
८. सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तकेणैव ।। —का० अ० ९।१६
९. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकं वापि विभाव्यं सा विभावना ।। —स० कं० भ० ३।९
१०. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना । —का० प्र० १०।१०७
११. कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना । —अ० स०, पृ० १५७
१२. असति प्रसिद्धहेतौ कार्योत्पत्तिर्विभावना भवति । —एकावली, ८।३६
१३. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । —सा० द० १०।६६

दीक्षित[1] आदि सभी आलंकारिकों की 'विभावना' इन्हीं भावों को व्यक्त करती है।

शून्यवादियों के अनुसार कारण के अभाव में कार्य होता है। किन्तु विभावना अलंकार में उल्लेखनीय बात यह है कि कारण के अभाव का अर्थ वास्तव में कारण का न होना नहीं है, कारण तो रहता है किन्तु लोकप्रसिद्ध या सामान्य कारण का अभाव होता है। बौद्धादिदर्शन में वर्णित कारणाभाव में कल्पना का अधिक अवसर नहीं जबकि विभावना अलंकार का चमत्कार कवि कल्पना पर आश्रित है। जिस कवि के पास जितनी अधिक कल्पना शक्ति है, विभावना का उत्कर्ष उतना ही अधिक होगा।

विरोधाभास अलंकार

न्यायदर्शन में 'हेत्वाभास, का निरूपण हुआ है।[2] वहाँ जो वास्तव में हेतु नहीं है किन्तु हेतु के समान प्रतीत होता है, को हेत्वाभास कहा गया है।

काव्य में अलंकार को विरोधाभास नाम जयदेव ने दिया है।[3] उन्होंने विरोध नामक एक पृथक् अलंकार का निरूपण भी किया है।[4] अन्य आलंकारिकों ने इसे 'विरोध' नाम से ही अभिहित किया है। इस अलंकार के उद्भावक आचार्य दण्डी हैं। उन्होंने इसकी परिभाषा-प्रस्तुत में उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए जहाँ विरुद्ध पदार्थों का संसर्ग एकत्रावस्थान वर्णन किया जाए, को विरोधाभास कहा है।[5] तत्पश्चात् हेमचन्द[6], भोज[7], आदि ने मुख्यरूप से इसकी परिभाषा विरोध की आपाततः प्रतीति की है।

दर्शन के हेत्वाभास की सरणि पर चलने पर भी विरोध अलंकार की आवश्यक शर्तें जैसे विरोधसूचक 'अपि' शब्द का प्रयोग, समुच्चयबोधक 'च' शब्द का प्रयोगादि इसे दर्शन के तत्त्वों से पृथक् कर देते हैं साथ ही इसमें उपलब्ध चमत्कार के तत्त्व का दर्शन में सर्वथा अभाव है। अतः दर्शन से प्रेरित विरोधालंकार अपनी पृथक् सत्ता रखता है।

---

१. विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्॥
—कुवलयानन्द, ३४वां अलंकार

२. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।
—न्या० सू० १।२।४

३. श्लेषादि भूर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता।
अप्यन्धकारिणाऽनेन जगदेतत्प्रकाश्यते॥ —चन्द्रालोक ५।७५

४. विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद्गुणद्रव्यक्रियादिषु।
अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं दन्दहीति माम्॥ —वही, ५।७४

५. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा॥ —काव्यादर्श २।३३३

६. अर्थानां विरोधाभासो विरोधः॥ —काव्यानुशासन, पृ० ३२२

७. विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गतिः।
असङ्गतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः। —स० कं० भ० ३।२४

विशेषोक्ति अलंकार

दर्शन में वर्णित कारण और कार्य के स्वरूप के विषय में नैयायिकों का मत है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व वह कहीं भी किसी रूप में विद्यमान नहीं रहता। इनके मतानुसार सत् से असत् की उत्पत्ति होती है।[1] कणाद, अक्षपाद आदि के मत में[2] भी सद्रूप-कारण से असत् का जन्म होता है किन्तु उनके मत में सत् और असत् की एकता अनुपपन्न ही रहती है। अतएव कारण कार्यात्मक नहीं हो सकता इसलिए उनके मत में भी प्रधान असिद्ध ही है। अभेदसिद्धि के लिए कार्य की सत्ता पहले माननी पड़ेगी। अतः प्रधान की सिद्धि के लिए सत्कार्यवाद का अभिधान किया जाता है। सांख्यदर्शन ने असत्कार्यवाद का खण्डन किया है।[3]

काव्य में विशेषोक्ति अलंकार के प्रणेता भामह हैं।[4] इसमें कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं होती। दण्डी के अनुसार[5] विभावना का वैचित्र्य यह है कि प्रसिद्ध कारण का तो परित्याग कर दिया जाता है और अप्रसिद्ध कारण की कल्पना की जाती है। तदनन्तर मम्मट[6], रुय्यक[7], विद्याधर[8], विश्वनाथ[9] प्रभृति आलंकारिकों ने विशेषोक्ति की जो परिभाषा दी है उसका भाव प्रचुर कारण होते हुए भी कार्योत्पत्ति का न होना है।

विशेषोक्ति अलंकार पर न्यायादि दर्शन का प्रभाव कारण के होते हुए भी कार्योत्पत्ति के न होने तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त विशेषोक्ति अलंकार के लिए आवश्यक तत्त्व जो कि कवि की कल्पनाशक्ति एवं चमत्कारशक्ति हैं, इसे दार्शनिक तथ्यों से पृथक् कर देते हैं।

---

१. अन्ये तु 'सतः असत् जायते' इति। —सां० त० कौ० पृ० ६४

२. येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म तेषामपि सदसतोरैकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः।
—सां० त० कौ०, पृ० ६५

३. 'असदकरणादिति'—'सत्कार्यम्' कारणव्यापारात् प्रागप्रीति शेषः। तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरूद्भावनीयम्। —वही, पृ० ६७

४. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥ —का० अं० २।२३

५. गुणजातिक्रियादीनां यत् तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥ —काव्यादर्श २।३२३

६. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। —का० प्र० १०।१०८

७. कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अ० स०, पृ० १६०

८. यदि कारणसाकल्ये कार्यसिद्धिस्तदा विशेषोक्तिः। —एकावली, ८।३६

९. सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा। —सा० द० १०।६७

शब्दप्रमाणालंकार

शब्दप्रमाण की एक पृथक् प्रमाण के रूप में सत्ता कुमारिलभट्ट सम्प्रदाय के मीमांसकों, वेदान्ती तथा पौराणिक दार्शनिकों ने स्वीकार की है। न्यायदर्शन में आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द कहा गया है।[1] दर्शन की अन्य आस्तिक विधाओं ने अनुमान के अन्तर्गत ही शब्द का अन्तर्भाव मान लिया है।

काव्य में शब्दप्रमाणालंकार नाम रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो शब्दालंकार से भिन्न अर्थालंकार की कोटि में इसकी गणना और दूसरा दर्शन के 'शब्द' प्रमाण को इस अलंकार का आधार घोषित करना। शब्दप्रमाणालंकार का निरूपण केवल कुवलयानन्द में हुआ है। दीक्षित महोदय ने श्रुतिरूप को ही शब्दप्रमाण कहा है और स्मृति, पुराण, आगम, अलौकिक वाक्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है[2] जो दर्शनानुरूप ही है।[3]

काव्य तथा दर्शन दोनों के शब्दप्रमाण की परिभाषा, उदाहरणादि में पर्याप्त साम्य है केवल काव्य में चमत्कार का तत्त्व इसे दर्शन से पृथक् कर देता है।

सम्भव अलंकार

भारतीय दर्शन की प्रमुख विधाओं ने 'सम्भव' प्रमाण के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार न कर, इसे अनुमान के अन्तर्गत ही मान लिया है। केवल पौराणिक दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण के रूप में इसकी सत्ता स्वीकार की है। मीमांसा दर्शन में इसका खण्डन किया गया है।[4]

'सम्भव' का अलंकार रूप में निरूपण केवल अप्पयदीक्षित ने किया है। इन्होंने इसकी परिभाषा न दे केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को देखने से यह ज्ञात होता है कि यह दर्शन के सम्भव प्रमाण से सिद्ध अर्थ की सूचना देता है।[5] अन्तर केवल इतना है कि दर्शन का सम्भव प्रमाण वास्तविक जगत की वास्तविकता

---

१. आप्तोपदेशः शब्दः। —न्या० सू० १।१।७

२. ......श्रुतिरूपं शब्दप्रमाणमुपन्यस्तम्। एवं स्मृतिपुराणागमलौकिकवाक्यरूपाण्यपि शब्दप्रमाणान्युदाहरणीयानि। —कुवलयानन्द, ११वां अलंकार

३. आप्तः प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञानवांस्तस्योपदेश इत्यर्थः। प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञान-प्रयुक्तः शब्द इति फलितार्थः। अथवा, आप्तो यथार्थ उपदेशः शाब्दबोधो यस्मात्। —वात्स्यायन भाष्य, न्या० सू० १।१।७ पर

४. ये तु संभवमैतिह्यमिति मानान्तरं विदुः।
तेऽनुमाने च शाब्दे च चोरवृत्तिमुपाश्रिताः। —मानमेयोदय, पृ० १४३

५. संभवो यथा—
अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥
अत्राद्योदाहरणे अभूतपूर्वं मम भावि किं वेति संभवप्रमाण — सिद्धार्थो दर्शितः। —कुवलयानन्द, ११६वां अलंकार

से सम्बन्ध रखने वाला नीरस तथ्य मात्र है जबकि काव्य का सम्भव अवास्तविक, कवि-कल्पना प्रसूत तथा चामत्कारिक है।

सम्भावना अलंकार

दर्शन में सम्भावना की चर्चा अनुमान के प्रसंग में हुई है। जहाँ-जहाँ धुआँ हो वहाँ-वहाँ अग्नि की सम्भावना की जाती है। अतः साधन से साध्य के अनुमान को 'सम्भावना' नाम दिया जा सकता है।

काव्य में सम्भावना अलंकार का निरूपण जयदेव, तथा अप्पयदीक्षित ने किया है। कुवलयानन्द में सम्भावना अलंकार की परिभाषा जहाँ किसी कार्य की सिद्धि के लिए 'यदि ऐसा हो तो यह हो सकता है' इस प्रकार की कल्पना की जाए, वहाँ सम्भावना अलंकार होता है, की गई है।[1] चन्द्रालोक की परिभाषा भी इन्हीं भावों को व्यक्त करती है।[2]

इन परिभाषाओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि सम्भावना अलंकार में निर्निमित्तक कल्पना पाई जाती है जबकि दर्शन में कल्पना का आधार निश्चयात्मक हेतु है। जैसे 'पर्वतोऽयं वह्निमान, धूमात्' इसमें हेतु 'धूम' निश्चयात्मक है। अनुमान से यह भिन्न है क्योंकि अनुमान में लिंग के द्वारा लिंगी का अवधारण या निश्चय होता है, वहाँ तर्क या कल्पना नहीं होती। सम्भावना अलंकार में कविकल्पना का अंश अधिक है जबकि दर्शन की सम्भावना में तथ्य का पुट अधिक है।

स्मृति अलंकार

न्यायदर्शन में ज्ञान को अनुभव तथा स्मृति भेद से दो प्रकार का माना गया है। वहाँ संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहा गया है।[3]

स्मृति अलंकार का इतिहास रुद्रट से प्रारम्भ होता है। शोभाकर, अप्पयदीक्षित एवं जयरथ इसे 'स्मृति' नाम से अभिहित करते हैं। शेष सभी ने 'स्मरण' नाम से इस अलंकार का उल्लेख किया है। रुय्यक ने 'सदृश वस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण इस अलंकार का लक्षण किया है।[4] इसका प्रभाव विद्याधर[5], विश्वनाथ[6] आदि के लक्षणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। दर्शन में स्मृति को पैदा करने वाले संस्कार

---

१. सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।
यदि शेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव ॥ —कुवलयानन्द, ६४वां अलंकार

२. सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये।
सिक्तं स्फटिककुम्भान्तः स्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः ॥ —चन्द्रालोक ५।४८

३. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। —आचार्य विश्वेश्वर, तर्कभाषा, पृ० १४

४. सदृशानुभवाद्वस्तवन्तरस्मृतिः स्मरणम्। —अलंकारसर्वस्व, पृ० ४०

५. सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र स्मर्येत तत् स्मरणम्। —एकावली ८।५

६. सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते। —सा० द० १०।२७

के उद्‌बोधक सादृश्य, चिन्ता, अदृष्ट आदि अनेक कारण हैं।[१] भोज ने भी चिन्ता आदि को इस अलंकार का आधार माना है।[२] उन्होंने पूर्वानुभूत विषय के ज्ञान को स्मृति कहा है।[३] पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में स्मृति की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह पूर्णरूपेण दार्शनिक शब्दावली में है। वहीं पर उन्होंने नैयायिकों की परिभाषा का उल्लेख भी किया है।[४]

आलंकारिकों ने अनुमान से इसका भेद स्पष्ट किया है।[५] जो भी हो इतना तो निश्चित है कि तर्कशास्त्र के आधार पर इस अलंकार का निर्माण हुआ है किन्तु काव्य क्षेत्र में आकर इसमें केवल बौद्धिक प्रखरता न रहकर मृदुता एवं चमत्कार का समावेश हो गया है किन्तु मूल में इनकी तर्क की बौद्धिक भावना असंदिग्ध रूप में वर्तमान है।

संशय अलंकार

दर्शन में ज्ञान की चार कोटियाँ मानी गई हैं। सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय ज्ञान एवं सादृश्य ज्ञान। यथार्थ ज्ञान सम्यक् ज्ञान है तथा अयथार्थ ज्ञान मिथ्या ज्ञान। इन दोनों ही ज्ञान भेदों में उत्कटैककोटिक ज्ञान होता है। किन्तु जहाँ ज्ञान उभयकोटिक[६] हो, जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा', उसे संशय ज्ञान कहते हैं जो एक सार्वभौम तथ्य के रूप में दर्शन की सभी विधाओं को मान्य है।

दर्शन के इसी आशय को काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में अलंकार रूप में विवेचित किया गया है। इसी को सन्देह, ससन्देह[७] एवं संशय के नाम से अभिहित किया गया है। ससन्देह नाम से इसका निरूपण प्राचीनतम आलंकारिक भामह ने किया है।[८]

विमर्शिनीकार[९] एवं जगन्नाथ[१०] प्रभृति आलंकारिकों ने भी दर्शन के अनुरूप उभय-

---

१. सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः। —तर्कभाषा, पृ० १७ से उद्‌धृत

२. सादृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्बहिः॥ —स० कं० भ० ३।४२

३. स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते। —स० कं० भ० ५।१०६

४. नैयायिका रत्यनुभवजन्यसंस्कारजन्यं ज्ञानं स्मरणमवसेयम्। तदुक्तम् 'स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते' इति। —र० गं० ध० (चन्द्रिका), प्रथमानन, पृ० २७४

५. नेदमनुमानम्। सदृशमनुभूय सदृशमेव स्मर्यत इति नियमाभावात्। सदृशदर्शनेन विसदृशस्यापि स्मरणसंभवात्। —एकावली, ८।५ वृत्ति

६. योगसूत्र १।३० पर व्यास-भाष्य

७. अस्य चालंकारस्य ससन्देहसन्देहशब्दाभ्यां द्वाभ्यामप्यभिधानम्। —विवृति, पृ० ५०

८. उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥ —भामह, का० अ० ३।४३

९. संशयो हि ह्यतिशयतोभयांशावलम्बित्वेनोदेति······। —वि०, पृ० ६८

१०. यद्वा 'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशयालङ्कृतिः।'
—रसगंगाधर (चन्द्रिका), द्वि० आ०, पृ० ५६१

कोटिकज्ञान को ही 'संशय' कहा है। तर्कभाषाकार ने संशय की परिभाषा करते हुए एक धर्म में विरुद्ध नाना धर्मों के परिज्ञान को संशय कहा है। रुद्रट[१] तथा विद्याधर[२] की परिभाषाएँ भी दर्शन के अनुरूप हैं। इसी प्रकार भोज[३], मम्मट[४], विश्वनाथ[५] प्रभृति आचार्यों की परिभाषाएँ भी दर्शन से प्रभावित प्रतीत होती हैं।

इतना होते हुए भी काव्य और दर्शन के संशय में पर्याप्त अन्तर है: दर्शन के संशय में चमत्कार नहीं होता जबकि चमत्कारहीन वर्णन में संशयालंकार नहीं हो सकता। साथ ही आलंकारिकों का संशय काल्पनिक संशय है जबकि दर्शन का संशय वास्तविकता पर आधारित है।

सूक्ष्म अलंकार

सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्व का विवेचन भारतीय दर्शन के साथ ही प्रारम्भ होता है। प्रायः सभी दर्शनों में स्थूल तथा सूक्ष्म का वर्णन किया गया है। वैशेषिक दर्शन में सूक्ष्म की चर्चा परमाणु के प्रसंग में हुई है। परमाणु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते, जब वे द्रव्य रूप में बदलकर महत् हो जाते हैं तभी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु में छोटा होना, मध्यम होना या बड़ा होना पाया जाता है क्योंकि जो वस्तु दिखाई देती है, उसका परिणाम अर्थात् आकार-प्रकार अवश्य होगा।[६] जो पदार्थ दिखाई देता है, वह महत् और जो न दिखाई दे वह अणु, ऐसी मान्यता है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तु दिखाई नहीं देती क्योंकि वह अणु रूप होती है।[७]

भामह ने चमत्कार का अभाव होने से सूक्ष्म को अलंकार नहीं माना।[८] इस

---

१. वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति संदेहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशय स इति ॥ —का० अलं०, ८।५६

२. किसलयति कविः प्रतिभावशतः प्रकृतार्थभित्तिकं यत्र।
संशयमप्रकृतेऽर्थे संदेहोऽयं समाख्यातः ॥ —एकावली ८।८

३. अर्थयोरतिसादृश्याद्यत्र दोलायते मनः।
तमेकानेकविषयं कवयः संशयं विदुः ॥ —स० कं० भ० ४।४१।१

४. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। —का० प्र० १०।९२

५. सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥ —सा० द० १०।३५

६. अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते। —वै० सू० ७।१।८

७. अतोविपरीतमणु। —वही, ७।१।१०

८. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ —का० अ० २।८६

अलंकार की उद्भावना वस्तुतः दण्डी से होती है।[1] तत्पश्चात् रुद्रट[2], मम्मट[3], रुय्यक[4], विश्वनाथ[5] तथा अप्पयदीक्षित[6] इस अलंकार का विवेचन करते हैं। मुख्य रूप से यह कहा जा सकता है कि आकार अथवा चेष्टा से पहिचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ जहाँ किसी युक्ति से सूचित किया जाए वहाँ सूक्ष्मालंकार होता है। यह स्थूलबुद्धियों से ज्ञेय नहीं अतः सूक्ष्म कहलाता है।

दर्शन का 'सूक्ष्म' अलंकार से इतना ही साम्य रखता है कि दर्शन का सूक्ष्म तो सभी को दृष्टिगोचर नहीं होता जबकि 'सूक्ष्म' अलंकार केवल स्थूलबुद्धियों से ही ज्ञेय नहीं, सूक्ष्म बुद्धि वाले उसे जान सकते हैं। दूसरे, सूक्ष्म अलंकार का निरूपण काव्य में चमत्कारिक ढंग से किया जाता है, दर्शन में यह केवल नीरस तथ्य मात्र है।

स्वभावोक्ति अलंकार

डॉ० मूलचन्द शास्त्री ने अपने शोध प्रबन्ध[7] में कहा है कि जहाँ भी ग्रन्थों में वस्तुस्वभाव का वर्णन अलंकार रूप में प्रतिपादित किया गया है, वहाँ बौद्धदर्शन का प्रभाव स्वीकार करना चाहिए और जहाँ पर स्वभाव का कथन सर्वथा तिरस्कृत है उनका कर्त्ता ब्राह्मण सम्प्रदाय गत आचार्यों को स्वीकार करना चाहिए।

'स्वभाव' शब्द बौद्धदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। वहीं से प्रेरणा पाकर साहित्य-शास्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार का जन्म हुआ। साहित्यशास्त्र में भी दर्शन परम्परा के अनुसार वस्तु स्वभाव के वर्णन का अतिशय महत्त्व को प्राप्त हुआ। बौद्धदर्शन में दृश्यमान जगत का प्रतीयमान स्वरूप ही यथार्थरूप अथवा सद्रूप में स्वीकार किया जाता है, इससे भिन्न परोक्ष रूप कारणभूत तत्त्व की कल्पना वहाँ आवश्यक नहीं। साहित्य क्षेत्र में भी जगत् के दृश्यमान स्वरूप को ही विशेष महत्त्व दिया गया है।

---

१. इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः। —काव्यादर्श २।२६०

२. यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसंबद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम्॥ —का० अ० (रुद्रट) ७।९८

३. कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते॥ —का० प्र० १०।१२२

४. संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्। —अ० स०, पृ० २१०

५. संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्गया यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥ —सा० द० १०।९१

६. सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्।
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत्॥
—कुवलयानन्द, ८४वां अलंकार

७. संस्कृतकाव्यशास्त्रे बौद्धाचार्याणां योगः।
—दिल्ली विश्वविद्यालय, १९७१, पृ० ३० से ३८ तक

बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के प्रभाववशात् ही दण्डी[1] तथा भामह[2] दोनों आचार्यों ने वाङ्मय को वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति दो में विभक्त किया। कालान्तर में बौद्ध प्रभाव के क्षीण हो जाने के कारण ही अबौद्ध आचार्यों के द्वारा स्वभावोक्ति की उपेक्षा की गई तथा वक्र कथन एवं व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने लगी। इस प्रसंग में यह स्मरणीय रखना चाहिए कि बौद्ध शाखा से प्रभावित आचार्यों का स्वभावोक्ति का स्वभाव अथवा कथन अलंकार रूप में स्वीकृत तो किया गया है किन्तु उनकी परिभाषा दर्शन की परम्परा तथा प्रभाव से प्रभावित नहीं है। इसी कारण स्वभावोक्ति की परिभाषा में एकरूपता दृष्टि-गोचर नहीं होती। आचार्य दण्डी के मत में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पदार्थों के रूप में स्थित, पदार्थों के रूप को प्रत्यक्ष करके दिखलाने वाली अलंकृति स्वभावोक्ति या जाति नाम से प्रथित है, अर्थात् जिसमें पदार्थों का ऐसा सजीव स्वभाविक वर्णन हो जिससे उनका प्रत्यक्ष-सा दर्शन होने लगे, उस अलंकार का नाम स्वभावोक्ति या जाति है।[3]

इनकी स्वभावोक्ति अलंकार की परिभाषा से प्रतीत होता है कि दण्डी के द्वारा एक वस्तु की अनेक अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं। इस स्वीकृति में वस्तुओं का एकत्व स्थिरत्व सुस्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। बौद्धदर्शन के क्षणभंगवाद के अनुसार वस्तु केवल एक क्षण ही रहती है। प्रतिक्षण उसके स्वभाव में अथवा मूल सत्ता में परिवर्तन होता रहता है। अतएव उसमें यथार्थतः प्रतिक्षण वस्तुभेद स्वीकार किया गया है। किसी भी वस्तु में विविध अवस्थाओं की सम्भावना तभी सम्भव होती है जब वह वस्तु अनित्य अथवा क्षणभंगुर न हो। इस क्रम से दण्डी की प्रोक्त स्वभावोक्ति ब्राह्मण दर्शन के यथार्थ-वाद से पूर्णतः प्रभावित है, यद्यपि स्वभाव वर्णन की कल्पना मूलतः बौद्धदर्शन के यथाभूतप्रत्यवेक्ष से समुद्भूत है। कालक्रमवशात् परम्परा प्राप्त स्वभावोक्ति अलंकार पृष्ठभूमि में बौद्धत्व ब्राह्मणत्व दृष्टि से तिरोहित किन्हीं अन्य आचार्यों से भी प्रतिष्ठापित है। जैसे आचार्य रुद्रट ने स्वभावोक्ति अलंकार के आधार पर अलंकारों का वर्ग विशेष स्वीकार किया है, जिस वर्ग में सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्यादि अलंकारों को परि-गणित किया गया है।[4] काव्यशास्त्र में आतमतत्त्व के उद्भावक वामन के द्वारा स्वभावोक्ति

---

१. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। —काव्यादर्श २।३६३

२. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।। —भामह, काव्यालंकार, २।९३

३. नावावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा।। —काव्यादर्श २।८

४. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ।।१०।।
तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ।।११।।

क्रमशः

सर्वथा उपेक्षित रही। इस उपेक्षा का कारण निस्सन्देह आत्मवादी ब्राह्मण दर्शन परम्परा का प्रभाव था। परम्परा प्रवाह के प्रवर्तित होने पर भी भोज, मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलंकार को विशेष रूप से स्वीकार किया।

हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम्।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ॥१२॥

—रुद्रट, काव्यालंकार, ७।१०, ११, १२

उपसंहार

संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन के प्रभाव की गवेषणा करने पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारतीय दर्शन ने काव्यशास्त्र को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित किया है। एक ओर, काव्य सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों पर आधर-भूत दार्शनिक चिन्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है; दूसरी ओर, काव्यात्मनिर्धारण, अलंकार विवेचन आदि प्रसंगों में दर्शन का अप्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि कोई दार्शनिक परम सत्य का निरूपण करने के पश्चात् उसी के प्रकाश में साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास करता है तथापि शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से साहित्य का ऐसा मूल्यांकन सम्भव नहीं जो साहित्य के क्षेत्र में सर्वथा ग्राह्य हो। ऐसा सम्भव होने पर साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक भिन्न शास्त्र-साहित्यशास्त्र की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतएव स्वतन्त्र रूप से शास्त्र की रचना अनिवार्य थी।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है साहित्य और दर्शन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या करता है तो दर्शन बौद्धिक; किन्तु केन्द्र दोनों का जीवन है। काव्यशास्त्र में दर्शन की बुद्धिवृत्ति अर्थात् तर्क तथा काव्य की हृदयवृति अर्थात् भाव का समुचित योग रहता है।

भारतीय दर्शन में अनुभूति का विशद विवेचन किया गया है। साहित्य भी अनुभूति की ही अभिव्यक्ति है। दर्शन अनुभूति की इयत्ता अथवा पराकोटिक अनुभूति को लक्ष्य के रूप में निरूपित करता है तथा इसे परमपुरुषार्थ की संज्ञा देता है। साहित्य में भी यह प्रवृत्ति रसानुभूति के रूप में विद्यमान है जिसे काव्य का परम प्रयोजन अथवा सकल-प्रयोजन-मौलिभूत कहा गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रस तत्त्व के सूक्ष्म एवं संगत मूल्यांकन के लिए उसका दार्शनिक पृष्ठभूमि में विश्लेषण करना अत्यावश्यक है। काव्यशास्त्रियों ने दार्शनिक आधार के विवेचन में अन्तःसाक्ष्य को ही प्रधानता दी है। उनके रस सम्बन्धी मतों में उपलब्ध अवधारणाओं का उपयोग करते हुए ही उसके आधार पर दार्शनिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के विवेचन के आधार पर कई मान्य मतों का खण्डन भी करना पड़ा है। उदाहरणतः भट्टलोल्लट को कुछ विद्वान शैव, दूसरे वेदान्ती तथा अन्य मीमांसक मानते हैं। सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर प्रतीत होता है कि लोल्लट की व्याख्या पर न तो शैव दर्शन का प्रभाव है और न ही वेदान्त का। उनका सिद्धान्त पूर्णतः मीमांसा के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों पर आधारित है।

इसी प्रकार श्री शंकुक, भट्टनायक आदि आचार्यों के रस सम्बन्धी मतों के दार्शनिक पक्ष को लेकर प्रकटित विविध मतमतान्तरों की परीक्षा करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री शंकुक नैयायिक थे और भट्टनायक के रस-सिद्धान्त पर मीमांसा, सांख्य और वेदान्त दर्शनों का प्रभाव पड़ा है।

साहित्यशास्त्र के काव्यातम सम्बन्धी मतों में भी दर्शन का योगदान है। दार्शनिक दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म का परिशीलन करती है। दार्शनिक आलंकारिकों ने काव्य के सारतत्त्व अथवा आतमतत्त्व के अन्वेषण में दर्शन की भाँति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की पद्धति को अपनाया है। चार्वाक के शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद आदि की भाँति काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय भी रीति, वक्रोक्ति आदि को काव्य का सारतत्त्व बताते हैं। दर्शन जगत् जिस प्रकार वेदान्त पर, उसी प्रकार काव्य जगत् भी रस एवं ध्वनि पर पहुँचकर विश्रान्त हुआ।

शब्दशक्तियों में अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य पर दर्शन का साक्षात् प्रभाव लक्षित होता है। मीमांसक और नैयायिक शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्तियों को मुख्य रूप से स्वीकार करते हैं। भाट्ट मीमांसकों ने ही मुख्यतः तात्पर्य शक्ति पर विचार प्रकट किए हैं। शब्द की व्यंजना शक्ति का प्रायः सभी दार्शनिकों ने खण्डन किया है। काव्यशास्त्र में व्यंजना के अतिरिक्त शेष सभी शब्दशक्तियों का दार्शनिक आधार पर विस्तृत ऊहापोह उपलब्ध होता है।

काव्य का सौन्दर्यवर्धक तत्त्व 'अलंकार' भी दर्शन के प्रभाव से शून्य न रह सका। अलंकार वर्गीकरण का आधार ही दर्शन का अन्वयव्यतिरेकभाव है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव तथा ऐतिह्य को साहित्यशास्त्र में अलंकार माना गया है। दर्शन में इनकी गणना 'प्रमाण' में हुई है। काव्यलिंग, जाति, दृष्टान्त, विरोधाभास, उदाहरण आदि अलंकारों का आधार न्याय दर्शन तथा स्वभावोक्ति, विभावना आदि अलंकारों का आधार बौद्ध दर्शन प्रतीत होता है। विशेषोक्ति तथा सूक्ष्म अलंकार वैशेषिक दर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। पूर्वमीमांसा के सुप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'परिसंख्या' को भी काव्यशास्त्रियों ने अलंकार माना है। इनके अतिरिक्त भ्रान्ति, स्मृति आदि अलंकार भी किसी न किसी रूप में दर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। अलंकारों पर दर्शन का शाब्दिक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार से प्रभाव पड़ा है।

इन सबके अतिरिक्त अलंकारशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त, भोज, अप्पय-दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति ऐसे ग्रन्थकार हुए हैं जो मूलतः दार्शनिक थे और जिन्होंने दर्शन की किसी न किसी विधा को लेकर ग्रन्थ भी रचे थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिनकी दार्शनिक क्षेत्र में अपनी एक मान्यता है, जिसका आधार लेकर उन्होंने आलंकारिक सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, महिमभट्ट आदि ही प्रमुख रूप से लिए गए हैं।

दर्शन ने न केवल साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को ही प्रभावित किया अपितु दर्शन से इसे बहुत से पारिभाषिक शब्द भी उपलब्ध हुए हैं। साहित्यशास्त्र की पारिभाषिक

शब्दावली पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इसमें प्रयुक्त सभी प्रमुख पारिभाषिक पदों—रस, गुण, शक्ति, अनुमान आदि का प्रयोग दर्शनशास्त्र से हुआ है। साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का दर्शन से कहीं तो केवल शाब्दिक साम्य है कहीं शाब्दिक और आर्थिक दोनों प्रकार का। पारिभाषिक पदावली के अतिरिक्त वहाँ अनेकत्र भावादि की पुष्टि के लिए दर्शन विशेष की शब्दावली को भी ठीक उसी रूप में उद्धृत कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की कृतियों में दर्शन से प्रभावित अभिव्यक्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय व्याकरणदर्शन का भी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरण के तत्त्वों, सिद्धान्तों आदि को ग्रहण कर साहित्यशास्त्र को विकसित किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ध्वनि सिद्धान्त का आधार भारतीय व्याकरण-दर्शन का स्फोट सिद्धान्त है। व्यंजना नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए काव्यशास्त्रियों ने अथक परिश्रम किया उस व्यापार की उद्भावना वैयाकरणों ने पहले से ही की थी। काव्यशास्त्र के अत्यधिक विवादास्पद विषय संकेतग्रह निर्धारण में नव्य आलंकारिकों को वैयाकरणों का उपाधि में संकेतग्रह मानने वाला मत ही अभिमत है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्यशास्त्र दार्शनिक सिद्धान्तों, विषयों एवं तत्त्वों से ओतप्रोत है।

परिशिष्ट–१

काव्यशास्त्र में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दावली

भारतीय दर्शनशास्त्र ने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि इसे दर्शन से बहुत से पारिभाषिक शब्द भी उपलब्ध हुए हैं। साहित्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि इसमें प्रयुक्त सभी प्रमुख पारिभाषिक पदों—रस, गुण, शक्ति, अनुमान आदि का प्रयोग दर्शनग्रन्थों में मुख्य रूप से हुआ है। साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का दर्शन से कहीं तो शाब्दिक साम्य है और कहीं शाब्दिक और आर्थिक दोनों प्रकार का साम्य है। काव्यशास्त्र में इनका प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया गया है। काव्यशास्त्र की पारिभाषिक पदावली पर तो दर्शन का प्रभाव पड़ा ही साथ ही वहाँ अनेकत्र विचारों की पुष्टि के लिए दर्शन विशेष की शब्दावली को भी ठीक उसी रूप में उद्धृत कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की कृतियों में दर्शन से प्रभावित अभिव्यक्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। किन्तु इन सबका दिङ्मात्र निदर्शन ही यहाँ अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम अक्षरानुक्रम से काव्यशास्त्र की पारिभाषिक पदावली पर दर्शन की पदावली के प्रभाव को प्रस्तुत करते हुए दर्शन और साहित्य में उनके प्रयोग का संकेत मात्र ही किया जाएगा।

अर्थापत्ति

अर्थापत्ति प्रमाणों का एक भेद है जिसकी मान्यता मुख्य रूप से मीमांसा दर्शन में उपलब्ध होती है। वहाँ अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहा गया है (देखिए मानमेयोदय पृ० ११८)। दर्शन की अन्य विधाएँ भी खण्डन-मण्डन के रूप में अर्थापत्ति का उल्लेख करती हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'अर्थापत्ति' का प्रयोग उभयरूप में उपलब्ध होता है। अलंकार के रूप में (देखिए पृ० १७९-७८) यह एक पारिभाषिक शब्द है। इसके दूसरे प्रयोग ध्वनि, (दे० लोचन, ध्व० अ० २, पृ० २९५) व्यञ्जना (दे० भोलाशंकर व्यास—द० रू०, अ० ४, पृ० २३८-३९) तथा लक्षणा के प्रसंग में हुए हैं।

अनुमान

चार्वाक को छोड़कर दर्शन की प्रायः अन्य सभी विधाओं ने 'अनुमान' की

मान्यता प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार की है। लिंग अर्थात् हेतु से लिंगी अर्थात् साध्य का परामर्श ही अनुमान का लक्षण है, (देखिए वात्स्यायन भाष्य, न्यायसूत्र १।१।५) जो थोड़े बहुत अन्तर के साथ दर्शन की प्रायः सभी विधाओं को मान्य है।

काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में (दे० अनुमान अलंकार पृ० १८०-८१) इसके पारिभाषिक प्रयोग के साथ ही रस, (दे० श्री शंकुक का अनुमितिवाद पृ० ४३-४६) ध्वनि (दे० महिमभट्ट कृत व्यक्तिविवेक) आदि अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। भामह ने शब्द की परिभाषा के अर्न्तगत 'अनुमान' का प्रयोग किया है (का० अ० ६।७) तो आनन्दवर्धन ने अनुमान का खण्डन करते हुए ध्वनि की प्रतिस्थापना की है। श्री शंकुक ने 'अनुमितिवाद' नामक एक पृथक् रस-सिद्धान्त की रचना की है और संभवतः वहीं से संकेत पाकर महिमभट्ट ने ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए ही 'व्यक्तिविवेक' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना कर डाली (व्यक्तिविवेक १।१)। इन्होंने गुणवृत्ति तथा व्यञ्जना का भी अनुमान में अन्तर्भाव कर दिखाया है (व्य० वि०, १।४७)।

अन्विताभिधानवाद

अन्विताभिधानवाद के प्रतिपादक मीमांसक कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर मिश्र हैं। इनके मतानुयायी मीमांसक अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। इसे अन्विताभिधानवाद इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ पदों का अभिहित होने के पश्चात् अन्वय नहीं होता है अपितु पदों द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। अन्विताभिधानवादी मीमांसक प्रभाकर के मतानुसार जाति से व्यक्ति का स्मरण हो जाने पर अर्थ-प्रतीति होती है। प्रभाकर का कथन है कि जब कोई व्यक्ति 'गाय जाती है' कहता है, तो श्रोता में कोरी निर्विकल्पक जाति का ज्ञान नहीं होता (देखिए शक्तिवाद, परिशिष्ट काण्ड, पृ० १९०)। अतः तात्पर्य जैसी शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

काव्यशास्त्र में भी शब्दशक्ति-निरूपण के प्रसंग में आचार्यों ने वाक्यार्थ को ही वाच्यार्थ मानने वाले अन्विताभिधानवादियों का स्पष्ट उल्लेख किया है (दे० आचार्य विश्वेश्वर, का० प्र० द्वि० उ०, पृ० ३७)।

अपोह

'अपोह' बौद्ध दार्शनिकों का सिद्धान्त है। बौद्ध 'अपोह' अर्थात् अतद्व्यावृत्तिरूप अर्थ को ही संकेत का विषय मानते हैं। इनके अनुसार जब 'गो' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो 'गो' के अतिरिक्त समस्त पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाती है (दे० मानमेयोदय, पृ० २३३)।

साहित्यशास्त्र में बौद्धों के अपोहवाद की चर्चा नामोल्लेख सहित शक्तिग्रह के प्रसंग में हुई है (दे० गोविन्दठक्कुर, प्रदीप, द्वि० उल्लास, पृ० २५)। वहाँ अपोह को ही शब्दार्थ मानने का उल्लेख मिलता है (का०प्र०, द्वि० उल्लास)। इसके अतिरिक्त

भामह ने शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत भी बौद्धों के 'अपोह' का प्रयोग किया है (का० अ० ६।१६)।

अभाव

कुमारिलभट्ट ने 'अभाव' की मान्यता एक पृथक प्रमाण के रूप में स्वीकार की है। वैसे खण्डन-मण्डन के रूप में इसका निरूपण प्रायः सभी कोटि के दार्शनिकों ने किया है। जब किसी वस्तु में उपलब्ध होने की योग्यता होने पर भी उसकी अनुपलब्धि होती है तो वहाँ 'अभाव' प्रमाण होता है (दे० मानमेयोदय, पृ० १३२)। वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' की गणना निषेधात्मक प्रमाणों की कोटि में किए जाने के साथ ही उसे सप्तम पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है (दे० सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४४४)।

काव्यशास्त्र में दर्शन के 'अभाव' का अलंकार रूप में पारिभाषिक प्रयोग दर्शन से साम्य रखता है (दे० यही ग्रन्थ पृ० १८२-८३)।

अभिहितान्वयवाद

अभिहितान्वयवादी वे मीमांसक हैं जो वाक्यार्थ बोध में कुमारिलभट्ट के मत को मानते हैं। इनके मतानुसार वाक्य में प्रयुक्त पद सर्वप्रथम अपने-अपने अर्थ का बोध कराते हैं। इसके पश्चात् आकांक्षा आदि के द्वारा उनका परस्पर अन्वय होता है और तब वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं (दे० ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १६८)। इस तात्पर्य का द्योतन अभिधा शक्ति नहीं कराती अपितु इसका बोधन तात्पर्य नामक एक पृथक् शक्ति के द्वारा होता है।

काव्यशास्त्र में शब्द की तात्पर्यशक्ति को मानने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है (दे० तात्पर्य वृत्ति पृ० १५५-५७)।

आनन्द

दर्शन ग्रन्थों में प्रतिपादित मोक्ष, अपवर्ग अथवा निर्वाण आदि विषयों के अन्तर्गत 'आनन्द' का निरूपण अनेकशः हुआ है। उपनिषदों में आत्मा (तै० उ०, २।५), ब्रह्म (तै० उ० ३।६) अथवा रस (तै० उ० २।७) की आनन्द रूप में चर्चा उपलब्ध होती है। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात योग के लिए वितर्क आदि जिन चार भावों को आधार माना गया है, उनमें आनन्द की भी गणना हुई (यो० दर्शन, १।१७)। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आनन्द की अवतारणा शिव की प्रमुख शक्ति के रूप में की गई है (तन्त्रसार, पृ० ६)।

दर्शन की भाँति काव्यशास्त्र में भी रस की आनन्दरूपता की पुष्टि के लिए तैत्तिरीय उपनिषद की पंक्तियों को उद्धृत किया गया है (दे० रसगङ्गाधर (चन्द्रिका) प्रथमानन, पृ० ६१)। आनन्द रूप रस को काव्य में ब्रह्मास्वादसहोदर माना गया है (दे० अभि० भा० भाग १, पृ० २७७)। अभिनवगुप्त ने सभी रसों की आनन्दरूपता पर प्रकाश डालते हुए शैव दर्शन की शब्दावली का प्रयोग किया है (दे० अभि० भा०, भाग १, पृ० २८२)। काव्यानुशासन में काव्यप्रयोजन के अन्तर्गत 'आनन्द' को भी स्वीकार करते

हुए ब्रह्मास्वाद के सदृश माना गया है (काव्यानुशासन, ११३)।

उदाहरण

दर्शन ग्रन्थों में 'उदाहरण' की चर्चा प्रायः अनुमान के प्रसंग में उपलब्ध होती है। वहाँ सादृश्य के सदृश धर्मवाला होने से उन दोनों के धर्म की चर्चा करना उदाहरण कहा गया है (दे० न्यायसूत्र ११३६)।

काव्यशास्त्र में दर्शन के 'उदाहरण' का पारिभाषिक प्रयोग एक अलंकार के रूप में हुआ है जो पूर्णरूपेण दर्शन से साम्य न रखते हुए भी उन्हीं भावों को व्यक्त करता है (देखिए इसी ग्रन्थ में पृ० १८५)।

उपमान

'उपमान' दर्शन तथा काव्य दोनों में ही पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन की न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त विधाओं में 'उपमान' को एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। दर्शन की अन्य विधाएँ इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द में कर देती हैं। 'उपमान' की परिभाषा के विषय में दार्शनिक एकमत नहीं हैं। मीमांसक सादृश्य के आधार पर प्रकृत से अप्रकृत विषय के ज्ञान को उपमान कहते हैं (देखिए मानमेयोदय, पृ० १०८) तो नैयायिकों के अनुसार अप्रकृत के द्वारा प्रकृत का ज्ञान ही उपमान है (न्यायसूत्र १।१।६)

काव्यशास्त्रियों ने अलंकार के रूप में इसका प्रयोग करते हुए मीमांसकों तथा नैयायिकों के मतों को 'उपमान' अलंकार के दो भेदों के अन्तर्गत दिखाया है (देखिए स० क० भ० ३।५०)।

ऐतिह्य

ऐतिह्य की प्रमाण रूप में चर्चा पौराणिक दार्शनिकों ने की है। मीमांसकों ने एक पृथक् प्रमाण के रूप में इसकी स्वीकृति का प्रबल विरोध किया है (देखिए मानमेयोदय, पृ० १४३)

काव्यशास्त्र में 'ऐतिह्य' का अलंकार रूप में निरूपण हुआ है (दे० कुवलयानन्द, ११७वां अलंकार)। दर्शन तथा काव्य दोनों में ही 'ऐतिह्य' परम्परागत चली आ रही किसी उक्ति को सूचित करता है।

गुण

न्यायदर्शन में 'गुण' की गणना पदार्थों की कोटि में हुई है (दे० कारिकावली, कारिका २)। वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या चौबीस मानी गई है (वै० सू०, १।१।६)। वहाँ गुण सामान्य उस जाति को कहा गया है जो (द्रव्य, गुण, कर्म में अधिष्ठित) सत्ता के द्वारा सीधे ही व्याप्त हो सके, समवायिकारण से समवेत नहीं रहे तथा असमवायि-कारण से भिन्न किसी भी पदार्थ से समवेत हो (देखिए सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४०३)

काव्यशास्त्रियों ने दार्शनिकों के 'गुण' शब्द को ग्रहण कर इसे एक सिद्धान्त के रूप में ही उद्भावित कर दिखाया है। किन्तु यहाँ 'गुण' की परिभाषा दर्शन से भिन्न है। आचार्य मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हुए कहते हैं कि आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान (काव्य के आत्मभूत) प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं वे गुण हैं (देखिए का० प्र० ८।६६)। उनका कहना है कि शूरता आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। किसी विशालकाय पुरुष को देखकर उसको शूर कहना औपचारिक है। इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं। शब्द मधुर है, रचना ओजस्विनी है, इत्यादि प्रयोग तो व्यावहारिक हैं, औपचारिक हैं (देखिए, का० प्र० ८।६६ वर वृत्ति)।

पण्डितराज को गुणों की रसमात्रधर्मता स्वीकृति नहीं है (देखिए, रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ० २०४)। इनका कहना है कि दार्शनिक दृष्टि से भी गुणों की रसधर्मता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस तो आत्मानन्द है। आनन्द आत्मा का गुण न होकर स्वरूप है। आत्मा के निर्गुण होने से, माधुर्यादि को उसका गुण कहना और नित्य धर्म मानना कैसे उपपन्न हो सकता है? (देखिए, रसगङ्गाधर, प्र० आ०, पृ० २०६)। 'गुण' यदि आत्मरूप रस के धर्म न मानकर उसकी उपाधिभूत समाधियों के धर्म कहे जाएँ तो यह भी पण्डितराज को मान्य नहीं। रत्यादि चित्तवृत्तियाँ सुखदुःखात्मक चित्तवृत्तियाँ हैं, इससे भिन्न कुछ नहीं। वे काव्य में सुखरूपा होती हैं। अतः सुख रूप होने से वे स्वयं ही गुण हो जाती है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन उन्हें स्पष्टतः 'गुण-वर्ग' में रखते हैं (दे० वैशेषिक सूत्र १।१।६)। तब माधुर्यादि को स्वयं गुणरूप रत्यादि का गुण कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि गुण स्वयं गुण के धर्म न होकर किसी द्रव्य के धर्म होते हैं (देखिए, तर्कभाषा, केशवमिश्र, चौखम्बा, पृ० १६१)। इसीलिए पण्डितराज माधुर्यादि को रत्यादि का भी गुण स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है (दे० रसगङ्गाधर, (चन्द्रिका), भाग १, पृ० २०७)। वे गुणत्व को एक भिन्न एवं सर्वथा मौलिक चेतना के साथ ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार गुण का स्वरूप है—'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता' (रसगङ्गाधर, पृ० २०७)। पण्डितराज गुण को रसगत ही नहीं, शब्दगत भी, अर्थगत भी और रचनागत भी मानते हैं (रसगङ्गाधर, पृ० २०८)।

जहदजहल्लक्षणा

दार्शनिकों ने लक्षणा का विभाजन इस आधार पर भी किया है कि लक्ष्यार्थ का ज्ञान करते समय शक्य अर्थ को ग्रहण किया है अथवा नहीं। इस आधार पर नैयायिकों ने लक्षणा के तीन भेद जहद् लक्षणा, अजहद् लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा किये हैं (देखिए, वेदान्तपरिभाषा, पृ० २०४)। जहदजहल्लक्षणा में कुछ अंश छोड़ दिया जाता है तथा कुछ बना रहता है (देखिए, वेदान्तपरिभाषा, पृ० २०७)। वेदान्त दर्शन में लक्ष्यलक्षण-भाव सम्बन्ध को भागलक्षणा कहा है जो जहदजहल्लक्षणा का ही दूसरा नाम है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् वाक्य हैं (दे० स्वामी निखिलानन्द, वेदान्त-सार पृ० ६२-६३)।

वृत्तिवार्तिक के रचयिता अप्पयदीक्षित ने नैयायिकों तथा वेदान्तियों के अनुरूप

शुद्धा लक्षणा का जहदजहदस्वार्था नामक भी एक भेद माना है (देखिए, वृत्तिवार्तिक, पृ० १८-१९)। विद्याधर ने एकावली में जहदजहल्लक्षणा की जो परिभाषा दी है वह नैयायिकों की जहदजहल्लक्षणा तथा वेदान्तियों की भागलक्षणा से पर्याप्त साम्य रखती है (दे० एकावली २।८)।

जाति

न्यायदर्शन में जो नित्य होकर अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहे उसे जाति कहा गया है (देखिए न्या० सि० मु०, कारिका ८ की वृत्ति)। मीमांसकों के दोनों सम्प्रदाय कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर अभिधा के द्वारा जाति में संकेतग्रह मानते हैं। उनके मतानुसार पदों से जाति का ही संकेत होता है व्यक्ति अथवा आकृति का नहीं (दे० शक्तिवाद, परिशिष्ट काण्ड, पृ० १७३)।

आलकारिकों ने जाति को उभयरूप में प्रस्तुत किया है। रुद्रट ने अलकार के रूप में इसकी जो परिभाषा दी है वह दर्शन से साम्य रखती है (देखिए, जाति अलकार पृ० १८९-९०) अभिधा के द्वारा 'जाति' में संकेतग्रह मानने वाले मीमांसकों के मत को भी काव्यशास्त्रियों ने निरूपित किया है (दे० का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४८)।

ज्ञान

दर्शन में ज्ञान के विभिन्न प्रयोग लक्षित होते है। शैव-दर्शन में शिव की पाँच शक्तियों के अन्तर्गत इच्छाशक्ति के उपरान्त ज्ञानशक्ति की गणना होती है (दे० परमार्थ-सार, पृ० २-३)। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को ज्ञानरूप माना गया है (दे० तै० उ० २।०)।

काव्यशास्त्र में विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने रस को ज्ञान रूप कहा है (देखिए साहित्यदर्पण ३।२८ की वृत्ति)।

दोष

संस्कृत काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषय 'दोष' का प्रासंगिक निरूपण गौतम के न्यायसूत्रों में दो बार हुआ है। एक तो शब्दप्रमाण के अधिकरण में जहाँ पूर्वपक्षी शब्द-प्रमाण को इसलिए अप्रमाण मानते हैं क्योंकि यह अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों की ओर ले जाता है (दे० न्यायसूत्र २।१।५७)। इनमें से व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों का वर्णन अलंकारशास्त्र के दोष प्रकरण में उपलब्ध होता है। यह व्याघात भामह का व्यर्थ (दे० का० अ० ४।९) तथा दण्डी का पूर्वापरविरोध है (दे० काव्यादर्श ३।१३१) जिसमें एक भाग दूसरे भाग का विरोध करता है। पुनरुक्त दोष सर्वप्रसिद्ध है तथा भामह (का० अ० ४।१२) एवं दण्डिन (दे० काव्यादर्श ३।१३५) के एकार्थ दोष में देखा जा सकता है।

न्यायसूत्रकार गौतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन वहीं आगे चलकर इस बात का निरुपण करते हैं कि कहाँ और कैसे व्याघात और पुनरुक्त दोष नहीं हैं। उनका कहना है कि अनुवाद के लिए पुनरुक्ति भी दोष नहीं है (दे० न्यायसूत्र २।१।६०)। यह दोष का अनित्यत्व है। न्यायसूत्रों तथा उनके भाष्य में इस स्थल पर वैशेषिक गुण अथवा दोषों का

गुणीभाव भी निहित है (देखिए, Dr. V. Raghvan, Bhoja's Śṛṅgāra prakāśa, p. 215)।

न्यायसूत्रों के अन्त में निग्रहस्थान निरुपण स्थल पर अनेक दोषों का निरुपण हुआ है। इनमें से कुछ दोष काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते है। इनमें सबसे पहला दोष अर्थान्तिर है (दे० न्यायसूत्र ५।२।७)। न्याय में यह छठा निग्रहस्थान है। वात्स्यायन ने इस दोष का जो स्पष्टीकरण दिया है (दे० न्यायसूत्र ५।२।७ पर भाष्य) वह भरत के अर्थान्तरदोष के विवरण से साम्य रखता है (दे० ना० शा० १७।८८)। भरत इसे 'अवर्ण्यवर्णन' की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

न्यायसूत्र में अविज्ञातार्थ नामक एक दोष का निरूपण भी हुआ है (दे० न्यायसूत्र ५।२।९)। इसका अर्थ है कि जो वाक्य परिषद अथवा प्रतिवादी को तीन बार बोलने पर भी विज्ञात न हो। इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन का कथन है कि श्लिष्ट शब्द, अप्रतीत प्रयोग इत्यादि अनेक दोषों के कारण अविज्ञातार्थ दोष की उत्पत्ति हुई है (दे० न्यायसूत्र ५।२।९ पर भाष्य)। इनमें 'अप्रतीत' नामक कारण अलंकारशास्त्र में भी उपलब्ध होता है। यह भामह के गूढ़ार्थशब्दाभिधा के समकक्ष है (दे० काव्यालंकार १।४५)। वामन के समय से लेकर अप्रतीत शब्द का अर्थ संकुचित हो गया है (देखिए वी० राघवन कृत शृंगार प्रकाश, पृ० २१५)। आचार्य रुद्रट ने भी 'अप्रतीत' दोष का निरूपण किया है (दे० काव्यालंकार ६।११)।

गौतम न्यायसूत्र में वर्णित अपार्थक नामक नवां निग्रहस्थान काव्य का भी दोष है। अपार्थक निरर्थक से सर्वथा भिन्न है (दे० न्यायसूत्र ५।२।१०)। निरर्थक में वर्ण एवं शब्द स्वयं में कुछ अर्थ नहीं रखते। अपार्थक में सम्पूर्ण वाक्य निरर्थक होता है जबकि इसके विभिन्न शब्द अपने में सार्थक होते हैं। वात्स्यायन 'तत्समुदायार्थस्य अपायात् अपर्थाकम्' (दे० न्यायसूत्र ५।२।१० पर वात्स्यायनभाष्य) कहते हैं तथ 'दश दाडिमानि' और 'षड्पूपाः' को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। न्याय का यह अपार्थ भामह और दण्डी के अपार्थ से साम्य रखता है (देखिए काव्यालंकार ४।८ एवं काव्यादर्श ३।१२८)। ऐसा प्रतीत होता है मानों भामह वात्स्यायन के ही शब्दों में बोल रहे हों। वहाँ भी वात्स्यायन में समान उदाहरण ही प्रस्तुत किए गये हैं।

इन सबके अतिरिक्त 'पुनरुक्त' भी एक ऐसा दोष है जिसका निरूपण काव्य तथा दर्शन दोनों में ही हुआ है। गौतम तथा वात्स्यायन दोनों ही शब्द पौनरुक्त्य एवं अर्थ पौनरुक्त्य पर प्रकाश डालते हैं (देखिए, न्यायसूत्र ५।२।१४ एवं इसी पर वात्स्यायन भाष्य)। वात्स्यायन द्वारा निरूपित अर्थ पौनरुक्त्य मम्मट के अर्थ-दोषों में वर्णित 'अनवीकृत' से साम्य रखता है (दे० का० प्र० (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ३३३)। डॉ० राघवन ने अनवीकृत की परिभाषा दी है (दे० वी० राघवन, शृंगार प्रकाश, पृ० २४४)।

इनके अतिरिक्त भी गौतम दो और दोषों अथवा निग्रहस्थानों का वर्णन करते हैं। वे हैं न्यून एवं अधिक, जो अंगों, प्रतिज्ञा, हेतु इत्यादि की न्यूनता और अधिकता को बताते हैं (दे० न्यायसूत्र ५।२।१२ तथा ५।२।१३ एवं इन्हीं पर वात्स्यायन भाष्य)। इस न्यूनता और अधिकता का निरूपण अलंकारग्रन्थों के दोष-निरूपण अध्याय के अन्तर्गत हुआ है।

उपमालंकार तथा उपमा दोषों के प्रसंग में न्यूनपाद तथा अधिकपाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण स्वरूप मम्मट को लिया जा सकता है (दे० का० प्र०, १०।१४२ की वृत्ति)।

तर्क

न्यायदर्शन में 'तर्क' को पदार्थ मानते हुए इसकी परिभाषा 'अनिष्ट प्रसंग' की है और वह दो व्याप्तियुक्त धर्मों में से व्याप्य के स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक का प्रसवित रूप है (देखिए तर्कभाषा (केशवमिश्र), पृ० २४२)। यह तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक है (वही)। जैन परम्परा में अकलंक ने परोक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में 'तर्क' को भी एक प्रमाण माना है। मीमांसा दर्शन में 'तर्क' के लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग हुआ है (देखिए तर्कभाषा, पृ० २४२) परन्तु न्याय और बौद्ध दोनों परम्पराओं ने तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक ही माना है। मीमांसा की भी यही स्थिति है।

साहित्यशास्त्र में 'तर्क' की गणना व्यभिचारिभावों की कोटि में हुई है। वहाँ सन्देह के कारण जनित विचार को तर्क कहा गया है (दे० द० रू० ४।२०६) जो दर्शन से सर्वथा भिन्न है।

दृष्टान्त

न्यायदर्शन में प्रयोजन के पश्चात् पाँचवाँ पदार्थ 'दृष्टान्त' है। न्यायसूत्र में 'दृष्टान्त' की परिभाषा साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ परीक्षक पुरुषों को एक-सा ज्ञान हो, जिसको दोनों एक रूप में मानते हों, वह अर्थ दृष्टान्त कहा गया है (दे० न्याय-सूत्र, १।१।२५)।

साहित्यशास्त्र में दर्शन के दृष्टान्त को एक अलंकार के रूप में भामह से लेकर जगन्नाथ पर्यन्त सभी प्रमुख आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। रुय्यक ने धर्मी के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो उसे दृष्टान्त अलंकार कहा है (दे० अलंकार-सर्वस्व, पृ० ४५)। दर्शन और काव्य दोनों का दृष्टान्त भिन्न ढंग से कहे जाने पर भी लगभग एक ही बात को व्यक्त करता है। भामह प्रभृति आलंकारिकों ने दृष्टान्त की परिभाषा एवं भेदों की चर्चा करते हुए दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया है (देखिए, भामहकृत काव्यालंकार, ५।२६ एवं ५।२७)।

परिणाम

'परिणाम' की चर्चा प्रायः सभी कोटि के दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से ही। जैनों ने स्याद्वाद् में प्रत्येक पदार्थ को परिणामी माना है। सांख्य के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का अपना एक विशिष्ट धर्म होता है, वह धर्म परिवर्तित होता रहता है, किन्तु इसका नाश कदापि नहीं होता, इसी परिवर्तन को परिणाम कहते हैं (दे० सा० का० ९)। चेतन को छोड़कर परिणामशून्य अन्य कोई भी वस्तु सांख्य-दर्शन में नहीं है। योगदर्शन में सभी

अवस्थाओं में चित्त की क्रियायों के परिवर्तन को परिणाम कहा गया है (दे० यो० सू० ३।१३)।

दर्शन के 'परिणाम' को काव्यशास्त्र में एक अलंकार के रूप में ग्रहण किया गया है (दे० कुवलयानन्द, छठा अलंकार) जो दर्शन से शाब्दिक साम्य रखने के साथ-साथ किंचित् आर्थिक साम्य भी रखता है (देखिए इसी ग्रंथ में परिणाम अलकार पृ० १६१-६२)।

परिसंख्या

'परिसंख्या' मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक शब्द है (दे० पू० मी० ३।७।३३)। इसका अर्थ है अनेक कार्यों में एक की स्वीकृति और अन्यों का निषेध। अर्थात् परिसंख्या विधि के द्वारा एक वस्तु का विधान किया जाता है तथा अन्य संभाव्य वस्तुओं का निषेध।

काव्यशास्त्र में 'परिसंख्या' को अलंकार माना गया है। वहाँ इसकी परिभाषा गुण, क्रिया, जाति रूप वस्तु कहीं तो तुल्य अर्थात् अन्य स्थलों पर भी विद्यमान कही जाती है और कहीं पर उसका अभाव होता है, की गई है (दे० काव्यालंकार (रुद्रट) ७।७६)। यहाँ दर्शन की सूक्ष्मता को छोड़ परिभाषा का अर्थ विस्तार कर दिया गया है।

प्रतिभा

शैवागम में प्रतिभा का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण एवं गहन है। त्रिक् दर्शन में वर्णित ३६ तत्त्वों में मूर्धन्य परम शिव तत्त्व के दो रूपों, शिवरूप तथा शक्तिरूप में शक्तिरूप को चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, स्फुरत्ता तथा प्रतिभा आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। शिव को चेतन बनाने की क्षमता शक्ति में विद्यमान रहती है। 'प्रतिभा' उसी शक्ति की अपर संज्ञा है। दर्शन की अन्य विधाओं ने भी अपने दृष्टिकोण से प्रतिभा तत्त्व की गम्भीर आलोचना की है और इसका प्रभाव अलंकारशास्त्रीय विवेचना पर विशेष रूप से पड़ा है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में कहा है कि शिव की यह परा शक्ति शिव में ही सन्तत विश्राम करती है और अपनी उन्मीलन क्रिया के द्वारा, अपने रूप को प्रकटित करने के द्वारा विश्व का उन्मीलन करती है (देखिए, बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४२४)। परा प्रतिभा का यह स्वरूप 'कवि प्रतिभा' का ही स्वरूप है। प्रतिभा काव्य का कारण है (काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः, लोचन, पृ० ९६)। काव्य के बीज रूप में इसका मार्मिक वर्णन अभिनवगुप्त, राजशेखर, कुन्तक तथा महिमभट्ट ने किया है। प्रतिभा के दार्शनिक अभिधान 'शक्ति' का निरूपण भी रुद्रट प्रभृति काव्यशास्त्रियों ने किया है (दे० का० अलं०, १।१५)। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काव्य की प्रतिभा दर्शन से शाब्दिक एवं आर्थिक दोनों ही रूपों में किंचित् साम्य रखती है।

प्रत्यक्ष

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसकी मान्यता चार्वाक से लेकर वेदान्त पर्यन्त सभी कोटि के दार्शनिकों ने स्वीकार की है। मीमांसा दर्शन में इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न प्रमाण को 'प्रत्यक्ष' कहा गया है (दे० मानमेयोदय, पृ० ८)।

दर्शन की भाँति काव्यशास्त्र में भी 'प्रत्यक्ष' को पारिभाषिक शब्द के रूप में ग्रहण किया गया है। सर्वप्रथम आलंकारिक भामह ने इसे अलंकार रूप में प्रस्तुत किया है (दे० का० अ० ५।६-८)। साहित्यशास्त्र के प्रत्यक्ष निरूपण पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि यह दर्शन से शाब्दिक साम्य तो रखता ही है साथ ही थोड़े-बहुत अन्तर सहित इनमें अर्थ साम्य भी है (विस्तार के लिए देखिए प्रत्यक्ष अलंकार पृ० १९३-९४)।

लक्षणा

दर्शन में नैयायिक तथा मीमांसक शब्द की लक्षणा शक्ति को मानते हैं (दे० न्यायपंचानन (विश्वनाथ) पृ० ३१९ एवं जैमिनीसूत्र, शाबरभाष्य १।४।२३)। मीमांसकों के मतानुसार लक्षणा का मूल है किसी शब्द का अपने मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होना (देखिए यही ग्रन्थ पृ० १४७-१५४)।

काव्यशास्त्र में शब्द की लक्षणा शक्ति को मानने वाले आलंकारिकों की 'लक्षणा' की परिभाषाएँ न्याय एवं मीमांसा दर्शनों से प्रभावित हैं। पण्डितराज शक्य अर्थात् शक्ति या अभिधा से प्रतिपाद्य मुख्यार्थ के साथ होने वाले सम्बन्ध विशेष को लक्षणा कहते हुए न्यायदर्शन की पदावली प्रयुक्त करते हैं (दे० रसगङ्गाधर (चन्द्रिका) द्वि० आ०, पृ० १४९)। रसगङ्गाधर में मीमांसकों द्वारा वर्णित लक्षणा की भी चर्चा उपलब्ध होती है (दे० वही, पृ १४९)। अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुलभट्ट मीमांसक थे अतः उन्होंने मीमांसकों का साग्रह अनुगमन किया है (दे० अभिधावृत्तिमातृका पृ० ३-४)।

लिंग

न्यायदर्शन में व्याप्तिबल से अर्थ के बोधक को लिंग कहा गया है। जैसे धूम अग्नि का लिंग है (दे० तर्कभाषा, पृ० १०६)। वहाँ अनुमान के प्रसंग में लिंग की चर्चा हुई है।

दर्शन के 'लिंग' को कुवलयानन्दकार ने अलंकार के रूप में निरूपित किया है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए अनेक स्थलों पर दार्शनिक अर्थ में ही 'लिंग' शब्द का प्रयोग किया है।

वाक्य

शब्द निरूपण के अन्तर्गत वाक्य की चर्चा दर्शन ग्रन्थों में हुई है। वहाँ आकांक्षा,

योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है (दे० तर्कभाषा, पृ० १४९) तथा उदाहरणों के माध्यम से इसका स्पष्टीकरण भी वहाँ हुआ है।

आलंकारिकों ने भी वाक्य के लक्षण किए हैं। रुद्रट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों के लक्षण दर्शन के 'वाक्य' से पर्याप्त साम्य रखते हैं (देखिए का० अल०, २।७ तथा सा० द०, द्वि० अ०, पृ० २४)।

विशेष

विशेष का विवेचन वैशेषिकों का अपूर्व प्रयास है। इसी के कारण संभवतः दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा है। वहाँ विशेष उसे कहा गया है जो समवाय सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य से रहित हो (देखिए प्रो० उमाशंकर शर्मा ऋषि, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४०७)।

काव्यशास्त्र में अलंकार रूप में 'विशेष' का पारिभाषिक प्रयोग हुआ है। वहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय के वर्णन को 'विशेष' कहा गया है (दे० का० प्र० १०।१३५) काव्यशास्त्र का 'विशेष' दर्शन से केवल शाब्दिक साम्य ही रखता है।

शक्ति

दर्शन ग्रन्थों में 'शक्ति' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। न्यायदर्शन में अभिधा को 'शक्ति' कहा गया है। सांख्य में यह पुरुष की प्रकृति है। वेदान्त में यही शक्ति ब्रह्म की माया है तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव की प्रतिभा है। वैशेषिक दर्शन शक्ति को पदार्थ मानता है (दे० शास्त्रदीपिका १।७।५) तथा मीमांसक सृष्टि के मूल तत्त्वों के बीच शक्ति नामक पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं।

दर्शन के समान काव्यशास्त्र में भी शक्ति के विभिन्न प्रयोग लक्षित होते हैं। साहित्यशास्त्रियों ने शक्ति को भी काव्य का एक कारण माना है (का० प्र० १।३ की वृत्ति)। न्यायदर्शन के समान काव्यशास्त्र में भी अभिधा को शक्ति नाम से अभिहित किया गया है। रुद्रट प्रभृति काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के दार्शनिक अभिधान 'शक्ति' का निरूपण अपने काव्यालंकार में किया है (दे० का० अलं० १।१५)।

शब्द

धर्म की व्याख्या के लिए मीमांसा दर्शन पाँच प्रमाण स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति एवं शब्द। किन्तु इन सब प्रमाणों में मीमांसा दर्शन अपना वास्तविक आधार 'शब्द' को ही बनाता है। इसी कारण इसे शब्द प्रमाणवादी भी कहा जाता है। 'शब्द' से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को शाब्दज्ञान कहते हैं। शब्द का तात्पर्य आप्तवाक्य से है। इसका ही दूसरा नाम आगम भी है। चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक को छोड़कर समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों में इसे पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। गौतम ने शब्द की परिभाषा करते हुए आप्त के उपदेश को शब्द कहा है (देखिए, न्यायसूत्र, १।१।७)।

दर्शन के 'शब्द' प्रमाण को काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में निरूपित किया गया है किन्तु इसे अलंकार मानने वाले एकमात्र आलंकारिक हैं अप्पयदीक्षित (देखिए, कुवलयानन्द, १११वां अलंकार)। इन्होंने शब्दप्रमाणालंकार को श्रुतिरूप माना है जो दर्शन के शब्द प्रमाण से साम्य रखता है। काव्यप्रकाशकार ने व्यञ्जना के प्रसंग में शब्द प्रमाण की चर्चा की है (दे० का० प्र० ३।२३)।

श्रुति

श्रुति आदि छह प्रमाणों पर मीमांसा दर्शन में बहुत बल देते हुए श्रुति, लिंग, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन छहों में एक दूसरे से संघर्ष होने पर पहले वाला प्रबल रहता है और दूसरा दुर्बल होता है (दे० मी० सू० ३।३।१४)। श्रुति से वहाँ अभिप्राय प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले शब्द से भी है। इससे सर्वत्र निर्णय किया जाता है।

साहित्यशास्त्र में कुवलयानन्दकार ने श्रुति को अलंकार मान इसका निरूपण किया है।

सत्त्व

सांख्य दर्शन में प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत 'सत्त्व' की चर्चा सबसे पहले हुई है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में यह बताया गया है कि प्रीति का 'सुख' रूप होने से 'सत्त्व' गुण सुख स्वरूप होता है (दे० सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ६३)।

अलंकारशास्त्र में सत्त्व की चर्चा प्रमुख रूप से रस के प्रसंग में ही हुई है (दे०, सा० द० ३।२)। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज प्रभृति आलंकारिक सात्त्विक भावों के विषय में बताते हुए सत्त्व की परिभाषा भी प्रस्तुत करते हैं (स० क० भ० ५।२०)। काव्य और दर्शन के सत्त्व में इतना अन्तर है कि दर्शन का सत्त्व—रजस् और तमस् गुणों से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं होता जबकि काव्य के 'सत्त्व' में मन रजस् और तमस् से अस्पृष्ट भी होता है।

समाधि

'समाधि' योगदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। योग के तीन आंतरिक अंगों में धारणा और ध्यान के पश्चात् समाधि का नाम आता है। जिसमें ध्यान के विषय का संस्कार मात्र रह जाए और स्वरूप शून्य के समान हो जाए, उसे 'समाधि' कहा गया है (दे०, योगसूत्र ३।३)। व्यासभाष्य में एक स्थल पर 'योग' को 'समाधि' नाम से अभिहित करते हुए समाधि को सब अवस्थाओं में 'चित्त' का एक गुण बताया गया है (दे०, योगसूत्र १।१ पर व्यासभाष्य)।

काव्यशास्त्र के चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में अलंकार के रूप में समाधि का निरूपण किया गया है। चन्द्रालोक में अन्य कारण की उपस्थिति से कार्य में सरलता को समाधि कहा गया है (दे०, चन्द्रालोक ५।६८)। अन्य ग्रन्थकारों की परिभाषाएँ भी इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं। समाधि अलंकार दर्शन की समाधि से केवल शाब्दिक

साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त काव्यहेतु के प्रसंग में 'समाधि' का जो निरूपण काव्य-मीमांसाकार ने किया है (दे०, का० मी०, अध्याय ४, पृ० ११) वह आन्तर प्रयत्न होने से योग की समाधि के सदृश ही है। समाधि का गुण रूप में निरूपण दण्डी ने काव्यादर्श में किया है (दे०, काव्यादर्श १।९३)।

संशय

भारतीय दर्शन ग्रन्थों में ज्ञान के चार भेद माने गए हैं। उनमें संशय भी एक है। योगदर्शन में उभयकोटिक ज्ञान को संशय ज्ञान कहा गया है (दे०, योगदर्शन, समाधिपाद ३० पर व्यासभाष्य) जो एक सार्वभौम तथ्य के रूप में दर्शन की प्रायः सभी विधाओं को मान्य है। इसका आधार सादृश्य होता है।

दर्शन के 'संशय' का काव्यशास्त्र में उभयरूप में प्रयोग हुआ है। अलंकार के रूप में संशय का पारिभाषिक प्रयोग (का० अलं० ८।५९) दर्शन के संशय से साम्य रखता है। विमर्शिनीकार (वि० पृ० ६८) एवं जगन्नाथ (रसगङ्गाधर, द्वि० आ०, पृ० ५६१) प्रभृति आलंकारिकों ने तो दर्शनानुरूप उभयकोटिक ज्ञान को ही 'संशय' कहा है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र में संशय की गणना व्यभिचारीभावों की कोटि में भी हुई है (दे०, द० रू० ४।११)।

सम्भव

दर्शन की सभी प्रमुख विधाओं ने 'सम्भव' का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। मात्र पौराणिक दार्शनिकों ने एक पृथक् प्रमाण के रूप में इसकी सत्ता को स्वीकार किया है। मीमांसा दर्शन में कुमारिल ने इसकी चर्चा की है (दे० मानमेयोदय पृ० १४३)।

दर्शन की भाँति काव्यशास्त्र में भी 'सम्भव' का प्रयोग पारिभाषिक शब्द के रूप में हुआ है। यह पारिभाषिक प्रयोग अलंकार के रूप में ही हुआ है जिसका निरूपण केवल कुवलयानन्दकार ने उदाहरण के माध्यम से किया है (कुवलयानन्द, ११७वां अलंकार)। इस उदाहरण में वर्णित भाव दर्शन के सम्भव प्रमाण से साम्य रखते हैं।

स्मृति

न्यायदर्शन में ज्ञान के अनुभव तथा स्मृति ये दो भेद माने गए हैं। स्मृति का कारण सदा संस्कार का उद्बोध ही होता है अतः संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' कहा गया है (श्री बदरीनाथ शुक्ल, तर्कभाषा, पृ० १८)।

साहित्यशास्त्र में दर्शन की स्मृति का अलंकार रूप में निरूपण दर्शन से अत्यधिक साम्य रखता है (देखिए स्मृति अलंकार पृ० २०१-२)। रसगङ्गाधर में तो नैयायिकों की परिभाषा भी प्रस्तुत की गई है (देखिए चन्द्रिका, रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ० २७४)। व्यभिचारिभाव की कोटि में भी स्मृति का काव्य में निरूपण दर्शन से साम्य रखता है (द० रू० ४।२०)।

सामान्य

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में सामान्य को पदार्थ माना गया है। वहाँ सामान्य उसे कहा गया है जो प्रध्वंस का प्रतियोगी न हो तथा अनेक पदार्थों में समवेत हो (दे० सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४०७)। बौद्ध जाति या सामान्य पदार्थ को नहीं मानते।

काव्यशास्त्र में 'सामान्य' को एक अलंकार माना गया है। चन्द्रालोककार ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि यदि समता के कारण भेद नहीं दिखाई पड़ता हो तो वहाँ 'सामान्य' अलंकार होता है (दे० चन्द्रालोक ५।३४)। अन्य आलंकारिकों ने भी इससे मिलती-जुलती परिभाषाएँ ही प्रस्तुत की हैं जो दर्शन के सामान्य से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों स्थलों पर केवल शाब्दिक साम्य ही दृष्टिगोचर होता है।

हेतु

हेतु की चर्चा वैसे तो प्रायः सभी कोटि के दार्शनिकों ने की है किन्तु न्यायदर्शन में इसका विशेष विवेचन हुआ है (दे० न्यायसूत्र १।१।३४)। वहाँ हेतु का दूसरा नाम लिंग भी प्रयुक्त हुआ है। जब धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है तो इस प्रसंग में धूम हेतु है (दे० तर्कभाषा, चौखम्बा, पृ० ८०)। वहाँ हेतु के दो भेदों कारक हेतु तथा ज्ञापक हेतु की भी चर्चा हुई है।

काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में इसकी मान्यता विवाद का विषय रही है। भामह तो स्पष्ट रूप से हेतु को अलंकार मानने का निषेध करते हैं (दे० काव्यालंकार २।८६)। किन्तु दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित प्रभृति आलंकारिकों ने इसे अलंकार रूप में स्वीकार किया है। दण्डी ने हेतु की परिभाषा न देकर दर्शन के समान इसके दो भेदों की भी चर्चा की है (दे० काव्यादर्श २।२३५) अन्य आलंकारिकों द्वारा प्रस्तुत हेतु दर्शन से केवल शाब्दिक साम्य रखता है।

परिशिष्ट २

काव्यशास्त्र में उपलब्ध दर्शनशास्त्र की कतिपय अभिव्यक्तियाँ

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

—यो० सू० ४।६, ध्व० लो० (बनारस), पृ० १३२

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६, मु० उ० ३।१, का० मी० (गायकवाड़), पृ० ३

'श्रुतिलिङ्गादि प्रमाणषटकस्य पारदौर्बल्यम्'

—मी० सू० ३।३।१४, ध्वन्यालोक-लोचन (चौखम्बा), पृ० ६५

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

—यो० सू० २।४२, ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ४३१

'यमर्थमधिकृत्य प्रवतते तत्प्रयोजनम्'

—न्या० सू० १।१।२४, अभि० भा०, भा० १, पृ० ३

'गीतिषु सामाख्या' —न्या० सू० २।१।३६, अभि० भा०, भा० १, पृ० १५

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥'

—प्रमाणवार्तिक २।५७, पृ० ७४, अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३,
व्य० वि० १।२०, काव्यानुशासन, २।१,

'व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति।'

—प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति) स्वार्थानुमान परिच्छेद,
अभि० भा०, भाग १, अध्याय ६

'सर्वा चेयम् प्रमितिः प्रत्यक्षपरा'

—न्या० सू० वात्स्यायन भाष्य १।१।३, अभि० भा०, भाग १, पृ० २८१

'न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः।'

—यो० सू०, व्यासभाष्य २।४, अभि० भा०, भाग १, पृ० २८३

'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा' —यो० सू० २।४०, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३७

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' —यो० सू० २।३३, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३१

'वैराग्यात् प्रकृतिलयः' —सां० का० ४५, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३४

'वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा'

—यो० सू०, व्यासभाष्य १।१६, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३४

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'

—यो० सू० १।१६, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३४

'(तस्य) प्रशान्तवाहिता सस्कारात्'

—यो० सू० ३।१०, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३७
काव्यानुशासन २।१०, पृ० १२३

'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः'

—यो० सू० ४।२६, अभि० भा०, भाग १, पृ० ३३६,
काव्यानुशासन २।१७, पृ० १२३

'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति'

—प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमान परिच्छेद, पृ० ४६८,
रेवाप्रसाद द्विवेदी, व्य० वि०, पृ० ६७

नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थमर्थंवा पारमार्थिकम्।
शब्दानां प्रतिरुन्धानोऽबाधनार्हो हि वार्णितः॥

—प्रमाणवार्तिक का० ४।१२९, व्य० वि०, रुय्यक टीका, पृ० ३३९

'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्'

—मी० सू० ३।१।२२, का० प्र०, अध्याय ७, पृ० ३१२

'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'

—तै० उ० २।७, र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्र० आ०, पृ० ६१

'ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः'

—क० उप० ४।१३, र० ग० ध० (चन्द्रिका), प्र० आ०, पृ० ३५५

'शब्दादेव प्रमितः'—ब्रह्मसूत्र १।३।२४, र० ग० ध० (चन्द्रिका), द्वि० आ०, पृ० ३५

परिशिष्ट ३

(ख) दर्शनशास्त्र के भावों को अभिव्यक्त करने वाली काव्यशास्त्र की कतिपय अभिव्यक्तियाँ

सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते ।
असाधारणसामान्यविषयत्वं तयोः किल ।। —का० अ० ५।५

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमान च केचन ।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरं विदुः ।। —का० अ० ५।११

स्वसिद्धान्तविरोधित्वाद्विज्ञेया तद्विरोधिनी ।
कणभक्षो यथा शब्दमाचक्षीता विनश्वरम् ।। —का० अ० ५।१७

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारनविश्वरान् । —काव्यादर्श ३।१७४

कपिलैरसदुद्भूतिः स्थान एवोपवर्ण्यते ।
असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवाः ।। —काव्यादर्श ३।१७५

निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्त्रेण विवेक्त्री मीमांसा ।
सा च द्विविधा विधिविवेचनी ब्रह्मनिदर्शनी च ।

—का० मी०, (गायकवाड़ ओरिएन्ट सीरिज), अध्याय २, पृ० ३

द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम् । अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः । साङ्ख्यं न्यायवैशेषिकौ चोत्तरः । त इमे षट् तर्काः । तत्र च तिस्त्रः कथा भवन्ति वादो, जल्पो, वितण्डा च । मध्यस्थयोस्तत्त्वाववोधाय वस्तुतत्त्वपरामर्शो वादः । विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्रहादिपरिग्रहो जल्पः । स्वपक्षस्यापरिग्रहित्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा । —का० मी०, पृ० ४

द्विविधः प्रामाणिको मीमांसकस्तार्किकश्च । तत्र प्रथमः । शब्दस्य सामान्यमभिधेयं विशेषश्चार्थः । —का० मी०, अध्याय ८, पृ० ३६

तर्केषु साङ्ख्यीयः

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदृष्टिभिः ।।"

—का० मी०, अध्याय ८, पृ० ३७

न्यायवैशेषिकीयः—स किंसामग्रीक ईश्वरः कर्त्ता ? इति पूर्वपक्षः । निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्तृत्वमिति सिद्धान्तः । —का० मी०, अध्याय ८, पृ० ३७

बौद्धीयः—विवक्षापूर्वा हि शब्दास्तामेव विवक्षां सूचयेयुः ।

—का० मी०, अध्याय ८, ३७

लौकायतिकः—भूतेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवत् । —का० मी०, अध्याय ८, ३७

आर्हतः—शरीरपरिमाण आत्मा । अन्यथा शरीराफल्यमात्माफल्यं वा ।

—का० मी०, अध्याय ८, पृ० ३७

"यथा तथा वाऽस्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता । तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति । मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इयि पाल्यकीर्तिः ।

—का० मी०, अध्याय ८, पृ० ३७

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवितां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ।। —व० जी०, अ० १, पृ० ६३

ननु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः । अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः । न च रसस्य वाच्यत्वं त्वयैव सोढ़मित्याशङ्कमानः परिहरति-न चेति । प्रधानाप्रधानत्वमात्रकृतौ विध्यनुवादौ, तौ च व्यङ्‌गयतायामपि भवत एवेति भावः ।

—ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ४०८-४०६

यथाहुः—'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिक-प्रसङ्‌गेने' ति । —ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ४३०

……तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं सम्बन्धमिच्छति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः ।

—ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ४७८

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यभावाख्यानि जैमिनेः प्रमाणानि षट् ।

—स० क० भ०, ३।३ की वृत्ति

ऊहो वितर्कः संदेहनिर्णयान्तरधिष्ठितः ।
द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कीर्त्यते ।। —स० क० भ० ३।३६

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् । —क० प्र०, सूत्र २६

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्‌बोधकं परे ।। —सा० द० २।२०

तथाहि—अनुमान नाम पक्ष सत्त्व सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्‌गा-ल्लिङ्‌गिनो ज्ञानम् । ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते । अन्यथातिप्रसङ्‌गः स्यात्, इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः कश्चित्सम्बन्धोऽस्त्येव । ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्‌गम्, बोध्यश्च लिङ्‌गी । बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्व निबद्धमेव । सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये । तस्मादत्र यद्वाच्यार्थलिगिरूपा-ल्लिङ्‌गिनो व्यङ्‌गयार्थस्यावगमस्तदनुमान एव पर्यवस्यति ।

—सा० द० (विमला व्याख्या), पृ० १६५

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत ग्रन्थ

अग्नि पुराण—व्यास, विद्यासागर, कलकत्ता, सन् १८८२।

अर्थसंग्रह—लौगाक्षीभास्कर, रामेश्वरभिक्षु की टीका सहित, पूना, ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, १९३२।

अभिधावृत्तिमातृका—मुकुलभट्ट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६।

अलंकार महोदधि—नरेन्द्र प्रभसूरि, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९४२।

अलंकार रत्नाकर—शोभाकर मित्र, सम्पादक सी० आर० देवधर, पूना ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, १९४२।

अलंकार शेखर—केशव मिश्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६।

अलंकार संग्रह—अमृतानन्द योगी, आडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४९।

अलंकार सर्वस्व—रुय्यक (१) जयरथकृत टीका सहित, १९३९।
(२) समुद्रबन्ध व्याख्या, त्रिवेन्द्रम, संस्कृत ग्रन्थावलि, १९३९

अष्टाध्यायी—पाणिनि, खेमराज श्री कृष्णदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९५४।

आत्मबोधप्रकरण—आचार्य शंकर, सम्पादक श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, कलकत्ता संस्कृत महाविद्यालय गवेषणा ग्रन्थमाला, १९६१।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—अभिनवगुप्त, भाग २, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४१।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी—अभिनवगुप्त, भाग ३, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४३।

उज्जवलनीलमणि—रूपगोस्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

उपनिषत्संग्रह—मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९७०।

एकावली—विद्याधर, बम्बई संस्कृत सीरिज, पूना, १९०३।

ऋग्वेद संहिता, भाग २, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३६

कामसूत्र—वात्स्यायन, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

काव्यदर्पण—रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, १९६०।

काव्यप्रकाश—मम्मट, (१) व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०।

(२) व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी, १९६०।
(३) 'नागेश्वरी' टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९५१।
(४) 'प्रदीप' टीका, गोविन्द ठक्कुर, काव्यमाला २४, १९१२
(५) बालबोधिनी, झलकीकर वामन, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५०।

काव्यादर्श—पण्डित रङ्गाचार्य शास्त्री विरचित 'प्रभा' व्याख्या सहित, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३८।

काव्यमीमांसा—राजशेखर, (१) 'प्रकाश' हिन्दी 'व्याख्या' सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६४।
(२) गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज-१, १९३४।

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।

काव्यालंकार—भामह, काशी संस्कृत सीरिज़, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९२८।

काव्यालंकार—रुद्रट, हिन्दी व्याख्याकार डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६५।

काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट, (१) इन्दुराज की 'लघुवृत्ति' टीका सहित, व्याख्याकार डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६।
(२) इन्दुराज की 'लघुवृत्ति' टीका सहित, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२५।

कारिकावली—विश्वनाथ पंचानन, भट्टाचार्य प्रणीत 'सिद्धान्त मुक्तावली' सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी, १९२३।

कुवलयानन्द—अप्पयदीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३७।

चन्द्रालोक—जयदेव, टीकाकार सुबोधचन्द्र पन्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६।

चरक संहिता—व्याख्याकार श्री जयदेव विद्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास, १९७५।

चित्र मीमांसा—अप्पयदीक्षित, धरानन्द विरचित 'सुधा' व्याख्या सहित, वाणी विहार, वाराणसी-१, १९६५।

तर्कभाषा—केशव मिश्र, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६३।

तत्त्वत्रय—लोकाचार्य स्वामी की टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९३८।

तत्त्वबिन्दु—वाचस्पति मिश्र, मैसूर, १९०८।

तन्त्रसार—अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

तन्त्रालोक—अभिनवगुप्त (१) राजानक जयरथ की टीका सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, भाग ८, श्रीनगर, १९२६।
(२) भाग ११, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर, १९३६।

तत्त्वसंग्रह—शान्तरक्षित, प्रथम भाग, बौद्ध भारतीय ग्रन्थमाला प्रकाशन-१, वाराणसी, १९६८।

त्रिवेणिका—आशाधर भट्ट, सम्पादक गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन टैक्टस, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९२५।

दशरूपक—धनञ्जय, धनिक कृत 'अवलोक' टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, वाराणसी, १९६७।

ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन (१) व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६२।
(२) अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका सहित, हिन्दी व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, १९६५।
(३) अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' श्री मदुत्तुङ्गोदयकृत 'कौमुदी' तथा कुप्पुस्वामी शास्त्री कृत 'उपलोचन' सहित प्रथम उद्योत, श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास १९४४।

नाट्यशास्त्र—भरतमुनि (१) व्याख्याकार मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थालय प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता, १९६७।
(२) सम्पादक आचार्य बटुकनाथ शर्मा तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९२९
(३) अभिनवगुप्त कृत 'अभिनवभारती' टीका सहित, भाग १, गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज़, बड़ौदा, १९५६।
(४) अभिनवभारती, भाग २, गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज़, बड़ौदा, १९३४।

नारदभक्तिसूत्र—नारद, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई, सम्वत् २०२२।

न्यायप्रदीप—खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०७।

न्यायमंजरी—जयन्तभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९३६।

न्यायरत्नमाला—पार्थसारथि मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९००।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—वाचस्पति मिश्र, प्रथम अध्याय का प्रथम भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९२५।

न्यायसूत्र—गौतम, वात्स्यायनभाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२।

टुप्टीका—कुमारिल भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९०४।

परमलघुमञ्जूषा—नागेश भट्ट, महाराज सयाजिराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, १९६१।

परमार्थसार—अभिनवगुप्त, द काश्मीर सीरिज़ आफ टैक्टस एण्ड स्टडीज, श्रीनगर, १९७३।

परात्रिंशिका—अभिनवगुप्त कृत विवृति सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८।

प्रकरणपञ्चिका—शालिकनाथ मिश्र, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९०४।

प्रतापरुद्रीय—विद्यानाथ, कुमार स्वामी विरचित 'रत्नापणा' व्याख्या सहित, सम्पादक डॉ० वी० राघवन, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९७०।

प्रत्यभिज्ञाहृदय—क्षेमेन्द्र (१) काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, श्री जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित, तृतीय खण्ड, १९११।
(२) हिन्दी अनुवाद विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६९।

प्रमाणवार्तिक—धर्मकीर्ति, सम्पादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय ग्रन्थमाला प्रकाशन-३, वाराणसी, १९६८।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—(१) भामती, कल्पतरु तथा परिमल टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१७।
(२) भाषानुवाद सत्यानन्दी दीपिका सहित, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, वि० सं० २०२२।

भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२०।

भक्तिरसामृतसिन्धु—रूपगोस्वामी, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६३।

भाट्टचिन्तामणि—गागाभट्ट, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थसीरिज, १९३३।

भावप्रकाशन—शारदातनय, गायकवाड़ आरिएन्टल सीरिज़, बड़ौदा, १९३०।

भास्करी—(१) अभिनवगुप्त द्वारा विरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की टीका, भाग १, २ सम्पादक के० ए० सुब्रमण्यम अय्यर तथा डॉ० के० सी० पाण्डेय, वाराणस्ये संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९३८।

मानमेयोदय—नारायण, थ्यूसाफिकल पब्लिशिंग हाऊस, आडयार, मद्रास, १९३३।

मीमांसादर्शन—जैमिनी (१) शाबरभाष्यसहित, भाग १, आनन्दाश्रम, पूना, १९२९।

(२) सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्य, भाग २, १९३० ।
(३) सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्य, भाग ३, १९३१ ।
(४) टुप्टीकासहितशाबरभाष्यसहित, भाग ४, १९३२ ।
(५) टुप्टीकासहितशाबरभाष्यसहित, भाग ५, १९३३ ।
(६) टुप्टीकासहितशाबरभाष्यसहित, भाग ६, १९३४ ।

योगसूत्र—पातञ्जल, भोजदेवविरचित 'राजमार्तण्ड' वृत्ति सहित, आनन्दाश्रम, पूना, १९३२ ।

रसगङ्गाधर—(१) पण्डितराज जगन्नाथ, 'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५ ।
(२) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ।

रसचन्द्रिका—श्री विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९२६ ।

रसप्रदीप—प्रभाकरभट्ट, सरस्वतीभवन, टैक्टस नं० १२, गवर्नमैण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९२५ ।
वक्रोक्तिजीवित, कुन्तक, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, ग्रन्थमाला, दिल्ली, १९५५ ।

वक्रोक्तिजीवित—कुन्तल, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी अनुसंधान परिषद ग्रन्थमाला, दिल्ली, १९५५ ।

वाक्यपदीय—भर्तृहरि, (१) भाग १ तथा २, हेलाराज की टीका सहित, व्याख्याकार के० राघवन पिल्ले, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ ।
(२) द्वितीय भाग (वाक्यकाण्ड), श्री रघुनाथ विरचित व्याख्या सहित, सरस्वती ग्रन्थमाला-९१, शक् सम्वत् १८९० ।
(३) पुण्यराज की टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १८८७ ई० ।

विवेकचूड़ामणि—शंकराचार्य, थ्यूसोफिकल पब्लिशिंग हाऊस, आडयार, मद्रास, १९३२ ।

वेदान्तसार—सदानन्द, (१) एम० हिरयन्ना की व्याख्या सहित, पूना ओरियन्टल सीरिज़, पूना, १९६२ ।
(२) 'भावबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९६८ ।

वृत्तिदीपिका—मौनि श्री कृष्णभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस ।

वृत्तिवार्तिक—अप्पयदीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४० ।

वैयाकरणभूषण—कौंडभट्ट, 'काशिका' टीका सहित, बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत सीरीज़, पूना, १९१५।

वैशेषिकसूत्र—कणाद, दि सेक्रेड बुक्स आफ द हिन्दुज, भाग ६, अनुवादक नन्दलाल सिन्हा, इलाहाबाद, १९२३।

व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट, (१) चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, केवलमूल, १९३६।

(२) पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी भाष्य सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९६४।

व्याकरणमहाभाष्य—पतंजलि (प्रदीपोद्योत सहित), खण्ड १ तथा २, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।

व्युत्पत्तिवाद—गदाधर भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

शक्तिवाद—श्री गदाधर भट्टाचार्य, (हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला नं० ७७) चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी १९२९।

शब्दव्यापारविचार—मम्मट, तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६।

शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीश भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस।

मीमांसादर्शन—श्लोकवार्तिक एवं तन्त्रवार्तिक—कुमारिलभट्ट, आनन्दाश्रम, पूना, १९३१।

शास्त्रदीपिका—पार्थसारथिमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९१६।

शिवदृष्टि—सोमानन्दनाथ, उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३४।

शिवाद्वैतनिर्णय—अप्पयदीक्षित, सम्पादक एस० एस० सुब्रमण्यम शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९२९।

षड्दर्शनसमुच्चय—हरिभद्रसूरि, अहमदाबाद (राजनगर), वि० सं० २००६।

सरस्वतीकण्ठाभरण—भोज, रत्नेश्वरविरचित रत्नदर्पण टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।

सर्वदर्शनसंग्रह—(१) सायणमाधव, गवर्नमैण्ट ओरिएन्टल सीरिज नं० १, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च, पूना, १९५१।

(२) माधवाचार्य, हिन्दी व्याख्या–उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९६४।

सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण, हिन्दी अनुवाद, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६९।

सांख्यतत्त्वकौमुदी—वाचस्पति मिश्र, हिन्दी व्याख्याकार डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग, १९५६।

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, 'विमला' हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७०।

साहित्यमीमांसा—त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज, त्रिवेन्द्रम, १९३४।

(ख) अंग्रेजी ग्रन्थ

Bhattacharya Krishnachandra—Studies in philosophy, Edited by Gopinath Bhattacharya—Progressive publishers, Calcutta-12, 1956.

Bhattacharya, Sivaprasad—Studies in Indian Poetics, Indian Studies Past and present, 1964.

Chakrabarti, Tarapada—Indian Aesthetics and Science of Language, Sanskrit Pustak Bhandar, 1971.

DasGupta, Surendranath—(i) Philosophical Essays, University of Calcutta, 1941

(ii) A History of Sanskrit Literature, Vol. I, University of Calcutta, 1962.

De, S. K.—(i) History of Sanskrit Poetics, Firma K. L, Mukhopadhyay Calcutta, 1960.

(ii) Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics, 1929.

(iii) Some Problems of Sanskrit Poetics, Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1956.

Dwivedi, R. C.—(Editor), Principles of Literary Criticism in Sanskrit, Motilal Banarsidas, 1969.

Gnoli, Raniero—The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Chowkhamba Sanskrit Studies, Vol. LXIII, 1968.

Gupta, D.K.—A Critical Study of Dandin and His Works, Meharchand Lachhmandas, Delhi, 1970.

Hiriyanna, M—Art Experience, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1954.

Kane, P. V.—History of Sanskrit Poetics, Motilal Banarsidass, 1961.

Krishnamachari, M.—History of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarsidass, Delhi, 1970.

Krishnamoorthy, K.—Dhvanyāloka and its Critics, Kavyalaya Publishers; Mysore, 1968.

Kunjunni Raja, K.—Indian Theories of Meaning. The Adyar Library, Madras, 1969.

Lahiri, P. C.—Concept of Riṭi And Guṇa in Sanskrit Poetics, The University of Dacca, 1937.

Marulasiddaiah, G.—Sabdavrittis (Powers of words), printed by the Superintendent, Government Text Book Press, Mysore, 1966.

Masson, J. L., M. V Patwardhan, (i) Aesthetic Rapture (The Rasādhyaya of the Nātyaśāstra), Voi. I and II, Deccan College, Post-Graduate and Research Institute, Poona, 1970.

(ii) Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosolppy of Aesthetics, Bhandarkar Oriental Series, Poona, 1969.

Mukherji, Rama Ranjan—(i) Literary Criticism in Ancient India, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1966.
(ii) Imagery in Poetry—An Indian approach, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1972.
Pandey, K. C.—(i) Abhinavagupta : An Historical and Philnsophical Study, The Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1935.
(ii) Comparative Aesthetic, Vol. I, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1959.
Pandey, R, C.—The Problem of Meaning in Indian Philosophy, Motilal Banārsīdāss, 1963.
Raghavan, V —Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa, Punarvasu, Sri Krishnapuram Street, Madras, 1963.
(ii) Studies on Some Concepts of the Alaṅkāra Śāstra, The Adyar Libray, Adyar, Madras, 1942.
(iii) Number of Rasas, The Adyar Library and Research Centre, Madras, 1967.
Śankaran—Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit, Madras University Law Journal Office, 1935.
Sen, R. K.—Aesthetie Enjoyment : Its Background in philosophy And Medicine, University of Calcutta, 1966.
Shastri, Panchganesh—The Philosophy of Aesthetic pleasure
Shastri, S. Kuppuswami—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit, The Kuppuswami Śastri Research Institute, 1945.
Tripathi, R. S.—History of Ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi, 1960.

(ग) हिन्दी ग्रन्थ

उपाध्याय, बलदेव—(१) भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१।
(२) भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रसाद परिषद्, काशी, २००७ सम्वत्।
काणे, पी० वी०—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६।
गुप्त, प्रेमस्वरूप—रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६२।
गैरोला वाचस्पति—भारतीय दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६।
चतुर्वेदी, बी० एम०—महिमभट्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६८।

चौधरी नरेन्द्रनाथ—काव्यतत्त्वसमीक्षा (Philosophy of Poetry) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९५९।

चौधरी सत्यदेव—काव्यशास्त्रीय निबन्ध, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६३।

त्रिपाठी जयशंकर—आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८।

त्रिपाठी राममूर्ति—(१) औचित्यविमर्श, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०२१।

(२) रसविमर्श, विद्यामन्दिर, ब्रह्मनाल, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५।

(३) लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सम्वत् २०२३।

(४) व्यंजना और नवीन कविता, शास्त्र विज्ञान ग्रंथमाला-२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४।

थामस, एफ० डब्ल्यू द्वारा सम्पादित, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, एशिऐटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १९१२।

दीक्षित, आनन्दप्रकाश—रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६०।

द्विवेदी, कपिलदेव—अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५१।

द्विवेदी, रामचन्द्र—अलंकार-मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९६५।

नगेन्द्र—(१) रससिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६४।

(२) रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पंचम संस्करण, १९६४।

नागर, रविशंकर—व्यंजनाविमर्श:, दिल्ली विश्वविद्यालय।

पाठक, सर्वानन्द—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, विद्याभवन, राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला-७६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५।

पाण्डेय, कान्तिचन्द्र—स्वतन्त्र कलाशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी, १९६७।

फतेहसिंह—भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६७।

बार्रालंगे, सुरेन्द्र—सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, अनुवादक डॉ० मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६३।

बाली, तारकनाथ—रससिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, विनोद पुस्तक मन्दिर, १९६४।

मिश्र, उमेश—भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, संख्या-१०, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, १९७० ।

मिश्र, जयन्त—काव्यात्ममीमांसा, विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला-७२, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ।

मिश्र, रामदहिन—काव्यदर्पण, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, १९६० ।

राधाकृष्णन—भारतीयदर्शन, भाग १ तथा २, अनुवादक श्री किशोर गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९६९ ।

वर्मा, सत्यकाम—भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली, १९६८ ।

व्यास, भोलाशंकर—ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, सूर्यकुमारी पुस्तक-माला-२६, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् २०१३ ।

शर्मा, ओमप्रकाश—रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, हिन्दी साहित्य संसार, १९६५ ।

शास्त्री, जानकीवल्लभ—साहित्यदर्शन, कला निकेतन, पटना-४, १९५७ ।

शास्त्री, मूलचन्द—संस्कृत काव्यशास्त्रे बौद्धाचार्याणां योगः, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९७१ ।

शिवनाथ—अर्थतत्त्व की भूमिका, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, सं० २०१८ विक्रमी ।

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

Indological Studies, Journal of The Department of Sanskrit, University of Delhi, Vol. II, No, 2, January, 1974.

Journal of Bombay Branch Royal Asiatic Society, No. XLIII, Vol. 16.

Journal of Bombay Royal Asiatic Society, Vol. 18.

Journal of Royal Asiatic Society, Part 22, 1956.

श्री चारुदेवशास्त्र्यभिनन्दनग्रन्थः, १९७३ ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पूर्णानन्द स्मृति अंक, वर्ष ७३, सम्वत् २०२५ ।

नामपदानुक्रमणी

